RNI/MPHIN/2013/61414

ISSN 2278-0327
Peer Reviewed
Refereed Journal

UGC Care Listed

ज्योतिर्वेद - प्रस्थानम्

संस्कृत वाङ्मय की शोधपत्रिका - संस्कृत छात्रों की मार्गदर्शिका

दशम वर्ष, तृतीय अंक

जुलाई-अगस्त 2021

Bharatiya Jyotisham
पर्येति भावयन् लोकान्
भारतीय ज्योतिषम्

GORAVA

₹ 30

दो गज की दूरी - मास्क है जरूरी

ISSN 2278 - 0327

विषय-सूची

क्र.	लेख विषय	लेखक	पृ.सं.
1.	महाकवि कालिदास के काव्यों में मनोविज्ञान के विविध आयाम	डॉ. अक्षय कुमार मिश्र	05
2.	रोगविचार की प्रविधियाँ – ज्योतिषशास्त्र के सन्दर्भ में	डॉ. नीरज कुमार जोशी	09
3.	ज्योतिषशास्त्र एवं रक्तचाप रोग	डॉ. प्रभाकर पुरोहित	13
4.	शुक्लयजुर्वेदीय दयानन्द-भाष्य में शिल्पकला	डॉ. रंजन लता	16
5.	वैदिक वाङ्मय में ज्योतिषशास्त्र	डॉ. सुमन कुमारी	19
6.	वास्तुशास्त्र : एक परिचय	डॉ. विजय कुमार	24
7.	महर्षि वाल्मीकि के श्रीराम	डॉ. जी.एल. पाटीदार चन्द्रेश चौहान	26
8.	प्रमुख उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्त : एक अनुशीलन	डॉ. राजकिशोर आर्य	31
9.	महावाक्यार्थ विमर्श (बह्मसूत्रभाष्यों के आलोक में)	डॉ. घनश्याम मिश्र	35
10.	आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत 'परमार्थसार' में सृष्टि-प्रक्रिया विमर्श	डॉ. प्रदीप	40
11.	सांख्य दर्शन की प्राचीनता	डॉ. कृष्ण मुरारी मणि त्रिपाठी	45
12.	सम्प्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया और अनुप्रयोग	डॉ. कुलदीप सिंह	50
13.	सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह	डॉ. रविन्द्र सिंह राठौड़ प्रो. अनिल धर	53
14.	भारत बोध की सम्यक दृष्टि	डॉ. वरुण कुमार उपाध्याय	56
15.	राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में शिक्षक शिक्षा का दिग्दर्शन	डॉ. योगेन्द्र बाबू डॉ. हरीश पाण्डेय	61
16.	भक्तिकालीन काव्य : आज के संदर्भ में	डॉ. हेमवती शर्मा	67
17.	ओडिशा में वसन्तोत्सव	डॉ. सोमनाथ दाश	70
18.	अपभ्रंश की उत्पत्ति और रस सिद्धान्त की संस्कृत परम्परा	डॉ. अनीता	75
19.	आज के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शिक्षा का महत्त्व	डॉ. हृशीकेश दलाई	78
20.	महाभारत में संगीत-विद्या के तत्त्वों की गवेषणा	डॉ. रश्मि यादव	82
21.	शान्तामङ्गल नाटक में स्त्री पात्र	डॉ. मनोज कुमार	86
22.	छायावाद और महादेवी वर्मा की कविताएँ	डॉ. आशा	89
23.	पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित विभूतियों की उपादेयता	श्रीमती रेणु	93
24.	जम्मू-कश्मीर विवाद एवं अंत	डॉ. अर्चना चौहान	100
25.	पार्वती का जीवन : एक दर्शन	डॉ. प्रवीण बाला	105

ISSN 2278 - 0327

26.	संस्कृत वाङ्मय में कलात्मक अभिव्यक्ति	डॉ. सुमन रानी	112
27.	सहगामी अधिगम के प्रति शिक्षकों का दृष्टिकोण	निर्मला प्रो. सीमा धवन	114
28.	कबीर का आध्यात्मिक दृष्टिकोण	सन्दीप कुमार	120
29.	वेद का स्वरूप एवं वैदिक वाङ्मय का शास्त्रीय अध्ययन	सुनील कुमार पाण्डेय	122
30.	आत्मप्रबन्धन का अर्थ और श्रीमद्भगवद्गीता	सोमवीर	126
31.	एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्रों की अर्थातिदेशता	राहुल आर्य	129
32.	कापालिक का चित्रण - मत्तविलास प्रहसन और मत्तविलासम् कुटियाट्टम पर आधारित एक अध्ययन	श्रीनिवासन पीके डॉ. एस. लक्ष्मी कुमार	131
33.	ऋग्वेद में सरस्वती नदी का माहात्म्य : एक दार्शनिक विवेचन	अंग्रेज, प्रो. विभा अग्रवाल	135
34.	जय प्रकाश नारायण का समाजवादी चिन्तन : एक अध्ययन	अनिता कंवर	139
35.	तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में प्रतिपादित- माता, पिता, अतिथि एवं आचार्य में देवत्व की अवधारणा	गोविन्द सरकार	142
36.	वीरवर्धमानचरितम् में वर्णित धर्म	ज्योति ठाकुर डॉ. दीप लता	146
37.	महारास	कुसुम लता यादव	149
38.	सुबन्धु कालीन सामाजिक स्थिति	प्रीति भेलकर डॉ. अच्छेलाल	151
39.	विद्यार्थियों के व्यक्तित्व निर्माण में प्राणायाम की भूमिका	सुनील कुमार शर्मा	155
40.	नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान का अध्ययन	हिमांशु छाबड़ा	158
41.	वेदों के अनुशीलन में शिक्षा वेदाङ्ग की उपादेयता	कुमुद कुमार पाण्डेय	162
42.	'णंदिणंद सुत्तं' के आधार पर सज्जन का कृत्याकृत्य विवेचन	सचिन कुमार जैन	166
43.	भारत में पंचायतीराज व्यवस्था का उद्भव एवं विकास : एक अध्ययन	मोनिका भाटी	172
44.	हरिशंकर 'आदेश' के काव्य में राष्ट्र-प्रेम	ओमवीर	175
45.	शंकर शेष के मूर्तिकार नाटक का परिचयात्मक मूल्यांकन	नीलम कुमारी	178
46.	आचार्य श्रीराधावल्लभत्रिपाठी कृत नाटकों में स्त्रीचेतना	रिंकू कुमार जैन डॉ. मोहिनी अरोरा	183
47.	काशीनाथ सिंह का कथा-साहित्य : आर्थिक यथार्थ	राखी, डॉ. कृष्णा जून	186
48.	गोस्वामी तुलसीदास और उनका युग	लक्ष्मी राठौड़	190
49.	चरकसंहिता में वर्णित हेतुसूत्र का स्वरूप	प्रियंका	193

ISSN 2278 - 0327

RNI/MPHIN/2013/61414
UGC Care Listed

Bi - Monthly
Peer Reviewed
Refereed Journal

Bharatiya Jyotisham
पर्येति भावयन् लोकान्

ज्योतिर्वेद-प्रस्थानम्

संस्कृत वाङ्मय की शोधपत्रिका-संस्कृत छात्रों की मार्गदर्शिका

प्रधान सम्पादक

प्रो. पी.वी.बी. सुब्रह्मण्यम्

कार्यकारी सम्पादक

अविनाश उपाध्याय

सम्पादक

डॉ. रोहित पचौरी

डॉ. रविन्द्र प्रसाद उनियाल

ज्ञान सहयोग

पिडपर्ति पूर्णय्या विज्ञान ट्रष्ट चैन्नै

Jyotirveda-Prasthanam is printed & published by
Smt P V N B Srilakshmi
on behalf of
Bharatiya jyotisham
L-108, Sant Asharam Nagar Phase - 3, Laharpur, Bhopal - 462043
Editor - DR. ROHIT PACHORI*

ISSN 2278 - 0327

पुनरीक्षण समिति

प्रो. विद्यानन्द झा
पूर्वप्राचार्य-केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
भोपाल परिसर, भोपाल

प्रो. क्षेत्रवासी पण्डा
अध्यक्ष-तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. भारतभूषण मिश्र
निदेशक- केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
क.जे.सौमेया विद्यापीठ, मुम्बई

प्रो. हंसधर झा
अध्यक्ष - ज्योतिषविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

प्रो. सनन्दन कुमार त्रिपाठी
अध्यक्ष - साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

डॉ. अशोक थपलियाल
अध्यक्ष - वास्तुविभाग
श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रकाशक

भारतीय ज्योतिषम्

एल - 108, **संत आशाराम नगर,**
फेज - 3, **लहारपुर,**
भोपाल - 462043, **मध्यप्रदेश**
Web : www.bharatiyajyotisham.com
E.mail : bharatiyajyotisham@gmail.com
Mob : 9752529724, 9039804102

सम्पादकीय

पूरे भारत वर्ष में वर्तमान में आजादी का अमृत वर्ष मनाया जा रहा है। जयन्तियों के उपलक्ष्य में उत्सव मनाने की प्रथा संस्कृत वाङ्मय के लिये नया नहीं है। किन्तु वर्तमान स्थिति में वाङ्मयस्थ परम्पराएँ प्रचलन में नहीं हैं। इसको ध्यान में रखते हुए संस्कृत वाङ्मय के लिये भी अमृतोत्सव का आयोजन होना ही चाहिये। आजादी के 75 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर एक प्रकार से अगले 25 वर्षों में भव्यभारत निर्माण हेतु संकल्प लेने की दृष्टि से यह अमृतोत्सव प्रकल्पित है। इन 75 वर्षों में संस्कृत क्षेत्र ने भी विभिन्न परिस्थितियों का सामना किया है। विदेशी आक्रमणों के समय में जितनी परम्परागत विद्याएँ क्षीण हुई उससे कई गुणा ज्यादा क्षीणता का अनुभव स्वतन्त्र भारत में किया गया है। इसका प्रथम कारण बाह्य शत्रु नहीं है। यहाँ के रहवासियों के अन्दर ही संस्कृत की प्रति निष्ठा दिन-प्रतिदिन दूर होती जा रही है। इस स्थिति में व्यावहारिक संस्कृत को बढ़ावा देने के लिये अनेक प्रयासरत हैं। पद्मश्री चमू कृष्णशास्त्री महोदय के प्रयास तो अति प्रशंसनीय हैं। अब प्रयास शास्त्राध्ययन में भी प्रारम्भ होना चाहिये। भारत की वैज्ञानिक अस्मिता वेदाङ्गों में ही निक्षिप्त है। इनका परम्परागत व वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है। प्राथमिक स्तर के संस्कृतज्ञों की अल्पता अब नहीं है। किन्तु शास्त्रविशेषज्ञ तथा अध्ययन परम्पराओं के निर्माण करने वाले निपुण अभी भी अल्प संख्या में ही हैं। लेखिनी शास्त्र को तथा उसकी गहराई को ध्यान में रखते हुये चलाने का समय आया है। यह समय की मांग है, अन्यथा शास्त्र चर्चाएँ कहानियों के रूप में ही रह जायेंगी। व्यावहारिक भाषा दक्षता लाने के प्रयासों में अब शास्त्रनिष्ठ दक्षता लाने का स्वरूप ले आना आवश्यक है।

संस्कृत वाङ्मय के सभी विषय आपस में अविनाभाव सम्बन्ध रखते है। 'यदिहास्ति तदन्यत्र' आदि वचनों की सार्थकता शास्त्रनिहित वैज्ञानिक तत्त्वों की विवेचना करने पर स्पष्ट हो जाता है। सीमांकन विधि संस्कृत क्षेत्र के लोगों को आज के समय में पंगु बना दिया है। एक शास्त्र का छात्र अन्य शास्त्र के विचारों में दखल करना ही नहीं चाहता है। अन्य शास्त्रों का अध्ययन केवल 73 संख्या से नेट परीक्षा लिखने तक सीमित रखता है। इस संस्कृति का निरादर कर असीमित क्षेत्र निर्माण करने से भारत के साथ साथ संस्कृत वाङ्मय भी आने वाले समय में अमृतोत्सव मनाने की स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

पत्रिका से सम्बन्धित सभी पद अवैतनिक है। पत्रिका में प्रकाशित लेखों से प्रकाशक को सहमत होना अनिवार्य नहीं है। किसी भी प्रकार के विवाद का समाधान भोपाल न्यायालय से ही स्वीकार्य है। शोधलेख आमन्त्रित है। पूर्वप्रकाशित लेख अनुमत नहीं है। लेख से सम्बन्धित विवादों का दायित्व लेखक का ही होगा। लेख को स्वीकार व अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार प्रकाशक को है।

ISSN 2278 - 0327

विषय-सूची

क्र.	लेख विषय	लेखक	पृ.सं.
1.	महाकवि कालिदास के काव्यों में मनोविज्ञान के विविध आयाम	डॉ. अक्षय कुमार मिश्र	05
2.	रोगविचार की प्रविधियाँ – ज्योतिषशास्त्र के सन्दर्भ में	डॉ. नीरज कुमार जोशी	09
3.	ज्योतिषशास्त्र एवं रक्तचाप रोग	डॉ. प्रभाकर पुरोहित	13
4.	शुक्लयजुर्वेदीय दयानन्द-भाष्य में शिल्पकला	डॉ. रंजन लता	16
5.	वैदिक वाङ्मय में ज्योतिषशास्त्र	डॉ. सुमन कुमारी	19
6.	वास्तुशास्त्र : एक परिचय	डॉ. विजय कुमार	24
7.	महर्षि वाल्मीकि के श्रीराम	डॉ. जी.एल. पाटीदार चन्द्रेश चौहान	26
8.	प्रमुख उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्त : एक अनुशीलन	डॉ. राजकिशोर आर्य	31
9.	महावाक्यार्थ विमर्श (बह्मसूत्रभाष्यों के आलोक में)	डॉ. घनश्याम मिश्र	35
10.	आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत 'परमार्थसार' में सृष्टि-प्रक्रिया विमर्श	डॉ. प्रदीप	40
11.	सांख्य दर्शन की प्राचीनता	डॉ. कृष्ण मुरारी मणि त्रिपाठी	45
12.	सम्प्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया और अनुप्रयोग	डॉ. कुलदीप सिंह	50
13.	सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह	डॉ. रविन्द्र सिंह राठौड़ प्रो. अनिल धर	53
14.	भारत बोध की सम्यक् दृष्टि	डॉ. वरुण कुमार उपाध्याय	56
15.	राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में शिक्षक शिक्षा का दिग्दर्शन	डॉ. योगेन्द्र बाबू डॉ. हरीश पाण्डेय	61
16.	भक्तिकालीन काव्य : आज के संदर्भ में	डॉ. हेमवती शर्मा	67
17.	ओडिशा में वसन्तोत्सव	डॉ. सोमनाथ दाश	70
18.	अपभ्रंश की उत्पत्ति और रस सिद्धान्त की संस्कृत परम्परा	डॉ. अनीता	75
19.	आज के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शिक्षा का महत्त्व	डॉ. हृशीकेश दलाई	78
20.	महाभारत में संगीत-विद्या के तत्त्वों की गवेषणा	डॉ. रश्मि यादव	82
21.	शान्तामङ्गल नाटक में स्त्री पात्र	डॉ. मनोज कुमार	86
22.	छायावाद और महादेवी वर्मा की कविताएँ	डॉ. आशा	89
23.	पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित विभूतियों की उपादेयता	श्रीमती रेणु	93
24.	जम्मू-कश्मीर विवाद एवं अंत	डॉ. अर्चना चौहान	100
25.	पार्वती का जीवन : एक दर्शन	डॉ. प्रवीण बाला	105

ISSN 2278 - 0327

26.	संस्कृत वाङ्मय में कलात्मक अभिव्यक्ति	डॉ. सुमन रानी	112
27.	सहगामी अधिगम के प्रति शिक्षकों का दृष्टिकोण	निर्मला प्रो. सीमा धवन	114
28.	कबीर का आध्यात्मिक दृष्टिकोण	सन्दीप कुमार	120
29.	वेद का स्वरूप एवं वैदिक वाङ्मय का शास्त्रीय अध्ययन	सुनील कुमार पाण्डेय	122
30.	आत्मप्रबन्धन का अर्थ और श्रीमद्भगवद्गीता	सोमवीर	126
31.	एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्रों की अर्थातिदेशता	राहुल आर्य	129
32.	कापालिक का चित्रण - मत्तविलास प्रहसन और मत्तविलासम् कुटियाट्टम पर आधारित एक अध्ययन	श्रीनिवासन पीके डॉ. एस. लक्ष्मी कुमार	131
33.	ऋग्वेद में सरस्वती नदी का माहात्म्य : एक दार्शनिक विवेचन	अंग्रेज, प्रो. विभा अग्रवाल	135
34.	जय प्रकाश नारायण का समाजवादी चिन्तन : एक अध्ययन	अनिता कंवर	139
35.	तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में प्रतिपादित- माता, पिता, अतिथि एवं आचार्य में देवत्व की अवधारणा	गोविन्द सरकार	142
36.	वीरवर्धमानचरितम् में वर्णित धर्म	ज्योति ठाकुर डॉ. दीप लता	146
37.	महारास	कुसुम लता यादव	149
38.	सुबन्धु कालीन सामाजिक स्थिति	प्रीति भेलकर डॉ. अच्छेलाल	151
39.	विद्यार्थियों के व्यक्तित्व निर्माण में प्राणायाम की भूमिका	सुनील कुमार शर्मा	155
40.	नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान का अध्ययन	हिमांशु छाबड़ा	158
41.	वेदों के अनुशीलन में शिक्षा वेदाङ्ग की उपादेयता	कुमुद कुमार पाण्डेय	162
42.	'णंदिणंद सुत्तं' के आधार पर सज्जन का कृत्याकृत्य विवेचन	सचिन कुमार जैन	166
43.	भारत में पंचायतीराज व्यवस्था का उद्भव एवं विकास : एक अध्ययन	मोनिका भाटी	172
44.	हरिशंकर 'आदेश' के काव्य में राष्ट्र-प्रेम	ओमवीर	175
45.	शंकर शेष के मूर्तिकार नाटक का परिचयात्मक मूल्यांकन	नीलम कुमारी	178
46.	आचार्य श्रीराधावल्लभत्रिपाठी कृत नाटकों में स्त्रीचेतना	रिंकू कुमार जैन डॉ. मोहिनी अरोरा	183
47.	काशीनाथ सिंह का कथा-साहित्य : आर्थिक यथार्थ	राखी, डॉ. कृष्णा जून	186
48.	गोस्वामी तुलसीदास और उनका युग	लक्ष्मी राठौड़	190
49.	चरकसंहिता में वर्णित हेतुसूत्र का स्वरूप	प्रियंका	193

ISSN 2278 - 0327

महाकवि कालिदास के काव्यों में मनोविज्ञान के विविध आयाम

डॉ. अक्षय कुमार मिश्र

विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी०ए०वी० महाविद्यालय

नन्योला, अम्बाला, हरियाणा – 134003

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के शीर्ष कवि माने जाते है। उन की रचनाएं वहुविध वर्णनात्मक शैली से परिपूर्ण हैं। महाकवि कालिदास के काव्यों में सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, पारिवेशिक, वैयक्तिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि अनेक ऐसे विषय हैं, जिनके उपर आलोचनात्मक परिशीलन किया जाता रहा है। उन के साहित्यों में संयोजित पात्रों की मनोदशा की यदि हम विचार करें तो हमें यह पता चलता है कि- निश्चित रूप से महाकवि कालिदास मनोविज्ञान विषय के विशिष्ट विद्वान् रहे होंगे। परिस्थिति के अनुरूप पात्रों के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन कैसे होना चाहिए, यह यथार्थ रूपेण महाकवि कालिदास द्वारा संयोजित किया गया है। उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त व्यवहार को पिरोने में वे सिद्धहस्त हैं।

मनोविज्ञान विषय पात्रों की अभिनेयात्मकता में दृष्टिगोचर होता है। अत: यह विषय अधिकांशत: महाकवि कालिदास के नाट्य साहित्यों मे उपलब्ध होते हैं। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि अभिनय के प्रमुख रूप से चार भेद बताये हैं – 1. आंगिक, 2. वाचिक, 3, आहार्य, 4. सात्विक।[1] इनमें से जो सात्विक भाव है, उस अभिनय का आधुनिक शब्दावली में सीधा अर्थ है 'मनोविज्ञान का दर्शनशील परिवर्तन'। सात्विक अभिनय को नाट्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। उसके अनुसार इसके बिना उच्च कोटि का अभिनय सम्पन्न नहीं किया जा सकता। सात्विक अभिनय के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रकार ने आठ सात्विक भावों कि चर्चा की है। स्वेद, रोमाञ्च, वेपथु, कम्प, वैवर्ण्य, प्रलय, अश्रु तथा स्वर भंग। इन मूर्त स्वरूपों के सूक्ष्म कारण ही मनोविज्ञान है। जिसे हम मन: स्थिति भी कहते हैं। जैसे प्रेम, मर्यादा, धैर्य, उदारता, विवेक, काम, क्रोध तथा करुणा आदि।

मनोविज्ञान की यदि हम चर्चा करें तो R.S.Woodworth के अनुसार- 'मनोविज्ञान वातावरण के प्रति होने वाली मानव क्रियाओं का विज्ञान है। अर्थात् विभिन्न स्थितियों व वातावरण के प्रति व्यवहार ही मनोविज्ञान है।[2]

Skinner के अनुसार -'मनोविज्ञान जीवन की विविध परिस्थितियों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन है। प्रतिक्रियाओं तथा व्यवहार से तात्पर्य प्राणी की सभी प्रकार की प्रतिक्रियाओं, समायोजन कार्यों तथा अभिव्यक्तियों से है'।[3]

मनोविज्ञान के कुछ उपभेद जिनके उदाहरण महाकवि कालिदास के साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

संज्ञानात्मक मनोविज्ञान

महाकवि अपने साहित्यों में वर्णित सभी प्राणियों (चर तथा अचर) के मन की सूक्ष्म गतिविधियों का यथातथ्य चित्रण करते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि- कुछ कार्य या संस्कार ऐसे होते हैं जिनका हमारे अन्तर्मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अंक में राजा दुष्यन्त हंसपदिका द्वार गाई जा रही संगीत को श्रवण कर के स्वमन: स्थिति का वर्णन करता है-

रम्याणि वीक्ष्यमधुरांश्च निशम्यशब्दान्पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोह्यापि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥[4]

राजा दुष्यन्त सोचता है कि यद्यपि मेरा कोई प्रियजन मुझसे वियुक्त नहीं है तो भी हंसपदिका के मधुर संगीत को सुनकर मेरा मन व्याकुल सा हो गया है। रमणीय वस्तुओं को देखकर और मधुर संगीत को सुनकर सुखी व्यक्ति भी यदि व्याकुल हो जाता है, तो निस्सन्देह यह भाव के रूप में स्थित दूसरे जन्मों के प्रेमानुभवों को अनजाने में ही चित्त से स्मरण करता है।

यह संज्ञानात्मक मनोविज्ञान है,[5] इस के अनुसार पुराने स्मृति आदि मानसिक प्रक्रमों के महत्व पर वल दिया जाता है।

पुन: षष्ठ अंक में जब राजा को शकुन्तला की अंगूठी प्राप्त होती है तब राजा की मानसिक स्थिति पुराने भूले हुए स्मृति को याद करने वाला बन जाता है। अत: उस की अवस्था को देख कर राजश्याल भी राजा की मन: स्थिति के विषय में अनुमान लगा पाता है- 'मैं तो ऐसा समझता हूं कि उस अंगूठी में बहुमूल्य रत्न

महाराज को अधिक प्रिय नहीं था अपितु उसके दर्शन ने महाराज को किसी इष्टजन की याद दिला दी थी। अत: स्वभाव से गम्भीर होने पर भी महाराज क्षणभर के लिए अश्रुपूर्ण नेत्र वाले हो गये थे'। [6]

पूर्वाभास मनोविज्ञान

महाकवि कालिदास के कृतियों में अनेक स्थान पर कुछ ऐसे प्रसंग सामने आते हैं जहां पर पात्रों को उनके मन: स्थिति से उन्हें भविष्य का ज्ञान हो जाता है। विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रथम अंक में जब उर्वशी की एकावली झाड़ियों में फंस जाती है, तब चित्रलेखा को इस रुकावट का पहले से आभास हो जाता है कि उर्वशी ने यह जानबूझ कर किया है। क्यों कि वह राजा से आसक्त थी। चित्रलेखा कहती है कि यह तो बड़ी जोर से फंस गई है, इसे छुड़ाना कठिन है, फिर भी कोशिश करुंगी। [7] अभिज्ञानशाकुन्तल के पञ्चम अंक में शकुन्तला जब राजमहल में प्रवेश करती है उसका दाहिना नेत्र फड़कता है। किन्तु शकुन्तला अपने हृदय को आर्यपुत्र के प्रेम को याद करके धीरज धारण करने को कहती है। राजा द्वारा शकुन्तला को अपनी पत्नी स्वीकार न करने पर शकुन्तला को पूर्व आशंका का आभास ठीक प्रतीत होता है। [8] रघुवंश महाकाव्य के चतुर्दश सर्ग में देवी सीता जब मनोहर प्रदेशों में जाते हुए यह सोच कर प्रसन्न थी कि मेरे प्राणप्रिय पति सदा मेरे मन की ही बात करते हैं। उन्हें क्या पता कि उनके मनोरथ पूरा करने वाले कल्पवृक्ष सदृश प्राणप्रिय असिपत्र के समान बन गए हैं। लक्ष्मण ने सीता जी को मार्ग में कुछ नहीं बतलाया कि 'तुम पर क्या विपत्ति आने वाली है' परन्तु सीताजी के दाहिने नेत्र ने फड़क कर आने वाले दु:ख की सूचना दे ही दी। [9] अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रथम अंक में आश्रम में प्रवेश करते हुए राजा को पता चल जाता है कि कोई स्त्री रत्न की प्राप्ति होने वाली है। जैसे ही राजा दुष्यन्त आश्रम में प्रवेश करते हैं उनकी दाहिनी भुजा फड़कती है जो श्रेष्ठ स्त्री की प्राप्ति का सूचक है। राजा सोचता है कि आश्रम प्रदेश शमप्रधान है, यहां विषय वासनाओं से रहित तपस्वी-साधक जन रहते हैं, अत: यहां भुजा फड़कने का फल स्त्री-प्राप्ति कैसे सम्भव है? अन्तत: यह निष्कर्ष निकालता है कि जो होना होता है, वह कहीं भी हो सकता है। [10]

अपराध बोध की भावना

अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अंक में अंगूठी दर्शनोपरान्त राजा के मन में एक अपराधिक भावना उत्पन्न हो रहा है। वह अपने आप को माफ नहीं कर पा रहा है। अंगूठी दर्शनोपरान्त उसकी मन: दशा का वर्णन -राजा प्रत्याख्यानकालिन शकुन्तला की स्थिति को बतलाता हुआ विदूषक से कहता है, मित्र, मेरे द्वारा परित्याग कर देने पर जब वह अपने कुटुम्बियों के पीछे-पीछे जाने लगी, तब ही कण्वशिष्य ने उससे जोर से कहा कि यहीं ठहर, कहां जा रही है, गुरुशिष्य की यह बात सुन कर भयभीत होकर वह वहीं खड़ी हो गई, फिर और कुछ उपाय न देखकर, अश्रुप्रवाह से कलुषित दृष्टि को उसने पुन: जो मुझ निर्दय पर डाला था, वस्तुत: उसकी वह विवश दृष्टि मुझे अब भी विषैले शल्य के समान जला रही है, उस समय की उसकी दयनीय एवं विवश स्थिति का दृश्य मुझे अब भी सन्तप्त कर रहा है। [11] यहां पर 'क्रूरे' पद से राजा के पश्चाताप गत आत्मग्लानि प्रतीत हो रही है और यहां इस का अर्थ है वञ्चक। पश्चाताप के परिणाम स्वरूप शोक होता है। यहां पर भी विदुषक की उक्ति से यह स्पष्ट होता है- 'मित्र, यह क्या है? ऐसा आपके विषय में सर्वथा अनुचित है। सज्जन कभी भी शोक में दूसरों के द्वारा समझाने योग्य नहीं होते। प्रचण्ड आंधी में भी पहाड़ विचलित नहीं होते हैं। [12]

दुष्यन्त के मन में अपराध बोध की भावना यहां पर दृष्टि गोचर होती है, वह मन ही मन कहता है कि वस्तुत: यह मेरा हृदय अति नीच एवं दुष्ट है क्यों कि जब पहले प्रिया शकुन्तला ने यहां स्वयं आकर इसे जगाया तब तो यह सोता ही रहा किन्तु अब जब कि वह चली गई है तह दुष्ट हृदय मुझे पश्चाताप के दु:ख का अनुभव कराने के लिये जाग गया है।[13] विदुषक से कहता है - *'मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना, मम च मुक्तमिदं तमसा मन:'* अर्थात् शकुन्तला पर प्रेम स्मृति को रोकने वाले मोह ने इस मेरे मन को मुक्त कर दिया।

कुमारसम्भव महाकाव्य के चौथे सर्ग में कामदेव के भस्म होने के पश्चात् रति स्वयं को जीवित देखकर अपराध ग्रस्त महसूस करती है कि वह अब तक किस प्रकार जीवित है? हे रमण ! यद्यपि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ रही हूँ, फिर भी मुझ पर यह कलंक का टीका लग ही चुका कि कामदेव के वियोग में रति क्षणभर जीवित रही।[14] रघुवंश महाकाव्य के चौदहवें सर्ग में अयोध्या पहुंचकर सीता देवी ने अत्यन्त नम्रता के साथ दोनों माताओं के चरण स्पर्श किये। सीता देवी अपने आप को पति श्री राम के कष्ट का कारण समझकर अपराधग्रस्त अनुभव करते हुए यह सोचती है कि मेरे कारण ही मेरे स्वामी ने इतने कष्टों का सामना किया। [15] अपराध बोध की भावना तो रानी धारिणी को भी होती है। 'मालविकाग्निमित्र नाटक के चतुर्थ अंक में प्रमदवन में विदूषक रानी के लिये फूल तोड़ने जाता है और वहां पर उसे सांप डस लेता है। रानी धारिणी को जब यह ज्ञात होता है तो वह स्वयं को

अपराधी महसूस करती है और कहती है –हा धिक् हा धिक्, मैं ही ब्राह्मण के जीवन को कष्ट में डालने का कारण बनी।[16] पांचवें अंक में भी रानी धारिणी अज्ञानता वस अपने द्वारा किये गये कार्य से अपने आप को दोषी मानती है। कलाकुशल कन्याओं से जब उसे ज्ञात होता है कि मालविका दासी नहीं अपितु एक राजकुमारी है तो वह स्वयं को अपराधग्रस्त महसूस करती है और कहती है – क्या यह राजकुमारी है ? निश्चय ही मैनें चन्दन को खड़ाऊ बना के दूषित किया है।[17]

प्रेम जनित व्यावहारिक मनोविज्ञान

काम तथा प्रेम दोनों में अन्तर है। काम एक वासना है, यह वासना इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने से उत्पन्न होती है।[18] काम में इन्द्रियों का स्वार्थ निहित होता है, और यह केवल इन्द्रिय चरितार्थ तक ही सीमित रहता है। परन्तु प्रेम उच्च कोटी के सम्बन्ध है। यह इन्द्रिय तृप्ति से परे है। स्वार्थेन्द्रियों को संतृप्त करना केवल काम का विषय है। प्रेम को तो जहत्स्वार्थ लक्षणा के साथ तुलना किया जा सकता है। दूसरे के आनन्द के लिए अपना सर्वस्व न्योच्छावर कर देना यह प्रेम है।[19] ये दोनों मनुष्य जीवन के अभिन्न अंग हैं। मनोविज्ञान के अनुसार यह मनुष्य जीवन की मूलभूत आवश्यकता भी है। महाकवि कलिदास ने अपने साहित्य में काम तथा प्रेम को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है। परन्तु उनके अनुसार ये दोनों परस्पर इस प्रकार गुम्फित हैं कि इन में अन्तर समझना सरल कार्य नहीं है। परन्तु आदर्श प्रेम के कुछेक उदाहरण एवं यथार्थ काम के कुछेक उदाहरण उनके अन्तर को स्पष्ट करते हैं। कुमारसम्भव के पांचवें सर्ग में तपस्वी द्वारा की गई भगवान् शिव की निन्दा को पार्तती सहन नहीं कर पाती है उनके प्रति अगाढ़ प्रेम होने के कारण कहती है –अपने पास कुछ न होते हुए भी सारी सम्पत्तियां उन्हीं से उत्पन्न होती हैं। श्मशान में रहते हुए भी शंकर जी तीनों लोकों के स्वामी हैं। और डरावने दिखलायी देने पर भी वे सबके कल्याणकारी कहलाते हैं। अतएव उनका सच्चा स्वरूप संसार में कोई नहीं समझ सकता।[20] पञ्चम सर्ग के प्रारम्भ में पार्वती जब अपने शारीरिक सौन्दर्य से उन्हें सन्तुष्ट न कर सकी, शिव जी ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव को भस्म कर दिया, तब स्वयं अपनी सौन्दर्य की निन्दा करते हुए कहती है–जो सुन्दरता अपने प्रणयी को न रिझा सके, उसका होना किस काम का। [21]

अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला के प्रति दोनों सखियों का प्रेम शुद्ध स्तर पर है। जब राजा के द्वारा कोई सेवक नहीं भेजा गया तब शकुन्तला के बैचैन होने पर दोनों सखियां उस के मनोरथ को शीघ्र व गुप्तरूप से सम्पन्न करने का उपाय सोचती हैं और उसे प्रेमपत्र लिखने की सलाह देती हैं। 'हे अनसूये! अब प्रेम पत्र लिखवाया जाये। मैं उसे फूलों में छिपाकर देवता के प्रसाद के बहाने उस राजा के हाथ में पहुंचा दूगीं। [22] अनसूया और प्रियम्वदा दुर्वासा ऋषि के शाप देने पर उससे अनुनय विनय करके शाप को कम करवाती हैं और अपनी सखी के लिए चिन्तित भी रहती हैं। विदाई के अवसर पर वे दोनों उसके विदा होने पर बैचैन हैं फिर भी प्रियम्वदा के सात्विक भाव इस प्रकार व्यक्त हुए कि हम लोग तो अपने आप को ज्यों–त्यों समझा लेगीं पर बेचारी तो किसी प्रकार खुश रहे।[23]

काम जनित व्यावहारिक मनोविज्ञान

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य में शृंगारी कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके काव्यों का मुख्य रस शृंगार है। मेघदूत खण्डकाव्य का मुख्य विषय ही विप्रलम्भ शृंगार रस है। महाकवि कालिदास कहते हैं – *कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु* [24] कामार्त होने के कारण मनुष्य चेतन तथा अचेतन में भेद नहीं कर पाता है, कारण स्वरूप यक्ष मेघ एक अचेतन वस्तु को दूत के रूप में अपने प्रिया के पास भेजता है। एक कामुक व्यक्ति के मन:स्थिति को यदि जानना है तो महाकवि कालिदास के मेघदूत का अवश्य अध्ययन करना चाहिए।

अभिज्ञानशाकुन्तल के नायक दुष्यन्त को यह भी पता नहीं होता है कि वह जो क्रिया करना चाहता है वह वास्तव में हुई या केवल काल्पनिक मनोगत में घटी है। शकुन्तला जैसे ही राजा दुष्यन्त तथा अनसूया आदि के पास से चलने लगती है, राजा भी उसके पीछे चलना चाहता है, तभी विनयशीलता के कारण अपने स्थान पर ही बैठा रहता है। उसे ऐसा लगता है जैसे वह शकुन्तला के पीछे जाकर फिर लौट आया है। [25]

पर्यावरणीय मनोनिज्ञान

हमारे मनोवेगों को प्रभावित करने में बाह्य प्रकृति का भी बहुत बड़ा योगदान रहता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के विदाई के समय आश्रम का दृश्य अविस्मरणीय है। महर्षि कण्व द्वारा वृक्षों को शकुन्तला को जाने की अनुमति देने के लिए कहने [26] के साथ ही, तुरन्त कोयल की 'कूह–कूह' ध्वनि सुनायी पड़ती है, जिसे सुनकर कण्व शिष्य शार्गरव कहता है –

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं बनवातबन्धुभि:।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥[27]

कोयल के इस स्वर के माध्यम से वनवास के भाई–बन्धु वृक्षों ने शकुन्तला को जाने की अनुमति दे दी है। न केवल मनुष्य के मनोभाव में परिवर्तन आता है अपि तु स्वयं प्रकृति भी अपनी

प्रतिक्रिया व्यक्त करति है। जैसे –

शकुन्तला के विरह में आरण्यकों की अवस्था वर्णनातीत है। महाकवि कालिदास की भाषा में –

उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयुराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥[28]

शकुन्तला के विरह में दु:खी हुए हिरणों ने घास खाना छोड़ दिया है और लताएं पीले पत्तों को गिराते हुए मानो अपने आंसू बहा रही हैं। शकुन्तला के आरण्यकों के प्रति प्रेम पर्यावरणीय मनोनिज्ञान नहीं है तो और क्या है।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में भी हिमालय की शोभा को देख कर राजा दिलीप के मनोभाव में परिवर्तन आता है, जिसके फल स्वरूप नन्दिनी के उपर सिंह आक्रमण कर देता है। हिंसक प्राणी वन में भी उस गाय पर आक्रमण नहीं कर सकते –इस प्रकार हिमालय पर्वत के सौन्दर्य में लगी दृष्टि वाले राजा दिलीप के द्वारा जिसके आक्रमण को नहीं देखा गया है, ऐसा एक सिंह उस गाय को बलपूर्वक खींच करके ले गया।[29] इस प्रकार मेघदूत में भी अनेक बाह्यवातावरणों का वर्णन हैं जो मनुष्य के मनोवेग को उद्दीप्त करते हैं। पूर्वमेघ में 'उस बादल को देखकर महाराज कुबेर का वह सेवक आंसू रोके ज्यों–त्यों खडा–खड़ा बहुत देर तक कुछ सोचता रह गया। क्योंकि बादलों को देखकर जब सुखी लोगों का मन भी डांवाडोल हो जाता है, तब उस वियोगी का तो कहना ही क्या।[30]

उपरोक्त कुछ एक उदाहरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास का व्यक्तित्व एक कुशल मनोवैज्ञानिक के रूप में भी उभरकर विद्वानों के सामने आता है तथा महाकवि के द्वारा अपने साहित्यों में चित्रित किये गए चरित्रों के मनोभावना या मनोदशा कहीं न कहीं आधुनिक मनोविज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं।

सन्दर्भ सूची

1. आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यसात्विकस्तथा। ज्ञेयस्तदभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तिता॥ नाट्यशास्त्र. 6.82
2. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- PP 11
3. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- PP 10
4. अभिज्ञानशाकुन्तल 5.2
5. Wood & Wood (1996) ने अपनी पुस्तक 'The world of psychology' में संज्ञानात्मक मनोविज्ञान को परिभाषित करतेहुए लिखा है – संज्ञानात्मक मनोविज्ञान एक विशिष्टता है जो मानसिक प्रक्रियाओं जैसे- स्मृति, सम्प्रत्यय निर्माण, तर्कना, निर्माण प्रक्रिया, भाषा एवं प्रत्यक्षीकरण के आधार पर केन्द्रण करता है ।
6. न तस्मिन् महार्हरत्न .....प्रकृतिगम्भीरोह्यपि पयश्रुनयन आसीत्। अभिज्ञानशाकुन्तल 6
7. दृढं खलु लग्ना। दुर्मोचनीयेव मम प्रतिभाति। भवतु, यतिष्ये तावत्। विक्रमोर्वशीय 1
8. शकुन्तला-(सविषादमात्मगतम्) हृदय। साम्प्रतं ते आशंका। अभिज्ञानशाकुन्तल 5
9. जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्यतरेण स्फुरता तदक्ष्णा। आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रिय दर्शनेन॥ रघुवंश 14.49
10. शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च वाहुः कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां भवन्ति द्वाराणि सर्वत्र॥ अभिज्ञानशाकुन्तल-1.14
11. इतः प्रत्यादेशात् .....मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्य दहति माम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 6.9
12. भो, किमेतत्। .....ननु प्रवातेह्यपि निष्कम्पा गिरयः। अभिज्ञानशाकुन्तल 6. PP 179
13. प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया..... सम्प्रति विवुद्धम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल 6.7
14. मदनेन विना कृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवतेति मे। वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वमनुयामि यद्यपि॥ कुमारसम्भव 4.21
15. क्लेशवहाभर्तुरलक्ष्णाह्यहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती। स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरीर्महिष्याव भक्ति भेदेन वधूर्ववन्दे॥ रघुवंश 14.5
16. हा धिक्, हा धिक्। अहमेव ब्राह्मणस्य जीवित संशयनिमित्तं जातास्मि। मालविकाग्निमित्र 4
17. कथं राजदारिकेयं। चन्दन खलु मया पादुकापरिभोगेन दूषितम्। मालविकाग्निमित्र 5
18. संगात् संजायते कामः.....। भगवद्गीता 2.62
19. 'अति निष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति' अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तम अंक मे शकुन्तला को देख कर राजा की उक्ति से शकुन्तला का राजा के प्रति प्रेम ही प्रतीत होता है न कि काम। अभिज्ञानशाकुन्तल 7.22
20. अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथ पितृसद्मगोचरः। स भीमरूपो शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥ कुमारसम्भव 5.77
21. निनिन्दरूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥ कुमारसम्भव 5.1
22. अनसूये ! मदनलेख इदानीं क्रियताम्। तं सुमनगोपितं कृत्वा देवताशेषापदेशेन तस्य राज्ञो हस्ते प्रापयिष्यानि। अभिज्ञानशाकुन्तल 3.
23. सखी ! प्रियं मे प्रियं मे ! किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं खल्विदानीं परितोषं समुद्वहामि। आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सेदानीं निर्वृता भवतु। अभिज्ञानशाकुन्तल- 4
24. पूर्वमेघदूत.5
25. अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः। स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल- 1.25
26. सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ अभिज्ञानशाकुन्तल- 4.09
27. अभिज्ञानशाकुन्तल- 4.10.
28. अभिज्ञानशाकुन्तल- 412.
29. सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन। अलक्षिताभ्युत्पतनोनृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष॥ रघुवंश 2.27
30. तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोरन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोह्यप्यन्यथावृत्ति चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥ पूर्वमेघ 3

ISSN 2278 - 0327

रोगविचार की प्रविधियाँ - ज्योतिषशास्त्र के सन्दर्भ में

डॉ. नीरज कुमार जोशी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

ज्योतिषशास्त्र सम्पूर्ण पृथ्वी पर ग्रह स्थिति द्वारा घटनाओं के सम्भावनाओं को प्रकाशित करता है। जिसमें मानव जीवन के सभी पक्षों पर विचार किया जाता है यथा- शिक्षा, कार्यक्षेत्र, सन्तान, आयु, स्वास्थ्य, रोग इत्यादि। मनुष्य के जीवन में स्वास्थ्य, रोग इत्यादि का विचार भैषज्य ज्योतिष के अन्तर्गत किया जाता है।

भैषज्य ज्योतिष- भैषज्य ज्योतिष ''*ज्योतिर्वेदौ निरन्तरौ*'' की अवधारणा का सार्थक रूप है। ज्योतिष शास्त्र के माध्यम से मानव शरीर में रोगों का ज्ञान करना, रोग उत्पन्न होने के समय का ज्ञान करना तथा रोगों के उत्पन्न होने के कारणों को ग्रह स्थिति के माध्यम से जानने के लिए ज्योतिष शास्त्र की जिस प्रविधि का प्रयोग किया जाता है, उसे भैषज्य ज्योतिष कहा जाता है।

भैषज्य ज्योतिष में रोग ज्ञान के साधन-1-आयुर्वेद 2 - ज्योतिष

आयुर्वेद- आयुर्वेद स्वास्थ्य के संरक्षण का विज्ञान है यह स्वस्थ मनुष्य को अस्वस्थ होने से बचाने एवं अस्वस्थ मनुष्य के रोग रोग को शमन करने का उपाय बताने वाला शास्त्र है। आयुर्वेद रोगी की चिकित्सा से पूर्व उसकी आयु विचार का परामर्श देता है एवं उसके रोग के साध्यता असाध्यता का विचार करता है।

आयुर्वेद में रोगोत्पति के कारण-

आयुर्वेद में कर्मप्रकोप एवं दोष प्रकोप दो प्रकार से रोगोत्पति का निरूपण किया गया है-

कर्मजा व्याधय: केचिद् दोषजा: सन्ति चापरे।[1]

1.कर्मजन्य 2. दोषजन्य

1. कर्मजन्य रोग- कर्म जनित रोगों से अभिप्राय है जब मनुष्य सद्वृत्ति सदाचार शुद्ध आहार विहार ऋतु का पालन करता है और रोग के उत्पन्न होने का मौसम भी न हो और फिर भी अचानक रोग हो जाय तो वह कर्मजन्य रोग मानना चाहिए।[2]

2. दोषजन्य रोग-मनुष्य के शरीर में वात, पित्त और कफ के कारण मिथ्या आहार विहार के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें दोष जन्य रोग कहा जाता है तथा इन रोगों का सम्बन्ध क्रियमाण कर्म से होता है।

ज्योतिष शास्त्र द्वारा रोगोत्पत्ति के कारण-

ज्योतिष शास्त्र में भी घटनाओं के होने का कारण कर्मों को ही माना गया है। इसका निरूपण आचार्य वराहमिहिर करते हैं-

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाऽशुभं तस्य कर्मण: पंक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।[3]

कर्म के तीन भेद हैं- 1. संचित 2. प्रारब्ध 3. क्रियमाण

आयुर्वेद में रोगों के उत्पन्न होने का कारण संचित कर्म में विकृति माना गया है। संचित कर्म के ही एक भाग जो हम भोगते हैं प्रारब्ध कहा जाता है। इस प्रकार संचित एवं प्रारब्ध कर्म के कारण कर्मजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। शतातापीय तन्त्र में इस विषय में कहा गया-

पूर्वजन्मकृतं पापं नरकस्य परिक्षये।
बाधते व्याधिरूपेण तस्यकृच्छ्रादिभि: शम:।।

अर्थात् पूर्वजन्मों में अर्जित जो शुभाशुभ कर्म है उन कर्मों को ज्योतिष शास्त्र प्रकट (प्रकाशित) करता है जैसे अन्धकार में रखे हुए पदार्थों को दीपक प्रकट (प्रकाशित) करता है। इसी प्रकार रोगों की उत्पत्ति का कारण भी ज्योतिष शास्त्र पाप कर्मों को मानता है।

जन्मान्तर कृतं पापं व्याधि रूपेण जायते।[4]

ज्योतिष शास्त्र और आयुर्वेद-

रोग के निर्णय एवं उसके उपचार के विषय में ज्योतिष और आयुर्वेद एक दूसरे के पूरक शास्त्र हैं। इसीलिए कि ज्योतिष ग्रह, भाव, राशि के आधार पर गुण धर्मों का निरूपण करता है तथा आयुर्वेद मनुष्य की चर्या, त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) आहार-विहार के आधार पर रोग के गुण धर्मों का निर्णय कर उपचार करता है। इसलिए श्रुति वाक्य के रूप में आचार्यों ने कहा है। ''*ज्योतिर्वेद्यौ निरन्तरौ*'' अर्थात् एक ज्योतिषी को वैद्य तथा एक

वैद्य को ज्योतिषी होना चाहिए। भैषज्य ज्योतिष इसी प्रकार कार्य करता है जिसमें आयुर्वेद चिकित्सा समय ज्योतिष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

भैषज्य ज्योतिष में रोग विचार –

भैषज्य ज्योतिष में ग्रहों, राशियों भावों के द्वारा रोग का निर्धारण किया जाता है। इस विषय में मंत्रेश्वर कहते हैं–

रोगस्य चिन्तामपि रोगभावस्थितैर्ग्रहैर्वा व्ययमृत्युसंस्थैः।
रोगेश्वरेणापि तदन्वितैर्वाद्रिन्ध्यादिसम्वादवशाद्वदन्तु ।।[5]

किसी भी जन्मकुण्डली में रोग के विषय में जानने के लिए –

1. षष्ठ भाव
2. अष्टम भाव
3. द्वादश भाव
4. षष्ठ में स्थित ग्रह
5. अष्टम भाव में स्थित ग्रह
6. द्वादश भाव में स्थित ग्रह
7. षष्ठ, अष्टम, द्वादश भावों के स्वामी

इन सभी का विचार करके यदि एक ही अशुभ ग्रह स्थिति निर्दिष्ट हो तो उस ग्रह जन्य रोग होता है।

ग्रहों द्वारा भैषज्य में रोग विचार –

भैषज्य ज्योतिष की अवधारणा जातक ग्रंथों में ग्रहों के शरीर में स्थित धातु आदि के कारकत्व से स्पष्ट होती है। शरीर में मज्जा का कारक मंगल है। स्नायु का कारक शनि है। वसा का कारक बृहस्पति है। अस्थि का कारक सूर्य है। वीर्य का कारक शुक्र है। रक्त का कारक चंद्र है। चर्म का कारक बुध है। जो ग्रह प्रभावित होता है उसकी धातु से जुड़ा हुआ है विकार शरीर में होता है।

मज्जास्नायुवसाऽस्थि शुक्ररूधिरत्वग्धातुनाथाः क्रमाद्।
आरार्कीज्यदिनेशशुक्रशशभृत्तारासुताः कीर्तिता।।[6]

ज्योतिष शास्त्र में समस्त चर, अचर, धातु, मूल, जीव इत्यादि का कारकत्व ग्रहों के द्वारा निर्धारित है।[7]

रोग विचार के प्रसंग में ग्रहों का परिचय [8]–

सूर्य ग्रह –सूर्य मनुष्यों के (पुरूषों के दायें और स्त्रियों के बायें) नेत्र, आयु, अस्थि, सिर, हृदय, प्राण, शक्ति, मेदा, रक्त तथा पित्त को प्रभावित करता है। इसके बली होने पर हड्डियां मजबूत होती हैं तथा शरीर स्वस्थ बना रहता है। और इसके निर्बल, अशुभ या रोग कारक होने पर क्षय, पित्त प्रकोप, नेत्र रोग, अस्थि रोग, शिरोरोग, हृदय रोग, उष्णवात, ज्वर, मूर्च्छा रक्तस्राव, चर्मरोग, मृगी एवं शूल होता है।

चन्द्र ग्रह –चन्द्र व्यक्ति के (पुरूष के वाम तथा स्त्री के दक्षिण) नेत्र, स्तन, वक्ष, फेफड़ा, मन, मस्तिष्क, उदर, मूत्राशय, रक्त, रस–धातु, शारीरिक पुष्टि एवं कफ को प्रभावित करता है। इसके बली होने पर शरीर में रक्त संचार ठीक बना रहता है, आरोग्य वृद्धि होती है तथा मनोबल उन्नत रहता है। इसके निर्बल अशुभ या रोग कारक होने पर कफ रोग, मूत्र विकार, जलोदर, मुख रोग, नासिका रोग, पाण्डु, क्षय, मन्दाग्नि, अतिसार, स्त्रीसंसर्ग जन्य रोग, प्रदर, अपसार, वात श्लेष्मा एवं मानसिक रोग होते हैं।

मंगल ग्रह –मंगल शरीर में कपाल, कान, स्नायु, जननेन्द्रिय, मज्जा, पुट्ठों की पुष्टता, शारीरिक शक्ति, दाहु, शोध, धैर्य एवं पित्त को प्रभावित करता है। इसके बली होने पर व्यक्ति के शरीर में हड्डियां मजबूत होती हैं, प्रतिरोध शक्ति बढ़ती है तथा साहस एवं धैर्य की वृद्धि होती है। यह निर्बल, अशुभ या रोग कारक ही तो रक्त विकार, रक्तचाप, फोड़ा–फुंसी, खाज, सूजन, चोट, रक्तस्राव, कुष्ठ, ज्वर, वात्त पित्त विकार, महामारीजन्य रोग, गुप्तरोग, अग्निदाह, मुष्कवृद्धि तथा वे रोग जिनमें शल्य क्रिया आवश्यक हो, होते हैं।

बुध ग्रह –बुध शरीर में जिह्वा, वाणी, स्वरचक्र, श्वासनली, अगला मस्तिष्क, फुफ्फुस, मज्जातन्तु, केश, मुख, हाथ एवं त्रिधातु को प्रभावित करता है। इसके बलवान् होने पर बालक का मस्तिष्क पूर्ण विकसित होता है, उसका व्यक्तित्व आकर्षक तथा प्रतिपादन शैली मोहक होती है। इसके निर्बल या रोगकारक होने पर मूर्च्छा, हिस्टीरिया, मानसिक रोग, चक्कर आना, न्यूमोनिया, विषमज्वर, त्रिदोषज्वर, टाइफाइड, पाण्डु, संग्रहणी, शूल, मन्दाग्नि, गण्ड विकार, वाणी विकार, उदर विकार, कण्ठरोग, नासिकारोग एवं स्नायु रोग होते हैं।

बृहस्पति ग्रह–गुरु शरीर में चर्बी, वीर्य, उदर, यकृत, रक्त धमनी, त्रिदोष तथा कफ को प्रभावित करता है। इसके बली होने पर शरीर पुष्ट होता है, विचार शक्ति अच्छी होती है तथा मन में शान्ति एवं मनोयोग बना रहता है। इसके निर्बल, अशुभ या रोगकारक होने पर उदर विकार, मज्जादोष, यकृतरोग, प्लीहा, स्थूलता, दन्तरोग, वायु विकार, मूर्च्छा, मस्तिष्क विकार, ज्वर, कर्ण रोग, ऊँचाई से गिरना एवं मानसिक तनाव उत्पन्न होता है।

शुक्र ग्रह– शुक्र शरीर में जननेंद्रिय, शुक्राणु, नेत्र, कपोल, चिबुक, स्वर, रस, गर्भाशय एवं संवेग शक्ति को प्रभावित करता है। इसके बली होने पर शरीर सुडौल होता है; मनुष्य की काम शक्ति बलवान् होती है तथा वीर्य पुष्ट होता है। इसके निर्बल, अशुभ या रोग कारक होने पर मूत्र विकार, वीर्य, विकार, गुप्त रोग, स्त्रीसंसर्गजन्य रोग, मादक द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न होने वाले

विकार, विषजन्य रोग, उपदंश, प्रमेह, मधुमेह, प्रदर, कफवायु, विकार एवं पाण्डु रोग होता है।

शनि ग्रह- शनि शरीर में हड्डियों की जोड़, पैर, घुटने, वात संस्थान, मज्जा तथा वात को प्रभावित करता है। इसके बलवान् होने पर स्नायुमण्डल पुष्ट तथा शरीर सुदृढ़ होता है। इसके निर्बल, अशुभ या रोगकारक होने पर वायु विकार, स्नायु विकार, जोड़ों में दर्द, गठिया, सन्धिवात, पक्षाघात, पागलपन, दाड़ में दर्द, अपचन, खांसी, दमा, अंग-भंग तथा असन्तोष या निराशाजन्य मानसिक रोग होते हैं। यह अपराध वृत्ति से लेकर आत्महत्या तक करवाने में समर्थ माना गया है।

राहु ग्रह -राहु शरीर में मस्तिष्क, रक्त, त्वचा एवं वात को प्रभावित करता है। इसके बलवान् होने पर शरीर में फुर्ती, ताजगी एवं चैतन्य बनी रहती है तथा इसके निर्बल, अशुभ या रोग कारक होने पर चेचक, कृमि, मृगी, सर्पदंश, पशुओं से चोट, कुष्ठ एवं कैंसर जैंसे असाध्य रोग हो जाते हैं।

केतु ग्रह -केतु शरीर में वात, रक्त तथा चर्म को विशेष रूप से प्रभावित करता है। इसके बलवान् होने पर शरीर में श्रम शक्ति, संघर्ष शक्ति, प्रतिरोध शक्ति एवं सक्रियता बनी रहती है। तथा इसके निर्बल होने पर शरीर में सुस्ती, अकर्मण्यता, शरीर में चोट, घाव, चर्म रोग, जटिल रोग एवं अलर्जी हो जाती है।

रोग विचार में राशियाँ-

ज्योतिषशास्त्र के जातक ग्रन्थों[9] में काल रूपी पुरूष की कल्पना कर उसके शरीर के विविध अंगों में मेष आदि द्वादश राशियों की स्थापना की गई है। जिसके आधार पर उसके अंग रोगग्रस्त या स्वस्थ है- यह माना जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र के आचार्यों को इस मान्यता के अनुसार मेष राशि शिर का, वृष मुख का, मिथुन भुजाओं का, कर्क हृदय का, सिंह उदर का, कन्या कमर का, तुला बस्ति का, वृश्चिक गुप्तांग का, धन ऊरू का, मकर जानु का, कुम्भ जघाओं का, तथा मीन राशि पैरों का प्रतिनिधित्व करती है।

1. मेष राशि-मस्तिष्क, माथा (ललाट), शरीर एवं सिर के बाल।
2. वृष राशि- आँख, कान, नाक, गाल, होठ (ओष्ठ), दाँत, मुख, जिह्वा एवं गला।
3. मिथुन राशि- कण्ठ, ग्रीवा, कन्धा, भुजा, कोहनी, मणिबन्ध, हथेली, वृक्ष एवं स्तन।
4. कर्क राशि- फेफड़े, श्वासनली एवं हृदय।
5. सिंह राशि-पेट, आँते, जिगर, तिल्ली, गुर्दा एवं नाभि।
6. कन्या राशि-कमर एवं चूतड़ (नितम्ब)।
7. तुला राशि-बस्ति, मूत्राशय एवं गर्भाशय का ऊपरी भाग।
8. वृश्चिक राशि-गर्भाशय, जननेन्द्रिय एवं गुदा।
9. धनु राशि-ऊरू।
10. मकर राशि-जानु एवं घुटना।
11. कुम्भ राशि-जंघा, पिंडली।
12. मीन राशि-टखना, पैर, पादतल एवं पैर की उंगलियाँ।

मेषादि राशियाँ एवं उनके रोग -

मेष आदि द्वादश राशियाँ स्वभावत: जिन-जिन रोगों को उत्पन्न करती हैं [10] वे रोग इस प्रकार है:-

1. मेष राशि रोग- नेत्ररोग, मुखरोग, सिरदर्द, मानसिक तनाव, उन्माद एवं अनिद्रा।
2. वृष राशि रोग- गले एवं श्वासनली के रोग, घटसर्प तथा आँख, नाक एवं गले के रोग।
3. मिथुन राशि रोग- रक्तविकार, श्वास, फुफ्फुस रोग, एवं मज्जारोग।
4. कक राशि रोग- हृदयरोग एवं रक्तविकार।
5. सिंह राशि रोग- उदरविकार, मेदवृद्धि एवं वायुविकार।
6. कन्या राशि रोग- जिगर, तिल्ली, अमाशय के विकार, अपचन, मन्दाग्नि एवंकमर में दर्द।
7. तुला राशि रोग-मूत्राशय के रोग, मधुमेह, प्रदर, मूत्रकृच्छ एवं बहुमूत्र।
8. वृश्चिक राशि रोग-गुप्तरोग, अर्श, भगंदर, उपदंश, शूक एवं संसर्ग-जन्य रोग।
9. धनु राशि रोग- यकृत दोष, ऋतुविकार, अस्थिभंग, मज्जारोग एवं रक्त दोष।
10. मकर राशि रोग- वातरोग, शीतरोग, चर्मरोग एवं रक्तचाप।
11. कुम्भ राशि रोग- जलोदर, मानसिक रोग, ऐंठन एवं गर्मी।
12. मीनराशि रोग-असहिष्णुता (एलर्जी), चर्मरोग, रक्तविकार, आमवात, आंव,ग्रन्थि, गठिया।

शारीरिक अंगों के प्रतिनिधि भाव-

मनुष्य की कुण्डली भी राशि चक्र की भाँति उसके सम्पूर्ण शरीर की प्रतीक है। जिस प्रकार काल पुरूष के शरीर में मेष आदि द्वादश राशियों को स्थापित कर मेष आदि राशियों के प्रतिनिधत्व में आने वाले अंगों का विचार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार कालपुरूष के शरीर में लग्न आदि 12 भावों को स्थापित कर प्रत्येक भाव से शरीर के विविध अंगों का विचार होता है। [11]

शिरोऽर्कादेर्मुखं कण्ठं श्रोत्रनासा च गुह्यकम्।

पाणी पार्श्वौ दृशौ पादौ प्रपदौ कुक्षिमादिशेत्।।[12]

प्रथम भाव	–	मस्तिष्क, ललाट एवं सिर।
द्वितीय भाव	–	आँख, कान, नाक, गाल, होंठ, दाँत, मुख, जिह्वा एवं गला।
तृतीय भाव–		कण्ठ, ग्रीवा, कन्धा, भुजा, कोहनी, हथेली, वक्षस्थल एवं स्तन।
चतुर्थ भाव	–	फेफड़े, श्वासनली एवं हृदय।
पंचम भाव	–	पेट, आँते, जिगर, तिल्ली, गुर्दा एवं नाभि।
षष्ठ भाव	–	कमर, कूल्हा, नितम्ब।
सप्तम भाव	–	बस्ति, मूत्राशय एवं गर्भाशय का ऊपरी भाग।
अष्टम भाव	–	गर्भाशय, जननेन्द्रिय, गुदा एवं अण्डकोष।
नवम भाव	–	ऊरू।
दशम भाव	–	जानु एवं घुटना।
एकादश भाव	–	जंघा एवं पिण्डली।
द्वादश भाव	–	टखना, पैर, तलवा (पादतल) एवं पैर की उँगलियाँ।

निष्कर्ष–

इस प्रकार भैषज्य ज्योतिष में ग्रह, राशि, भावों के शुभाशुभ कारकत्व शारीरिक धातु, कालपुरूष के शरीर में राशियों के विभाजन, कालपुरूष के अंगों का भावों के आधार पर विभाजन द्वारा भैषज्य ज्योतिष में रोगों का विचार किया जाता है। प्रधान रूप से रोग विचार में जन्म कुण्डली का छठा घर जिसे रोग भाव या शत्रु भाव कहा जाता है यह रोग के प्रारम्भ का प्राथमिक द्योतक भाव होता है। तथा इसका स्वामी रोगेश कहलाता है। इनकी अशुभ स्थिति जिस राशि, भाव ग्रह से बनती है उसके कारकत्व स्थान के अनुसार रोग उत्पन्न होता है। तथा षष्ठ भाव से उत्पन्न होन वाला रोग अल्पकालिक एवं चिकित्सा उपचार द्वारा साध्य होता है। भैषज्य ज्योतिष में रोग विचार के लिए कुण्डली में दूसरा महत्वपूर्ण भाव अष्टम भाव होता है जिसे आयु भाव या मृत्यु भाव कहते हैं। इस भाव का सम्बन्ध जब षष्ठ भाव (रोग भाव), रोगेश से होता है तो यह भाव भी रोग को उत्पन्न करता है। इसके द्वारा उत्पन्न रोग दीर्घकालिक तथा कई परिस्थितियों में असाध्य होता है। इसके द्वारा जन्मजात रोग भी प्राप्त होते हैं।

भैषज्य ज्योतिष में रोग विचार के लिए कुण्डली में तीसरा महत्वपूर्ण भाव द्वादश भाव होता है जिसे व्यय भाव भी कहा जाता है। इस भाव का सम्बन्ध जब षष्ठ भाव, षष्ठेश, अष्टम भाव, अष्टमेश से अशुभ स्थितियों में होता है तो यह भाव भी रोग उत्पन्न कारक हो जाता है। इसके सम्बन्ध से उत्पन्न रोग चिकित्सालयों में बहुत समय रहने तथा अत्यधिक व्यय करने के उपरान्त ठीक होता है।

इस प्रकार भैषज्य ज्योतिष के माध्यम से आयुर्वेद, ज्योतिष शास्त्र के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से रोग का विचार कर उसका ज्ञान किया जाता है। तथा रोग उत्पन्न करने वाले ग्रह, भावेश, राशीश, कारक की दशा, अन्तर्दशा, प्रत्यन्तर दशा, गोचर के अनुसार रोग के समय का निर्धारण किया जाता है। तथा कर्मजन्य, दोषजन्य, साध्य, असाध्य कारणों को जानकर तदनुसार चिकित्सा, मंत्र, मणि, औषधि, दान, स्नान आदि प्रविधियों द्वारा रोग का उपचार किया करना चाहिए।।

सन्दर्भ सूची –

1. चरक संहिता –निदान स्थान 5/29
2. सुश्रुत संहिता– 34
3. लघुजातक अ–1 श्लोक 3
4. प्रश्न मार्ग– अ. 13 श्लोक 29
5. फलदीपिका अ. 14, श्लोक 1
6. जातक पारिजात अ. 2 श्लोक 28
7. फलदीपिका – अ. 14, श्लोक–2–9
8. ज्योतिष शास्त्र में रोग विचार प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी पृ. सं. 6, 7
9. जातक परिजात अ. 1 श्लोक 8।
10. सदसद्ग्रहसंयोगात् पुष्टा: सोपद्रवास्ते च। लघुजातक अध्याय 1 श्लोक 5
11. दैवज्ञाभरण: प्रकाश 3 श्लोक 70।
12. सर्वार्थ चिन्तामणि अ. 5 श्लोक 71

ISSN 2278 - 0327

ज्योतिषशास्त्र एवं रक्तचाप रोग

डॉ. प्रभाकर पुरोहित
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
ज्योतिष,कर्मकाण्ड विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

''यद् पिण्डे तद् ब्रह्मण्डे '' के इस मूल सिद्धांत के अनुसार जो मानव शरीर में विद्यमान है वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी विद्यमान है। या हम कह सकते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है वह अण्ड (पिण्ड) में है। ज्योतिषशास्त्र ब्रह्माण्ड में स्थित ग्रह नक्षत्र राशि समूहों के गति स्थिति प्रभावादि के आधार पर मानव जीवन पर उनके प्रभावों का अध्ययन करता है।[1]

ज्योतिषशास्त्र सम्पूर्ण पृथ्वी पर ग्रह स्थिति द्वारा घटनाओं की सम्भावनाओं को प्रकाशित करता है। जिसमें मानव जीवन के सभी पक्षों पर विचार किया जाता है यथा- शिक्षा, कार्यक्षेत्र, सन्तान, आयु, स्वास्थ्य, रोग इत्यादि। मनुष्य के जीवन में स्वास्थ्य, रोग इत्यादि का विचार भैषज्य ज्योतिष के अन्तर्गत किया जाता है।

चिकित्सा ज्योतिष- ''*ज्योतिर्वेदौ निरन्तरौ*'' की अवधारणा का सार्थक रूप है। ज्योतिषशास्त्र के माध्यम से मानव शरीर में रोगों का ज्ञान करना, रोग उत्पन्न होने के समय का ज्ञान करना तथा रोगों के उत्पन्न होने के कारणों को ग्रह स्थिति के माध्यम से जानने के लिए ज्योतिष शास्त्र की जिस प्रविधि का प्रयोग किया जाता है, उसे भैषज्य ज्योतिष कहा जाता है।

भैषज्य ज्योतिष में रोग ज्ञान के साधन-

आयुर्वेद-आयुर्वेद स्वास्थ्य के संरक्षण का विज्ञान है यह स्वस्थ मनुष्य को अस्वस्थ होने से बचाने एवं अस्वस्थ मनुष्य के रोग रोग को शमन करने का उपाय बताने वाला शास्त्र है। आयुर्वेद रोगी की चिकित्सा से पूर्व उसकी आयु विचार का परामर्श देता है एवं उसके रोग के साध्यता असाध्यता का विचार करता है।

आयुर्वेद में रोगों के उत्पन्न होने कारण- आयुर्वेद में कर्मप्रकोप एवं दोष प्रकोप दो प्रकार से रोगोत्पति का निरूपण किया गया है- *कर्मजा व्याधय: केचिद् दोषजा: सन्ति चापरे।*[2]

1. कर्मजन्य रोग- कर्म जनित रोगों से अभिप्राय है जब मनुष्य सद्वृत्ति सदाचार शुद्ध आहार विहार ऋतु का पालन करता है और रोग के उत्पन्न होने का मौसम भी न हो और फिर भी अचानक रोग हो जाय तो वह कर्मजन्य रोग मानना चाहिए।[3]

2. दोषजन्य रोग-मनुष्य के शरीर में वात, पित और कफ के कारण मिथ्या आहार विहार के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें दोष जन्य रोग कहा जाता है तथा इन रोगों का सम्बन्ध क्रियमाण कर्म से होता है।

ज्योतिष शास्त्र में रोगों के उत्पत्ति के कारण- ज्योतिष शास्त्र में भी घटनाओं के होने का कारण कर्मों को ही माना गया है। इसका निरूपण आचार्य वराहमिहिर करते हैं।-

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाऽशुभं तस्य कर्मण: पंक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।[4]

कर्म के तीन भेद हैं-1. संचित 2. प्रारब्ध 3. क्रियमाण

आयुर्वेद में रोगों के उत्पन्न होने का कारण संचित कर्म में विकृति माना गया है। संचित कर्म के ही एक भाग जो हम भोगते हैं प्रारब्ध कहा जाता है। इस प्रकार संचित एवं प्रारब्ध कर्म के कारण कर्मजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। शतातापीय तन्त्र में इस विषय में कहा गया-

पूर्वजन्मकृतं पापं नरकस्य परिक्षये।
बाधते व्याधिरूपेण तस्यकृच्छ्रादिभि: शम:।।

अर्थात् पूर्वजन्मों में अर्जित जो शुभाशुभ कर्म हैं उन कर्मों को ज्योतिष शास्त्र प्रकट (प्रकाशित) करता है जैसे अन्धकार में रखे हुए पदार्थों का दीपक प्रकट (प्रकाशित) करता है। इसी प्रकार रोगों की उत्पत्ति का कारण भी ज्योतिष शास्त्र पाप कर्मों को मानता है- *जन्मान्तर कृतं पापं व्याधि रूपेण जायते।*[5]

ज्योतिष शास्त्र और आयुर्वेद-रोग के निर्णय एवं उसके उपचार के विषय में ज्योतिष और आयुर्वेद एक दूसरे के पूरक शास्त्र हैं। इसीलिए कि ज्योतिष ग्रह, भाव, राशि के आधार पर गुण धर्मों का निरूपण करता है तथा आयुर्वेद मनुष्य की चर्या, त्रिदोष (वात-पित-कफ) आहार विहार के आधार पर रोग के गुण धर्मों का निर्णय कर उपचार करता है। इसलिए श्रुति वाक्य के रूप में आचार्यों ने कहा है।'*'ज्योतिर्वेद्यौ निरन्तरौ*'' अर्थात् एक ज्योतिषी को वैद्य तथा एक वैद्य को ज्योतिषी होना चाहिए। भैषज्य ज्योतिष इसी प्रकार कार्य करता है जिसमें आयुर्वेद चिकित्सा समय ज्योतिष का

अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

भैषज्य ज्योतिष में रोग विचार–भैषज्य ज्योतिष में ग्रहों, राशियों भावों के द्वारा रोग का निर्धारण किया जाता है। इस विषय में मंत्रेश्वर कहते हैं–

रोगस्य चिन्तामपि रोगभावस्थितैर्ग्रहैर्वा व्ययमृत्युसंस्थैः।
रोगेश्वरेणापि तदन्वितैर्वाद्रिन्ध्यादिसम्वादवशाद्वदन्तु ।।[6]

किसी भी जन्मकुण्डली में रोग के विषय में जानने के लिए –

1. षष्ठ भाव
2. अष्टम भाव
3. द्वादश भाव
4. षष्ठ में स्थित ग्रह
5. अष्टम भाव में स्थित ग्रह
6. द्वादश भाव में स्थित ग्रह
7. षष्ठ, अष्टम, द्वादश भावों के स्वामी

इन सभी का विचार करके यदि एक ही अशुभ ग्रह स्थिति निर्दिष्ट हो तो उस ग्रह जन्य रोग होता है।

ग्रहों द्वारा भैषज्य में रोग विचार – भैषज्य ज्योतिष की अवधारणा जातक ग्रंथों में ग्रहों के शरीर में स्थित धातु आदि के कारकत्व से स्पष्ट होती है। शरीर में मज्जा का कारक मंगल है। स्नायु का कारक शनि है। वसा का कारक बृहस्पति है। अस्थि का कारक सूर्य है। वीर्य का कारक शुक्र है। रक्त का कारक चंद्र है। चर्म का कारक बुध है। जो ग्रह प्रभावित होता है उसकी धातु से जुड़ा हुआ है विकार शरीर में होता है।

रक्तचाप, ब्लडप्रैशर रक्तवाहनियों में बहते रक्त द्वारा वहनियों की दीवारों पर डाले गये दबाव को कहते हैं। धमनियाँ वह नलिका हैं जो पंप करने वाले हृदय से रक्त को शरीर के सभी उतकों और सभी इन्द्रियों तक ले जाता है। हृदय रक्त को धमनियों में पंप करके धमनियों में रक्तप्रवाह को विनियमित करता है और इस पर लगने वाले दबाव को ही रक्तचाप कहते हैं।

किसी व्यक्ति का रक्तचाप सिस्टोलिक/डायस्टोलिक रक्तचाप के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे कि 120/80 सिस्टोलिक अर्थात् ऊपर की संख्या धमनियों में दबाव को दर्शाती है। इससे हृदय की माँसपेशियाँ संकुचित होकर धमनियों में रक्त को पंप करती हैं। डायलोस्टिक रक्तचाप अर्थात् नीचे वाली संख्या धमनियों में उस दबाव को दर्शाती हैं जब संकुचन के बाद हृदय की माँसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। रक्तचाप हमेशा उस समय अधिक होता है जब हृदय पंप कर रहा होता है। एक स्वस्थ व्यक्ति का सिस्टोलिक रक्तचाप पारा 90 और 120 मिलीमीटर के मध्य होता है।

सामान्य डायलोस्टिक रक्तचाप के पारा 60 से 80 मि.मी. के बीच होता है। सामान्य डायलोस्टिक रक्तचाप पारा 60 से 80 मि.मी. होना चाहिए।[7]

निम्न रक्तचाप – निम्न रक्तचाप हाईपरटैंशन वह दाब जिससे धमनियों और नसों में रक्त का प्रवाह कम होने के लक्षण या संकेत दिखाई देते हैं। जब रक्त का प्रवाह काफी कम होता है तो तो मस्तिष्क, हृदय तथा गुर्दे जैसे महत्वपूर्ण इन्द्रियों में ऑक्सीजन और पौष्टिक पदार्थ नहीं पहुँच पाते जिससे ये इन्द्रियाँ सामान्य रूप से काम नहीं कर पातीं और इससे ये स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त हो सकती हैं। उच्च रक्तचाप के विपरीत निम्न रक्तचाप की पहचान मूलत: लक्षण और संकेत से नहीं होती है न कि विशिष्ट दाब संख्या के। किसी-किसी का रक्तचाप 90-50 होता है। लेकिन उनमें निम्न रक्तचाप के कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ते हैं और इसलिए उन्हें निम्न रक्तचाप नहीं होता है।[8]

उच्च रक्तचाप – 130/80 से ऊपर का रक्तचाप, उच्चरक्तचाप या हाईपरटेशन कहलाता। इसका अर्थ है कि धमनियों में उच्च रक्तचाप (तनाव) है। उच्च रक्तचाप का अर्थ यह नहीं है कि अत्यधिक भावनात्मक तनाव हो। भावनात्मक तनाव व दबाव अस्थायी रूप से रक्त के दबाव को बढ़ा देता है। सामान्यत: रक्तचाप 120/80 से कम होनी चाहिए और 120/80 तथा 139/89 के मध्य रक्त का दबाव पूर्व उच्च रक्तचाप से हृदय रोग, गुर्दे की बीमारी, धमनियों का सख्त हो जाने, आँखे खराब हो जाने और मस्तिष्क खराब होने का जोखिम बढ़ जाता है।[9]

उच्च रक्तचाप के कारण –

1. चिंता, ईर्ष्या, भय आदि मानसिक विकार।
2. कई बार, बार-बार या आवश्यकता से अधिक खाना।
3. मैदा से बने खाद्य, चीनी, मसाले, तेल, घी, अचार, मिठाईयाँ, माँस, चाय सिगरेट व शराब आदि का सेवन।
4. नियमित खाने में रेशे, कच्चे फल और सलाद आदि का अभाव।
5. श्रम-हीन जीवन, व्यायाम का अभाव।
6. पेट और पेशाब सम्बन्धी पुरानी बीमारी।

उच्च रक्तचाप का निदान महत्वपूर्ण है जिससे रक्तचाप को सामान्य करके जटिलताओं को रोकने का प्रयास संभव हो। फार्मैकॉजी विभाग कोलोन विश्वविद्यालय, जर्मनी में हुई एक शोध के अनुसार चॉकलेट खाने और काली व हरी चाय पीने से रक्तचाप नियंत्रण में रहता है। कनाडा के शोधकर्ता रॉस. डी. पैफल्डमैन के अनुसार उच्च रक्तचाप के रोगियों की विशेष देखभाल और जाँच की जरूरत होती है। इससे दिल के दौरे की आशंका एक-चौथाई

कम हो सकती है। वहीं मस्तिष्काघात की सम्भावना 40 प्रतिशत कम हो सकती है। [10]

रक्त चाप का वर्गीकरण - जे.एन.सी. सात 2009 के अनुसार रक्तचाप का निम्न वर्गीकरण 18 वर्ष से अधिक वयस्कों हेतु बताया जाता है। यह कार्यालय में बैठे लोगों को सही सही तरीके से ली गई रीडिंग्स पर ली गई औसत है। [11]

वयस्कों हेतु रक्तचाप वर्गीकरण

श्रेणी	सिस्टोलिक, मिली. मर्करी	डायस्टोलिक मिली.
हायपरटेंशन	≤90	≤960
सामान्य	90-119	60-79
प्रीहायपरटेंशन	120-139	80-89
स्तर-1 हायपरटेंशन	140-159	90-99
स्तर-2 हायपरटेंशन	≤160	≤100

रक्तचाप के ज्योतिषीय कारण

रक्तचाप या सामान्य रक्तचाप न रहना एक जीर्ण व्याधि है। जो कि युवा व्याधियों की अपेक्षा वृद्धावस्था में अधिक मिलती है। रक्तचाप को जानने के लिए निम्न जानकारियाँ आवश्यक प्रतीत हैं - यह हृदय व धमनियों के अपगलन का रोग है। इसमें रक्तवाहनियों की आंतरिक दीवार टूटने लगती हैं। जिस पर बहने वाला वसा जमा होता रहता है। भारत में प्रति एक हजार पुरुषों व स्त्रियों में क्रमश: 59.9 व 69.9 रोग मिलते हैं। शहरों में प्रतिव्यक्ति 35.5 तथा गाँव में 35.9 रोग मिलते हैं। उच्च रक्तचाप लगातार लम्बे समय तक रहने से प्राय: रोगी के हृदय, वृक्क, रक्तवाहनियाँ, आँख का पर्दा, केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र पर दुष्प्रभाव पड़ता है। उच्च रक्तचाप साईलेन्ट किलर के रूप में काम करता है। करीब 85% रोगियों में इसका कारण आरंभ में पता लगाना मुश्किल होता है। वयस्कों में सामान्यत: सिस्टोलिक बी.पी. 160 एम.एम. ऑफ एचजी तथा डायस्टोलिक बी.पी. 95 एम.एम. ऑफ एचजी से ऊपर रहता है। पर यह मापदण्ड जाति, स्थान, देशकाल आदि के आधार पर परिवर्तित भी हो सकता है। आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से रक्तगतवात रक्त में वायु के बढ़ने से तीव्रशूल जलन, त्वचा वैवर्ण्य, शरीर कृशता, भूख न लगना, त्वचा पर धब्बे, भोजन के तुरंत बाद शरीर में भारीपन इत्यादि उच्च रक्तचाप कारण होते हैं।

निम्न रक्तचाप के ज्योतिषीय लक्षण -

1. चन्द्रमा के कमजोर होने से।
2. हथेलियों में चाँद पर्वत पर कालिमा या दाग धब्बे होने पर

उच्च रक्तचाप के ज्योतिषीय लक्षण -

1. मंगल के ज्यादा मजबूत होने से
2. चन्द्रमा के खराब होने से।
3. कुण्डली में अग्नितत्व की मात्रा ज्यादा होने पर।
4. अगर राहू का संबन्ध केन्द्र स्थानों से हो तो।

रक्तचाप किसी भी चिकित्सा शास्त्र में रोग के रूप में न होकर लक्षण पुंज के रूप मे वर्णित है। इसलिए ज्योतिष में भी रक्तचाप के परिज्ञान हेतु निम्नलिखित तीन उपकरण आवश्यक हैं 1. योग, 2. दशा, 3.गोचर। इनमें दशा तथा गोचर का ज्ञान तो तात्कालिक रूप से किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए भी रक्तचाप के सन्दर्भ में योग के तीन घटकों (क) ग्रह (ख) राशि (ग) भाव का चिंतन आवश्यक है।

संबधित ग्रह- सूर्य - अग्नि तत्व शुष्क ग्रह है। मनुष्यों में आँख, आयु, सिर, हृदय, प्राणशक्ति, रक्तपित्त का प्रतिनिधि है। आयुर्वेद की दृष्टि से जठराग्निमान्ध, रक्ताग्निमान्ध इस रोग का प्रमुख कारण है। पाचक व साधक पित्त सम्प्राप्ति के घटक हैं। अत: सूर्य पापाक्रान्त नीचस्थ होने पर उपरोक्त रोग के कारण हो सकते हैं।

शरीर में बहते हुए खून से नलियों में जो दबाव पड़ता है उसे रक्तचाप कहा जाता है। जब रक्त का बहाव तेज हो तो इसे रक्तचाप कहते हैं। निम्न रक्तचाप में रक्त का बहाव काफी कम हो जाता है। रक्तचाप से तमाम तरह की समस्याऐं हो जाती हैं। इसलिए चन्द्रमा और मंगल दोनों बड़ी भूमिका निभाते हैं। बृहस्पति के कारण नलिकाओं में वसा जमा हो जाता है और इससे भी रक्तचाप प्रभावित होता है।

सन्दर्भ सूची -

1. भारतीय ज्योतिषशास्त्रेतिहास: पृ.स. 03
2. चरक संहिता -निदान स्थान 5/29
3. सुश्रुत संहिता- 34
4. लघुजातक अ-1 श्लोक 3
5. प्रश्न मार्ग- अ. 13 श्लोक 29
6. फलदीपिका अ. 14, श्लोक 1
7. विकीपीडिया - एक मुक्त ज्ञानकोश रक्तचाप (http://www.indgo.gov.in/health/diseases/93091594d924.91a93992 fgUnh)
8. विकीपीडिया - एक मुक्त ज्ञान कोश रक्तचाप मधुमेह और रक्तचाप (http://www.dhrcindia.com/raktehaap.htm की एच. आर.सी इण्डिया हिन्दी
9. उच्च रक्तचाप http://sushr.wordpress.com/1208/07/21)
10. (http://josh18.in.com/shostory.phpsid=416702 हिन्दी जोश 18/20 मार्च, 2009, इंडो-एशियन न्यूज सम्बन्धी।
11. चौबेनियन एबी, बैक्रिस जी. एल ब्लैक एच. आर एवं अन्य (2003) सेवंथ रिपोर्ट ऑफ द जाइंट नेशनल कमेटी ऑन प्रिवेन्शन डिटेक्शन इवैल्युशन ऑफ हाई ब्लड प्रेशर हाईपरटेंशन पर (http://www.ncbi.html.lih.gov/)

ISSN 2278 - 0327

शुक्लयजुर्वेदीय दयानन्द-भाष्य में शिल्पकला

डॉ. रंजन लता
सहायक आचार्य
दी०द०उ०गो०वि०वि०गोरखपुर

सर्वज्ञानमय व ज्ञान के प्रथम अंकुर के रूप में वेद समस्त जगत में वन्दनीय हैं। ज्ञान की जिस भी धारा का बीज देखना है तो वेद उसके मूल रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि भारतवर्ष की यह अमरभूमि उन सभी आदि ऋषियों की तप:स्थली है, जिनके शुद्ध अन्त:करण में वेदों का आविर्भाव हुआ। यहाँ एक तथ्य और ध्यातव्य है कि कालक्रम से पूर्वतर ग्रंथों आदि का बोध सुकर नहीं होता है। अत: उनके अवबोधन के लिए ब्राह्मण, उपनिषद्, आदि विविध शास्त्रों की परम्परा का आविर्भाव हुआ। ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों आदि में वैदिक विषयों और प्रसंगवश पदों के विवरण और व्याख्यान मिलते हैं, जिनसे उनकी मान्यताओं और व्यावहारिक व्याख्यानों का सम्यक् अवबोध होता है। जहाँ तक शिल्पकलाओं पर विचार किया जाय तो हम इसके बीज भी मूलरूप में वेदों में पाते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण निरूक्तादि भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

वाचस्पत्यम् में कला के सन्दर्भ में अमरकोश के विचारों को बताया गया है । वाचस्पत्यम् इस सन्दर्भ में कहता है कि –

शिल्प न. शिल्–पक्। चित्रकलादिकर्मसु अमर:। रत्नुचि मेदि. । तदारम्भमुहूर्त: मु.चि. उक्तो यथा–

'मृदुध्रवक्षिप्रचरे ज्ञे गुरौ वा ख लग्नगे। विधौ ज्ञजीववर्गस्थे शिल्पारम्भ: प्रशस्यते। साथ ही यह वाचस्पत्यम् 'शिल्पकारिन्' के सम्बन्ध में कहता है–

'शिल्पं चित्रादिकलां करोति कृ – णिनि चित्रादिकर्त्तरि।

वाचस्पत्यकार इस शिल्पिन् का अर्थ *'शिल्पं वेत्त्यधीते वा इनि' चित्रादिकर्मकरे अमर:। कोलदलौषधौ,स्त्री मेदि० ङीप्* [1] ऐसा अर्थ करते है।

पाणिनीय धातुपाठ में शिल्प के सम्बन्ध में शिल् षिल् उञ्छे धातु का उल्लेख मिलता है [2] शिल्प का आशय व्यक्त करते हुए संस्कृत हिन्दी आप्टे कोश कहता है। शिल्+पक्= कला, ललितकला तथा यान्त्रिक कला। साथ ही 64 कलाएँ भी इसी के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। [3]

ऋग्वेद में शिल्पकला

ज्ञान के मूल रूप में ऋग्वेद प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र शिल्पकला के अन्तर्गत नौकादि विषय को बीज रूप में व्यक्त करते हैं–

'तुग्रो ह भुज्युमेश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहा:।
तमूहथुर्नोभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभि:॥[4]

जब हम वेदों में शिल्पकला के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं तो स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका के सन्दर्भ में मंत्र देखा जाय तो हम पाते हैं कि–यहाँ मंत्र में सुखदायक सवारियों को बनाकर उनके उपभोग की बात कही है तथा मात्र लकड़ी की नहीं वरन् सोने, चाँदी, तांबा, पीतल, लोहा आदि पदार्थों से भी नौका बनाने की बात कही गई है। जिसको चलाने के लिए अग्नि, वायु व जल आदि का यथावत् प्रयोग करके द्रव्यादि की उन्नति की बात की गई है।

अत: यहाँ वेदोक्त युक्ति से नाव, विमान व रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का आना–जाना मूल बीज रूप में व्यक्त किया गया है।

शुक्लयजुर्वेदीय दयानन्द–भाष्य में शिल्पकला

दयानन्द अपने यजुर्वेदीय भाष्य के प्रथम अध्याय के ग्यारहवें मन्त्र में शिल्प–कला के उत्तम उदाहरण के रूप में यज्ञशाला के निर्माण के सम्बन्ध में बताते हुए कहते हैं कि यज्ञशाला आदि घर कैसे बनाना चाहिए तब वह प्रस्तुत मन्त्र का सन्दर्भ देते हुए बताते हैं कि–

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषन्दृहन्तां दुर्या:।
पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥
पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्याऽउपस्थेऽग्ने हव्यँ रक्ष॥[5]

अहं शिल्पविद्यजमानो भूतायारातये पृथिव्या नाभौ त्वा (अग्ने) तमग्निं होमार्थं शिल्पविद्यार्थं च सादयामि। यतोऽयमग्निरादित्या अन्तरिक्षस्योपस्थे हुतं द्रव्यं रक्षति, तस्मात्तं पृथिव्यां

स्थापयित्वोर्वन्तरिक्षमन्वेमि। अतएव त्वा तं पृथिव्यां सादयामि। एवं कुर्वन्नहं स्वरभिविख्येषम्। तथैवेमे दुर्यायाः प्रासादास्तत्स्था मनुष्याश्च दृहन्तां शुभगुणैर्वर्धन्तामिति मत्वा तमिमग्निं कदाचिन्नाहं त्यजामि।[6]

यहाँ दयानन्द शिल्पविद्या के सम्बन्ध में कहते हैं कि ईश्वर कहते हैं – मैं शिल्पविद्या को जानने वाला यज्ञ को करता हुआ सांसारिक प्राणियों के सुख और दरिद्र आदि दोषों के विनाश व सुख से दान आदि धर्म करने की इच्छा से इस पृथिवी पर शिल्पविद्या की सिद्धि करने वाला जो अग्नि है उसको हवन करने व शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए स्थापन करता हूँ क्योंकि उक्त शिल्पविद्या इसी से सिद्ध होती है।

यहाँ यह तथ्य और भी देखने योग्य है कि दयानन्द भौतिकलाभ में हवनादि के साथ-साथ शिल्पविद्या को उद्धृत करते हैं। जैसे कि प्रस्तुत मन्त्र में देखना चाहिये –

तस्माद् होमक्रियाशुद्धैर्वाय्वग्निजलादिभिः शिल्पविद्यया यानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्य्युः कारयेयुश्च।[7]

इसी प्रकार, प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में भी उनकी इसी भावना के दर्शन किए जा सकते हैं–

एवं रीत्यैव वाय्वग्निजलगुणग्रहणप्रयोजनाभ्यां शिल्पविद्ययाऽनेकानि यानानि यन्त्रकलाश्च रचयित्वा पुरुषार्थेन सदैव सुखिनो भवतेति।[8]

दयानन्द के अर्थों व भावार्थों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे वायु व जल को भी शिल्पविद्या के महत्वपूर्ण घटक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत मन्त्र दर्शनीय है –

हे मनुष्याः! योऽग्निरिन्धनैर्जलेन युक्तो यानेषु प्रयुक्तः सन् बलेन सद्यो गमयति तं विज्ञायोपकुरुत।[9]

हम देखते है कि जहाँ ऋग्वेद शिल्पकलादि से सम्बन्धित विमान, नौकादि निर्माण की शिक्षा दे रहा है, वहीं दूसरी ओर यजुर्वेद के निम्न मन्त्र से शिल्प-विद्या से तथा सृष्टि के दृष्टान्त से विशेष रचनादि करने की प्रेरणा मिलती है–

'तपसे कौलालं मायायै कर्मारं रूपाय मणिकारं, शुभे वप शरव्यायाऽइषुकारं हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम्॥[10]

यहाँ मन्त्र में बर्तन पकाने के ताप झेलने के लिए कुम्हार पुत्र को, बुद्धिवृद्धि हेतु उत्तम कार्यकर्ता को, सुन्दर स्वरूप बनाने के लिए मणिकर्ता को, शुभाचरण के लिए किसान तुल्य विद्यावपन कर्ता को, बाणों को बनाने के लिए बाण कर्ता को, वज्रादि बनाने के निमित्त धनुष्कर्ता को, क्रियासिद्धि के निमित्त प्रत्यंचा के कर्ता को और जिससे अतिरचना हो उसके लिए रज्जु बनाने वाले को उत्पन्न कीजिए।

यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि कितने सुन्दर प्रकार से परमात्मा एक-एक शिल्प की वृद्धि के निमित्त एक-एक शिल्पकर्ता को उत्पन्न करने की बात करते हैं।

इसी क्रम में जब हम शुक्ल यजु० में देखते हैं तो पाते हैं कि –

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारम् धैर्याय तक्षाणम्।[11]

यहाँ इस अंश में बुद्धि के लिए विमानादि के रचयिता शिल्पियों से सहायता लेने की तथा उन्हें पास में रखने की बात की गई है तथा धीरज के लिए महीन काम करने वाले बढ़ई को उत्पन्न करने की बात की गई है।

यहाँ शुक्लयजुर्वेदीय शिल्प सम्बन्धित तथ्य की पुष्टि में निरुक्त के प्रस्तुत उद्धरण दृष्टव्य हैं –

निरूक्त का प्रस्तुत उद्धरण भी इसी तथ्य को व्यक्त करता है–

''अथातो द्युस्थानादेवतास्तासामश्विनौ, प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते।

सर्व, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विना वित्यौर्णवाभः।

तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्या-वित्येके ऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्दम-सावित्येके।[12]

यहाँ निरूक्तकार यास्क भी वायु, अग्नि, जो धनञ्जय रूप से सब पदार्थों में तथा जल व अग्नि जो ज्योति व रस से युक्त हैं, को 'अश्वि' शब्द से अभिहित कर रहें हैं। इसी क्रम में और्णवाभ ऋषि के मत को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जो विमानादि सवारियों की सिद्धि की इच्छा करते हैं वे वायु, अग्नि व जल से उनको सिद्ध करें। कुछ आचार्य अग्नि की ज्वाला व पृथिवी का नाम भी अश्वि मानते हुए पृथिवी के विकार काष्ठ व लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने में अर्थात् वेगादिगुण उन सवारियों में भी उत्पन्न किए जा सकते है।

इसके साथ ही अन्यत्र एक स्थान पर निरूक्तकार यास्क कहते हैं–

'तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरी तू हन्तारौ। उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे।[13]

यहाँ यास्क प्रदत्त इस उदाहरण में जर्भरी व तुर्फरी शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यहाँ जर्भरी विमान आदि सवारियों के धारण कर्ता व तुर्फरी कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल व पृथिवी के युक्ति पूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों के धारण पोषण व वेग होते हैं। साथ ही सूर्य-चन्द्रमा को अश्वि कहा है। अर्थात्

सूत्र रूप में कहा जाय तो यह अर्थ समझ में आता है कि जर्भरी तो विमानादि तो तुर्फरीी उनके ईधनादि से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। अर्थात् संक्षेप में 'उदन्यजे' वायु, अग्नि व जल के प्रयोग से समुद्र में सुख पूर्वक गमन हो सकता है।

यहाँ शुक्लयजुर्वेदीय शिल्प सम्बन्धित तथ्य की पुष्टि में ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के प्रस्तुत उद्धरण दृष्टव्य हैं –

इसके साथ ही दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में यह तथ्य भी प्रतिपादित किया गया है कि तीन रथों अर्थात् वाहनों द्वारा भूमि, आकाश व सागर को पार करना चाहिए तथा उनमें अग्नि व जल के छः घर बनाने चाहिए। [14]

इसके साथ ही अन्य कई उदाहरण[15] भी इसी तथ्य को व्यक्त करते हैं कि समुद्र, वायु आदि में जहाँ बिना आलम्बन के ठहरना कठिन है, वहाँ नौका, विमान आदि अश्वि (वायु आदि) से रचकर गमनागमन कर सकते हैं।

इसके साथ ही भाप के इंजन का भी सूत्र रूप में प्रतिपादन किया गया है। इसे यहाँ अश्वि (अग्नि, जल संयोग) से वेगयुक्त करने को कहा गया है। जिन यानों में बैठकर निरन्तर स्वस्ति व सुख बढ़ता है। वह यान किस प्रकार बने तो प्रस्तुत मंत्र बताता है–

त्रयः प्रवयों मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा।[16]

अर्थात् जिसमें 3 पहिए हों, जिनसे वह जल व पृथिवी के ऊपर चलाया जाय, और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अंग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। उनमें 3–3 खम्भे कलायंत्र को दृढ़ करने हेतु हों। वे खम्भे भी काष्ठ व लोहे से लगे रहे तथा नाभि–तुल्य मध्यकाष्ठ से सब कलायंत्र जुड़े रहते हैं। सब सुखों की प्राप्ति कर इस प्रकार शिल्पियों के लिए यान–विमानादि बनाने का उपदेश वेद का उपर्युक्त मंत्र देता है। कितनी वैज्ञानिक व उन्नत सोच है?

भूमि, जल और आकाश में भी अपनी पहुँच के झंडे गाड़ने वाले विश्व को इन तीनों स्थान पर आनन्द से आना–जाना करने के निमित्त ऋग्वेद में बताया गया है कि इन तीनों स्थलों की सवारियाँ लोहा, चाँदी, व ताँबा आदि तीन धातुओं की बनती है इन धातुओं से बनी सवारियों से दूर–दूर कठिन–मार्ग में भी बहुत सहजता से आना जाना किया जा सकता है। [17]

इन सभी तथ्यों व उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद व यजुर्वेद विभिन्न रूपों में शिल्पकला के बीजक है। जिन लोगों ने इसको जाना, समझा, हृदयङ्गम किया, उन्होंने एक नई खोज कर डाली।

हमारे पास सब प्रकार से लबालब भरा खजाना है परन्तु आज भी हम अकर्मण्य होते जा रहे हैं। आगे बढ़ने के लिए पाश्चात्यों का मुख निहारते रहते हैं। अपनी प्रणाली, अपने ढंग से कुछ खोजने का अल्प प्रयास ही करते हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी थाती सम्भालें। पाश्चात्यों के पास जुनून है, वे अपने जीवन, विद्या मार्ग में समर्पित कर रहे हैं। यह स्तुत्य है।

परञ्च आज आवश्यकता है कि हम उनका मुख न तांक कर उनसे एक कदम आगे बढ़के दिखाएँ। शिल्प कला के अन्तर्गत विमान कला भी आती है अतः आज हम ऐसे रथ विमान बनाकर विश्व के समक्ष लाएँ जो कि न केवल धरती, वरन् जल, थल, नभ तीनों में मन की गति से संचालित होगें। इस तरह की प्रवृत्ति होने पर ही हम आगे बढ़ेगें जिसमें वेद हमारा पथप्रदर्शक, मूल बिन्दु हमेशा रहेगा।

सन्दर्भसूची–

1. वाचस्पत्यम् (वृहत् संस्कृताभिधानम्), श्रीतारानाथतर्कवाचस्पति–भट्टाचार्येण सङ्कलितम् षष्ठोभागः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 1, 1962, ।
2. पाणिनीय धातुपाठ, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1995, पृ.38
3. आप्टेकोश, संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सड़क, दिल्ली–6, पृ सं0976
4. ऋ० अ० 1 /अ० 8 /व० 8 / मं० 3, 4
5. यजुर्वेदभाष्यम्, श्रीमद्दयानन्दस्वामिना निर्मितं संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समलंकृतम्, सम्पा. श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, 2008, 1/11
6. यजुर्वेदभाष्यम्, दयानन्द, 1/11
7. यजुर्वेदभाष्यम्, दयानन्द, 1/12
8. यजुर्वेदभाष्यम्, दयानन्द, 1/13
9. यजुर्वेदभाष्यम्, दयानन्द, 27/14
10. यजुर्वेदभाष्यम्, दयानन्द, 30/07
11. यजुर्वेदभाष्यम्, दयानन्द, 30/06
12. निरुक्त अ० 01/खण्ड 01
13. निरुक्त अ० 13/खण्ड 5
14. ऋग्वेदादिभाष्यमूमिका, दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1998,पृ० 148
15. ऋ०भा०भू० पृ० 148,ऋ० अ० 1 / अ० 8 / व० 8 –9/मं० 5/ 12
16. ऋ०भा०भू० पृ० 149,ऋ० अ०1 /अ०3 /व० 4/ मं० 2
17. ऋ०भा०भू० पृ०150,ऋ०अ०1 /अ०3 /व० 5/ मं० 7

ISSN 2278 - 0327

वैदिक वाङ्मय में ज्योतिषशास्त्र

डॉ. सुमन कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर, साहित्य (संस्कृत विभाग)
(केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, अधीनस्थ)
डॉ० रामजी मेहता आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, मालीघाट, मुजफ्फरपुर, बिहार

उद्देश्य- प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य है, प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर 'वैदिक वाङ्मय में ज्योतिशास्त्र' का विवेचनात्मक अध्ययन करना।

शोध सारांश -

ज्योतिषामयनं कृत्स्नं, प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
विप्राणां संमतं लोके, यज्ञकालार्थसिद्धये।।[1]

इस शोध-आलेख में ज्योतिषशास्त्र के प्रयोजन को अभिलक्ष्य कर 'श्लाध्यः स एवं गुणवान् रागद्वेष-बहिष्कृता।' कल्हण के इस कथन को आत्मसात करके राग-द्वेष से रहित निष्पक्षता के सिद्धान्त पर उक्त शोध-प्रपत्र का प्रणयन किया है। मैंने समग्र भारतीय वाङ्मय के विवेचन उपरान्त पाया कि वेदों के साक्षात्कर्ता त्रिकालदर्शी ऋषियों ने अपने तपोबल शक्ति से जन साधारण के लाभार्थ अनेकानेक शास्त्रों का दर्शन किये, उनमें ज्योतिषशास्त्र का स्थान शीर्ष एवं मूर्धन्य है। यह एक विज्ञान-विद्या है। प्रतिष्ठित महनीय प्रस्तुत शास्त्र में ग्रह-नक्षत्र-काल, सौरमान, नाक्षत्रमान, युग, संवत्सर, आदि पदार्थों का अध्ययन किया जाता है। इस पवित्र शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है- यज्ञ कार्य के सम्पादनार्थ शुभा-शुभ मुहूर्त्त अर्थात् काल का विधान करना है जैसा कि उक्त श्लोक में निर्दृष्ट है। इसके महत्त्व पर विचार कर स्वयं के कल्याण की इच्छा रखने वाले राजा को वराहमिहिर ने ज्योतिर्विद् का सानिध्य अपरिहार्य बताया। यथा -

कृत्स्नाङ्गोपाङ्गकुशलं होरा गणितनैष्ठिकम्।
यो न पूजयते राजा स नाशमुपगच्छति।।
वनं समाश्रिता येऽपि निर्ममा निष्परिग्रहाः।
अपि ते परिपृच्छन्ति ज्योतिषां गतिको विदम्।।[2]

वास्तव में यदि ज्योतिर्वेत्ता न हो तो मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र, अयन, ऋतु आदि का ज्ञान अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न हो जायेगा। अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या? यह वैभवशाली शास्त्र जिस तरह पौराणिक युग में लोकोपयोगी था, आज भी उतना ही लोकोपयोगी सर्वजन मानस ग्राह्य है। वास्तव में ज्योतिषशास्त्र वर्तमान में भी उतना ही उपादेय है जितना पहले था। आवश्यकता है ज्योतिर्विदों को पहचानने की।

इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र की महनीयता के फलस्वरूप ही वर्तमान (समकालीन) परिप्रेक्ष्य में प्राचीन तथ्यों को आधार बनाकर प्रस्तुत विषय पर नवीन शोध सम्पन्न करने का मेरा यह लघु प्रयास है। मेरे शोधपत्र का संक्षिप्त सार इस प्रकार है-

(1) ज्योतिषशास्त्र का परिचय एवं काल विधान का महत्त्व
(2) ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत सिद्धान्त और फलित ज्योतिष का संक्षिप्त वर्णन
(3) कर्मभाव, जायाभाव, सुतभाव, आदि पर विचार करना।
(4) नक्षत्र-देवता, युग, ऋतु, तिथि, मास पर्यन्त सम्पूर्ण विषयों पर एक विहंगम दृष्टि से अध्ययन, मनन-चिन्तन कर नवोन्मेष नवनीत प्रकाशित करना।

शोध-प्रविधि-अनुसन्धेय शोध अध्ययन में सर्वेक्षण की विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग किया गया है।

कूटशब्द -

शास्त्र, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर, होरा, सौरमान, चन्द्रमान, सिद्धान्त-ज्योतिष, फलित-ज्योतिष आदि।

प्रस्तावना

वेदस्य निर्मलचक्षुः ज्योतिषशास्त्रमकल्मषम्।
विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिद्धयति।।[3]

आचार्य भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थ में ज्योतिषविद्या को परिभाषित करते हुए उक्त श्लोक में कहा है कि ज्योतिष वेद के चक्षु है। ज्योतिष रूपी अंग न हो तो कामधेनु वेद के वैविध्य ज्ञान को देखा-परखा नहीं जा सकता। अर्थात् वेद (का) निर्मल चक्षु ज्योतिष ही है। गोपथ ब्राह्मण [4] षडङ्गवित् का उल्लेख है।

तैत्तिरीय आरण्यक में भी [5] में भी वेदाङ्ग को सर्वोपरि स्थान

दिया गया है। रामायण बालकाण्ड [6] में राम को वेदवेदांग तत्वज्ञ बताया गया है। इसी काण्ड में वेदषडङ्गपारगै: से सम्बोधित किया गया है। यही नहीं महाभारत शान्तिपर्व [7] में शिव को वेदांगनि बृहस्पति संज्ञा से विभूषित किया गया है।

मित्रों! मानवधर्म शास्त्र षडङ्गवित् 3-185 और वेदाङ्गानि (4-98) शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यातव्य है महामुनि पतंजली ने भी षडङ्गों के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है-

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्ययोज्ञयश्च।[8]

अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष- ये षड् वेदांग हैं।

उक्त सभी प्रमाणों से षडङ्ग की प्राथमिकता सिद्ध है। इन विस्तृत प्रमाणों के द्वारा ही प्रस्तुत शोध लेख की नवीन सम्पूर्णता पूर्ण होगी। अपने इस प्रस्तावना के मुख्यबीज से इस शोध पत्र के महत्त्व को ज्ञान रूपी तृतीय नेत्र के आद्योपांत अध्ययन कर पुरूषार्थ चतुष्टय की सिद्धि हेतु वेदांग के चक्षु रूपी ज्योतिष के गूढ़ तत्त्वों का उन्मेष करूँगी, जिससे यह शोध-प्रबन्ध निश्चित रूप से सभी के लिए उपादेयता सिद्ध करने में समर्थ होगा। सुभाषित में कहा गया है-

यथा होक्येन चक्रेन न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरूष कारेण विना दैवं न सिद्धयति।।

तात्पर्यार्थ जिस प्रकार एक पहिए से रथ गमन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार षडङ्गों के बिना सृष्टि का संचालन नहीं हो सकता। परन्तु उपनिषद् जो पुष्टि करता है कि -

पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादायपूर्णमेवावशिष्यते।।[9]

परमेष्ठिमण्डल परिपूर्ण को इस मन्त्र का भावार्थ है कि दर्शन करने के लिए षडङ्गों में नेत्र स्वरूप ज्योतिष की अनिवार्यता स्वमेव सिद्ध है। अत: यह शोध चिंतन निश्चित रूप से अन्य शोधवृत्तियों से पृथक् और विशिष्ट होगा, जो गुणवत्ता संवर्धन की दृष्टि से प्रभावी बनाने की दिशा में सहयोगी होगा।

पृष्ठभूमि-भारतीय वाङ्मय के विशाल-भव्य साहित्यिक भण्डार में ज्योतिषशास्त्र को गौरवान्वित करने वाले प्रसंगों की प्रचुरता है। यह अनेक वैशिष्ट्यों से युक्त है, जो सार्वभौमत्व के लिए अपेक्षित है। ज्योतिषविद्या परम-पुरूषार्थ-साधकता धर्म, अर्थ, काम के साथ ही अपवर्ग (मोक्ष) को प्राप्त कराने में समर्थ यह वेद पुरूष का नेत्र संज्ञा से सुशोभित है जो शुभाशुभ फल प्राप्ति का पथप्रदर्शक है। सर्वप्रथम वेदांग के इस भेद का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या के अन्तर्गत हुआ है यथा -

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद:
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दोज्योतिषमिति।[10]

वेदांग ज्योतिष के मतानुसार समस्त वेदांगों में शिर: स्थानीय है। अर्थात् जिस प्रकार मयूर की शिखा उसके मस्तक पर विराजमान रहते है उसी प्रकार षडङ्ग वेदागों में नेत्र रूपी ज्योतिष शिर पर अवस्थित रहते है। द्रष्टव्य -

यथा शिखा मयूराणां, नागानां मणयो यथा।
तद्वत् वेदांगशास्त्राणां, गणितं मूर्धनि स्थितम्।।[11]

ज्योतिष शब्द की व्युत्पत्ति 'द्युतेरिसिन्नदेश्च ज:' कहकर की गई है। भावार्थ है कि 'द्युत दीप्तौ' धातु से इसिन् प्रत्यय कर दकार को जकारादेश करके ज्योतिष शब्द निष्पन्न हुआ, पुन: 'अंशादिभ्यो अच्'(5/2/127) से अच् प्रत्यय के द्वारा ज्योतिष अकरान्त शब्द बना। तत्पश्चात् 'तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थ:' इस पाणिनीय सूत्र से अण् प्रत्यय करके ज्योतिष शब्द व्युत्पन्न हुआ, जिसका आशय है ज्योतिष सम्बन्धित सिद्धान्त व ग्रन्थ । शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति - 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् कर्तव्याकर्त्तव्य के लिए जो करणीय-अकरणीय के विषय में आदेश दे वह शास्त्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त 'शास्त्रत्वं शंसनादपि' अर्थात् किसी लक्ष्य विशेष जो पूर्ण अर्थों का बोध करा दे, वही शास्त्र है। इन व्युत्पत्तियों के अनुसार किसी वस्तु के स्वरूप को उसके वास्तविक सत्य रूप में यथार्थ चित्रण करा दे, वही शास्त्र कहलाता है।

अत: ज्योतिष वह विद्या या शास्त्र है, जिसमें सूर्य, चन्द्र ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त, शुभाशुभ काल का निर्धारण किया जाता है। यथा-

मुहूर्त्ततिथिनक्षत्रमृत वश्चायन तथा।
सर्वाण्येवाकुलानि स्युने स्यात्सांवत्सरो यदि।।

याज्ञीय आदि कार्य के फलिभूत सम्पादन के लिए वैदिक युग से ही ज्योतिषशास्त्र का विधान है। उदाहरणार्थ -

स्वभावादेव कालोऽयं शुभाशुभसमन्वित:।
अनादि निधनो सर्वो न निर्दोषो न निर्गुण:।।[12]

विशेष रूप से ही द्रष्टव्य है कि भारतीय ज्योतिविद् त्रुटि से लेकर प्रलय कल्पान्त तक सराहनीय कार्य किया गया, जो भारतीय धर्मशास्त्र का अनिवार्य अंग है, उसकी सफल महिमामय, हितकारक पूर्णता के लिए वैदिक काल से ही ज्योतिषशास्त्र की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है। 'वेदांग ज्योतिष' नामक ज्योतिषशास्त्र का एक प्राचीन ग्रन्थ है, इसका वेदों से सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ के अनुसार यजुर्वेद से याजुष ज्योतिष का प्रादुर्भव है, जिसमें 43 श्लोक है। ऐसे ही ऋग्वेद पर आधारित, आर्च ज्योतिष है। इसमें 36 श्लोक संग्रहित है। इस ज्योतिष ग्रन्थ के आचार्य है

लगध। श्लोक द्रष्टव्य हैं –

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।[13]

वस्तुतः मानवीय समानता की भावना पर ही समग्रतया ज्योतिष–विज्ञान का विकास हुआ है। यह शास्त्र भारतीय संस्कृति का शृंगार है। यज्ञों का विधान नक्षत्र, तिथि, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, महायुग आदि सारे नियमों के सम्यक् रूप से प्रतिपादन के लिए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है।

वेदांग– ज्योतिष में इसका महत्त्व बताया गया है कि यह शास्त्र यज्ञों का विधान द्योतित करता है। यथा–

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।। [14]

अर्थात् यज्ञीय कार्यों के लिए ज्योतिष–विज्ञान ही प्रमुख है। ध्यातव्य भारतीय ऋषि–मनीषी वैदिककाल से ही लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय हेतु यज्ञानुष्ठान करना अपना अंगी धर्म मानते थे। यही कारण है कि उनके दैनन्दिन कार्य का प्रारम्भ तथा समापन यज्ञ से ही होता था। वह भी ज्योतिष शास्त्र के नियमानुसार। सम्प्रति वेदों में यत्र–तत्र सर्वत्र ज्योतिष–विद्या से सम्बद्ध निम्न तथ्यों का उल्लेख है, जो द्रष्टव्य है–

1. कालं ब्रह्म–इति उपासीत [15]
2. सूर्यो योनिर्वै कालस्य। [16]
3. कालो हि ब्रह्म भूत्वा विभर्ति परमेष्ठिनम्। [17]

अर्थात् काल ही ब्रह्म है। (कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि) वेदांग ज्योतिष, श्लोक–2

ज्योतिष विज्ञान शास्त्र है–यजुर्वेद का कथन है कि ज्योतिष विज्ञान शास्त्र है इसके अन्तर्गत ग्रहों, नक्षत्रों, ऋतुओं, संवत्सरों आदि का चिन्तन–मनन किया जाता है। कहा भी गया है– प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्।[18]

भास्कराचार्य का भी कथन है– वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्रसौरान् इति। इससे स्पष्ट है कि सौर्यमास–चन्द्र–मास आदि सिद्धान्त भारतीय मनीषियों के खगोलीय चिन्तन पर आधारित है, न कि कल्पना मात्र है। ऐसे ही पितृकर्मजन्य दिन–तिथ्यादिविचार पर गवेषणा चान्द्रमान से किया जाता है। उसी तरह सूर्योदय से सूर्योदय पर्यन्त रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधावार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार एवं शनिवार आदि के गणना का आधार खगोलीय गणित है यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। अतः विवरणित वृष्ट्यादि अनन्त विज्ञानों का सर्वप्रथम प्रायोगिक रूप से अध्ययन ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत किया गया। वैदिक काल से ही ज्योतिषविद्या के प्रति ऋषि–महर्षि सजग रहे हैं।

इस प्रकार शास्त्र–सम्मत तथ्यों के आधार पर 'ज्योतिषशास्त्र के इतिहास' के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि इसकी उत्पत्ति ब्रह्माण्ड की निष्पत्ति के साथ ही सिद्ध है। वस्तुतः ऋषि–परम्परा को ज्ञात होने लगा कि लोगों की मेधाशक्ति विस्मृत होने लगे है तो इसकी उपयोगिता एवं परम्परा को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए वेदांगों का उपदेश प्रदान किया। यथा –

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरेतथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः।।[19]

यास्क के मत में –

दुर्बोधतु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्।।[20]

कुछ तत्त्वदर्शी विद्वानों के अनुसार ज्योतिषशास्त्र के उपदेश को सर्वप्रथम किसको प्रदान की गई, उसका उल्लेख निम्न प्रकार व्यक्त किया गया है–

ब्रह्मा प्राह च नारदाय, हिमगुर्यच्छौनकायामलं
माडव्याय वशिष्ठसंज्ञकमुनिः सूर्योमयायाह यत्।

आचार्य (ऋषि) कश्यप के अनुसार ज्योतिषशास्त्र के कोई एक नहीं अष्टादश (18) पर्वतक है। यथा

सूर्य पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रि पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मुनिरंगिराः।।
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोष्टादशश्चैव ज्योतिः शास्त्रपर्वतकाः।।

अर्थात् सूर्य पितामह (ब्रह्मा) वेदव्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु, शौनक आदि अष्टादश महर्षि ज्योतिषशास्त्र के प्रर्वतक (अधिष्ठाता) है।

पाणिनीय शिक्षा में इन वेदाङ्गों की कल्पना इस तरह से की गई है–

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयन चक्षुर्निरूक्तं श्रोतमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।[21]

अर्थात् महर्षि पाणिनि के अनुसार भी ज्योतिष वेद पुरूष का नेत्र है–'ज्योतिषायनं चक्षुः'। चक्षु संज्ञा से यहां तात्पर्य है एक ऐसी त्रिकालदर्शी दिव्यादीव्य दृष्टि से है, जो अलौकिक रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनुभवगम्य कर लेता है। वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र वेद का चक्षु है। यह सिर्फ लोक का ही नहीं अपितु परलोक जाने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। अर्थात् सम्पूर्ण संसार का मार्ग प्रदर्शक करने वाला हित साधक शास्त्र है,

तभी तो आदिकाल से ही ज्योतिषशास्त्र भारतीय संस्कृति का शाश्वत शृगांर है। भास्कराचार्य के अनुसार-

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृता यज्ञा: प्रोक्तास्ते तु कलाश्रयेण।[22]
शास्त्रदस्माद् काल बोधो यत: स्यात् वेदाङ्गतत्त्वज्योतिषस्योक्तस्मात्।

उक्त विवेचनाओं के आधार पर यज्ञ सम्पादन के लिए काल का विधान करने वाला ज्योतिषशास्त्र के तीन पक्ष मुख्य रूप से सिद्ध होते है जो निम्न प्रकार है-1. सिद्धान्त ज्योतिष, 2. फलित ज्योतिष (होरा), 3. संहिता ज्योतिष। आचार्य नारद ने भी कहा है-

सिद्धान्तसंहिताहोरा रूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुज्योति:शास्त्रमनुत्तमम्।।[23]

आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में तीनों भेदों का उल्लेख किया है-

ज्योतिषशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्ध त्रयाधिष्ठितम्।[24]

इन तथ्यों से यह तो सिद्ध है कि ज्योतिषशास्त्र में उल्लेखित तीन सिद्धान्त सभी को मान्य है। उनका अध्ययन अपेक्षित है-

(1) सिद्धान्त ज्योतिष - इस सिद्धान्त ज्योतिष पक्ष के अन्तर्गत त्रुटिकाल से प्रलयकाल पर्यन्त (सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् काल) की गणना उसके भेदोपभेद का वर्णन किया जाता है। ग्रहों के विविध गणित पृथिवी नक्षत्रादि की स्थिति आदि सिद्धान्त पक्ष के प्रतिपाद्य विषय है। तात्पर्य है कि जिस यन्त्र कलादि वस्तुओं का जिस शास्त्र में गणित का समावेश हो उस शास्त्र को शास्त्र मर्मज्ञयों ने 'सिद्धान्त ज्योतिष' कहा है। भास्करचार्य का कथन है-

त्रुट्यादिप्रलयान्तकाल कलना मानप्रभेद: क्रमा-
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथासोत्तरा:।
भूधिष्ण्यग्रह संस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते,
सिद्धान्त: स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधै:।।[25]

सिद्धान्त ज्योतिष के प्रमुख ग्रन्थ हैं सूर्य सिद्धान्त, वशिष्ठ सिद्धान्त पौलिश सिद्धान्त, ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, आदि सिद्धान्त ज्योतिष के प्रमुख ग्रन्थ है। सिद्धान्त ज्योतिष के प्रमुख आचार्य है- ब्रह्मा, अत्रि, वशिष्ठ, रोमक, च्यवन, कश्यप, नारद, व्यास, अंगिरा, मनु आदि ।

'सिद्धान्त ज्योतिष' के विषय में वराहमिहिर कहते है-

तत्कात्सर्योपन यस्य नाममुनिभि: संकीर्त्यते संहिता।

(2) फलित ज्योतिष (होरा) - ग्रह गणित के आधार पर हमारे प्राचीन मनीषियों ने संसार में होने वाले शुभाशुभ परिणामों को व्यक्तिगत (व्यष्टिगत) तथा सामूहिक (समष्टिगत) दोनों दृष्टि से चिन्तन-मनन एवं अध्ययन कर उसके परिणामों का फलाभास कराते रहे हैं। इसी को आचार्यवेत्ता फलित ज्योतिष या होरा की संज्ञा प्रदान की है, जिसके फलस्वरूप यह सामष्टिभूत रूप से सभी चेतनशील मानवों के लिए उपयोगी है। महर्षि नारद लिखते है -

विनैतदखिलं श्रौतस्मार्तं कर्म न सिद्धयति।
तस्माज्जहितात्येदं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।।[26]

इसके महत्त्व को ऋग्वेद, 1-164-47 27 में सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन मास वाली दानों परिधियों का ज्ञान प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि फलितज्योतिष के द्वारा ग्रहों पर फल को बताया जाता है। भेदगत होरा, मुहूर्त्त, ताजिक, प्रश्न, संहिता फलित ज्योतिष के अन्तर्गत आते हैं।

ध्यातव्य 'होरा शास्त्र' को जातक शास्त्र भी कहा जाता है। फलित-ज्योतिष अहोरात्र होते है, जिसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में जो कुछ भी दिन और रात में फलीभूत होता है, वह सब इस शास्त्र से ज्ञात किया जाता है। अहोरात्र के कारण ही होरा शब्द की निष्पत्ति हुई है। जन्मकुण्डली-जन्म-पत्री आदि के निर्माण में होराशास्त्र मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र, अयन, ऋतु आदि को ज्ञातकर फलादेश का निर्धारण करता है। उदाहरणार्थ-

मुहूर्त तिथिनक्षत्रमृतवशचायने तथा।
सर्वाण्येवाकुलानि स्युर्न स्यात्सांवत्सरो यदि।।[28]

इस श्लोक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस शास्त्र में काल के ध्रुव सत्य मानकर ग्रहों एवं नक्षत्रों की स्थिति, गति परिमाण, दूरी आदि विविध-विषयक शुभाशुभ फलों का बोध होता है, वह फलित ज्योतिष कहलाता है। पूर्व में भी बताया गया है कि फलित ज्योतिष का दूसरा नाम 'होरा' भी है। होरा को परिभाषित करते हुए बताया गया है कि -

होरेत्यहोरात्रविकल्पमेके वाञ्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात्।
कर्मार्जितं पूर्वभवे सदादि यत्तस्य पंक्तिं समभिव्यनक्ति।।[29]

होराशास्त्र के विषय में पराशर मुनि का कथन द्रष्टव्य है-

अहोरात्यार्द्यन्तलोपाद्धोरेति प्रोच्यते बुधै:।
तस्य हि ज्ञानमात्रेण जातकर्म फलं वदेत्।।[30]

अर्थात् इस शास्त्र के द्वारा व्यक्ति विशेष के शुभ अशुभ फल का बोध होता है। अत: फलितज्योतिष के आचार्य (होरा) पक्ष का उपयोग शुभ-अशुभ कर्म फल की प्राप्ति के लिए अपरिहार्य मानते है-

कर्म फललाभहेतुं चतुरा संवर्णयन्त्यन्येहोरेति ।
शास्त्रसंज्ञा लग्नस्य तथार्धराशेश्च।।

ज्योतिषशास्त्र के परीक्षणों पर आधारित नक्षत्र- विज्ञान का वेदों में भी विस्तृत विवरण उपलब्ध है। नक्षत्र विद्या को ज्ञात किये

विना वेदार्थ को नहीं समझा जा सकता। इसलिए ज्योतिष को वैदिकाल से ही वेदांग के रूप में स्वीकार कर इसके महत्त्व की अपेक्षा की गई। अथर्ववेद-18-8-1)[31] में नक्षत्रों का वर्णन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार फलित ज्योतिष में नक्षत्रों की गति चाल का सूक्ष्म विश्लेषण कर भविष्य में आकाशीय पिण्डों की क्या स्थिति होगी, इसके बारे में भी भविष्यवाणी की गई है। आवश्यकता है ज्योतिर्वित मनीषियों की उपलब्धता का।

रूद्राष्टाध्यायी के पांचवे अध्याय में ग्रहों के प्रभाव की विस्तृत जानकारी दी गई है, जिससे उक्त बातों की पुष्टि होती है।

(3) संहिताज्योतिष - ज्योतिषशास्त्र के जिस भाग (स्कन्ध) से ग्रह-नक्षत्रादि बिम्ब-प्रतिबिम्ब के शुभाशुभ लक्षणों से प्राकृतिक आकाशीय घटनाओं का ज्ञान विमर्श किया जाता है, उसे संहिताशास्त्र कहते है। वराहमिहिर के अनुसार तथ्य स्पष्ट है -

तत्कात्सर्योपनयस्य नाममुनिभि: संकीर्त्यते संहिता।[32]

उपसंहार - प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से यह ज्ञात हो जाता है कि 'वैदिकवाङ्मय में ज्योतिषशास्त्र' की ऐतिहासिकता उतनी ही प्राचीन है जितने हमारे वैदिक-लौकिक पुरातन ग्रन्थ। वस्तुत: इसका उद्गम वेदों से ही माना जाता है।

वेदों, उपनिषदों आदि प्राचीन ग्रन्थों में सहस्त्रों मन्त्रों में संवत्सर का वर्णन है। यथा- यजुर्वेद (1-164-2 से 13-48)[33] ऋग्वेद (1-164-11)[34] में सूर्य की परिक्रमा के लिए पृथिवी का घूर्णन गति, जिससे दिन-रात, मास, रेखा-पथ, सूर्यग्रहण (ऋग्वेद 5-40-5, 6, 9)[35] वही (1-110-18)[36] में विषुकृत, कोणवृत्त, पुन: (10-29 -4)[37] में पृथिवी में अक्ष का निर्धारण, यज्ञों के लिए अनेकानेक मरूद्गणों का वर्णन, नक्षत्र विद्या, सूर्यसिद्धान्त आदि की विषय में विशद् विवेचना यह दर्शाता है कि 'ज्योतिषशास्त्र' का ज्ञान मनुष्य के लिए सच्चे अर्थों में नेत्र ही है, जो सम्पूर्ण प्रकाश के स्रोत के रूप में है। यह जीवन के लौकिक और पारलौकिक पथ पर विद्यमान् रहता है। यह शास्त्र सांगोपांग प्रत्येक क्षेत्र में सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करता है। सत्य तो यह है कि यह विद्या अपनी ज्योति से संशयों को नष्ट करती है, कष्टों का निवारण हेतु पथ प्रदर्शित कर जीवन के वास्तविकता को समझाने की क्षमता प्रदान करती है। इतना ही नहीं ज्योतिष विद्या विज्ञान के तथ्यों पर आधारित विद्या है, जिसमें धर्म-जाति एवं स्थान विशेष से परे ग्रह-नक्षत्र सूर्य-चन्द्रादि की गणना काल से आबद्ध कर इनकी स्थिति का परिमाप करता है। लगध ने भी कहा है 'कालज्ञानप्रवक्ष्यामि'। निष्कर्षत: -

वेदेषु विद्यासु च ये प्रदिष्टा धर्मादय: काल विशेषतोअर्था:।
ते सिद्धि मायान्त्यखिलाश्च येन तद् वेद नेत्रं जयतीह लोके ।।

तात्पर्यात् भारतीय ज्योर्तिविद् मनीषियों ने जीवन के गम्भीर समस्यायों का चिन्तन एवं समाधान काल के सापेक्ष में किया है, जिसका लोकमंगलकारी रूप ही ज्योतिषशास्त्र का मूलाधार है। विश्वास है यह 'वैदिकवाङ्मय में ज्योतिशास्त्र' के रूप में अन्वेषित यह शोध-पत्र ज्योतिशास्त्र के महत्त्व को उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की दिशा में सहयोगी होगा।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. आर्च, 3 याजुष 2
2. वराहमिहिर- बृ. संहिता, सावंतरसूत्राध्याय, श्लोक सं. 16-7
3. आचार्य भास्कराचार्य, सिद्धान्तशिरोमणि
4. गोपथ ब्राह्मण- 1-27
5. तैत्तिरीय आरण्यक (2-9)
7. महाभारत शान्तिपर्व 212-20
8. महामुनि पतंजलि
9. ईशावास्योपनिषद्
10. मुण्कोपनिषद्, 1-1-5
11. वेदांग, याजुष, श्लोक 4
12. बृहस्पति संहिता 1-14
13. आर्चज्योतिष, श्लोक सं,2
14. वेदांग-ज्योतिष, श्लोक-3
15. मैत्रा उपनिषद् 6/14
16. वही- 6/14
17. अथर्ववेद, 19-53 -9
18. यजुर्वेद, 30/10 19. निरूक्त वार्तिक
20. यास्क
21. पणिनीयशिक्षा, 41-42
22. भास्कराचार्य
23. आचार्य नारद
24. आचार्य वराहमिहिर, बृहत्संहिता 16
25. आचार्य भास्कराचार्य, सिद्धान्तज्योतिष
26. आचार्य नारद
27. ऋग्वेद, 1-164-47
28. बृहद्-संहिता, सावंतरसूत्राध्याय, श्लोक सं. 9
29. बहज्जातक
30. पराशरमुनि, बृहत्पराशर, श्लोक सं.-2
31. अथर्ववेद, 18-8-1
32. वराहमिहिर
33. यजुर्वेद, 164-2 से 13-48
34. ऋग्वेद, 164-11
35. ऋग्वेद, 5-405, 6,9
36. वही, 1-110-18
37. वही, 10-29-4

ISSN 2278 - 0327

वास्तुशास्त्र : एक परिचय

डॉ. विजय कुमार
अतिथि प्राध्यापक (वास्तु)
महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन

भारतीय चिन्तन परम्परा वैदिक परम्परा से ओत प्रोत है। इसी परम्परा का निर्वहन करते हुए हमारे पूर्वजों द्वारा अनेक अमूल्य धरोहरों का हस्तान्तरण किया गया जो कि उस समय और वर्तमान समय के बीच तारतम्य को स्थापित करता है। चाहे कुल परम्परा हो, संस्कृति, संस्कार या शिल्प का क्षेत्र। हर पहलू में आज भी हमें वैदिक परम्परा का दृष्टिगोचर होता ही है। आज के समय में अर्थ प्रधान समाज सुख ऐश्वर्य समृद्धि की कामना में धर्म को गौण करते हुए आभासिक उन्नति को प्राप्त कर रहा है, जिसका पूरा श्रेय विज्ञान व तकनीक को देने में एक क्षण भी नहीं झिझकता।

क्या हम जिस वैदिक काल की बात कर रहे हैं उसमें तकनीक, विज्ञान नहीं था यदि नहीं तो आज के विज्ञान का आधार क्या है? जहाँ कई तकनीकी विश्वविद्यालयों में वैदिक चिन्तन के आधार पर शोध हुए हैं और हो रहे हैं।

भारतीय समाज में काल का बहुत चिन्तन किया जाता है। काल के अनुसार ही हमारी समस्त क्रियाएँ क्रियान्वित होती हैं। इसी के साथ रहन-सहन, वातावरण, आवास आदि का चिन्तन मानव की मूलभूत आवश्यकता है। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए वास्तुशास्त्र का सहारा अनिवार्य हो जाता है। वास्तुशास्त्र सबसे पहले गृह की कल्पना करता है जिससे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को प्राप्त करने का साधन कहा गया है। *गृहस्थस्य क्रिया सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं विना।।* श्रौत एवं स्मार्त्त क्रियाएँ गृह के बिना सम्भव ही नहीं हैं। गृहस्थी हो या सन्यासी उसके लिए आवास आवश्यक है।

वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष का विशिष्ट स्थान है। जिसके विषय में अनेक कथाओं के माध्यम से उसकी उत्पति को जाना जा सकता है। प्रासादमण्डन ग्रन्थ के अनुसार प्राचीन समय में अन्धकासुर एवं भगवान् शिव के बीच युद्ध हुआ। युद्ध के समय भगवान् शिव के शरीर से एक स्वेद कण (पसीना) पृथ्वी पर गिरा। इस कण से एक अत्यन्त विशालकाय दैत्य उत्पन्न हुआ। जिसको देवताओं ने ब्रह्मा की आज्ञा से भूमि में अधोमुख गाड़ दिया। जिसका मुख ईशान कोण (पूर्व एवं उत्तर) में, चरण नैऋत्य (दक्षिण एवं पश्चिम), दोनों भुजाएँ आग्नेय (पूर्व एवं दक्षिण) एवं वायव्य (पश्चिम एवं उत्तर) में स्थापित हो गईं। इसके चारों ओर 45 देवताओं एवं मध्य में ब्रह्मा की स्थिति होती है।

इन्हीं देवताओं से प्राप्त उर्जा को संयमित कर उपयोग करने के लिए वास्तु सिद्धान्तों का अनुसरण आवश्यक हो जाता है। वास्तुशान्ति के समय इन्हीं देवताओं का पूजन विधि विधान से करते हुए मङ्गलकामना हेतु आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है।

ध्यातव्य है कि वास्तुशास्त्र केवल आवास कल्पना तक ही सीमित नहीं है। आवास हेतु भूमि चयन, शिला चयन, शिलान्यास, खात करना, भूमि का शुभाशुभत्व जानना, मुहूर्त्त पक्ष इत्यादि विषय इसके अन्तर्गत आते हैं। इनमें समस्त आवश्यक शास्त्रीय वचनों का ध्यान रखते हुए प्राकृतिक शक्तियों (गुरुत्व, सौर एवं चुम्बकीय), पञ्चतत्त्वों का भी विशेष स्थान है। इसके साथ ही आस पास का वातावरण भी वास्तु अथवा गृह में रहने वाले प्राणीयों को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करता है। जहाँ तक हम यह कहते हैं कि वास्तु विज्ञान है, सत्य है किन्तु मात्र आधुनिक विज्ञान ही वास्तु में है ऐसा नहीं। आधुनिक विज्ञान से अभिप्राय पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रिया, पदार्थ का भार, गति इत्यादि अनेक विषय हो सकते हैं। लेकिन वास्तु शास्त्र में मन, अध्यात्म जिसे हम मनोविज्ञान या अध्यात्म विज्ञान कहते हैं, की भूमिका भी शत प्रतिशत देखने को मिलती है। वास्तु पुरुष की उत्पत्ति अध्यात्म विज्ञान-मनोविज्ञान व आधुनिक विज्ञान का मिश्रित रूप है। जहाँ देवताओं की परिकल्पना भी है, सशरीर कल्पना भी और उत्पत्ति का वैज्ञानिक कारण भी। जिस तरह मानव पिण्ड जो पञ्च तत्त्वों से बना है लेकिन आत्मतत्त्व के बिना उसकी कोई सत्ता नहीं सी प्रकार वास्तु वास्तुपुरुष के बिना कल्पित नहीं हो सकता। शायद इसीलिए गृह

प्रवेश के पश्चात् ही उसे गृह की संज्ञा प्राप्त होती है अन्यथा वह ईंट, पत्थर इत्यादि से बना मकान ही रहेगा। आत्म स्वरूप वास्तुपुरुष का चिन्तन ही उस गृह की आत्मा के रूप में सशरीर प्रतिष्ठित होता है।

भारतीय संस्कृति एवं वास्तुकला

त्रिस्कन्ध [1] ज्योतिष के संहिता स्कन्ध में निहित वास्तुशास्त्र स्थापत्य वेद अर्थात् अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। वेद शब्द का स्थापत्य के साथ सम्मेलन से वास्तु का वेद से सम्बन्ध स्वाभाविक ही दिखता है। इसी के अन्तर्गत वास्तुकला, चित्रकला, वास्तु सम्बन्धी नक्कासी इत्यादि आते हैं। वास्तु के वास्तविक अर्थ को देखा जाए तो आवास की कल्पना ही वास्तु है।[2] किन्तु आवास के साथ-साथ आवास का प्रकार कैसा हो यह भी वास्तु का ही विषय है। जिसमें ऋग्वेद के एक मन्त्र में चतुष्पद व मानवों के कल्याण हेतु आवास की कल्पना दृष्टिगोचर होती है।[3] वैदिक कालीन परम्परा में आवास इत्यादि हेतु भवन के लिए तीस से अधिक पर्याय मिलते हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में वास्तु की अवधारणा मात्र आवास की परिकल्पना ही नहीं अपितु वास्तु का एक उत्कृष्ट स्वरूप प्रचलित था। जिसका प्रचलन पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हुए भारतीय परम्पराओं से होते हुए संस्कृति के रूप में आज भी जीवन्त रूप में प्रतिष्ठित है।

सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय की कल्याण भावना से ओत प्रोत हमारे पूर्वजों का संकल्प भारतीय संस्कृति के संरक्षण में ही रहा है। भारतीय संस्कृति में वास्तुकला का दृष्टिपात किया जाए तो दिग्-देश-काल का परस्पर सम्बन्ध व इनके प्रति पूर्वजों का ज्ञान एक आधारभूत प्रकल्प सिद्ध होता है। निवास के लिए स्थान का चयन, भूमि का परीक्षण, भूखण्ड का चयन व दिक्साधन जैसे वैज्ञानिक बिन्दु भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता को सिद्ध करते हैं। जिसमें शंकु द्वारा दिक्साधन की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन व प्रामाणिक सिद्ध होती है जिसका समर्थन ज्योतिष के समस्त सैद्धान्तिक आचार्यों द्वारा प्रतिपुष्ट किया गया है। स्थापत्य वेद में स्थापत्य कला के विषय में कात्यायनशुल्बसूत्र, सिद्धान्तशिरोमणि, वासनाभाष्य में आचार्य भास्कर, ग्रहलाघव, सूर्यसिद्धान्त[4] जैसे प्रामाणिक ग्रन्थों में दिक्साधन को महत्त्व दिया गया है जो वास्तुकला में मुख्य आधार है।

वास्तु के आदि स्वरूप को देखें तो सर्वप्रथम वास्तुपुरुष की उत्पत्ति पौराणिक कथाओं के माध्यम से स्पष्ट होती है। जिसमें वास्तु को एक पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है।[5] वास्तु के स्वरूप के आधार पर निर्माण का निर्देश भी प्राप्त होता है। जिसमें मुख्य चार प्रकार (भूमि,प्रासाद,शयन,यान) के वास्तु का उल्लेख मिलता है।[6] इसमें भूमि को मुख्य वास्तु के रूप में स्वीकार किया गया है।[7]

लौकिक एवं पौराणिक साहित्य भारतीय परम्पराओं के बहुत निकट रहा है। भारतीय जनमानस की परम्पराओं का आधार लोक में प्रचलित कथाएँ व पौराणिक कथाएँ व उनमें निर्दिष्ट नियम व सिद्धान्त ही रहे हैं। तन्त्र-आगम जैसे विषयों में भी वास्तु का विशिष्ट स्थान रहा है। श्री चक्र पूजन का निर्माण भी वास्तुकला को दृष्टि में रखकर निर्मित किया होगा। जिसमें श्री चक्र का मेरु रूप देवालय वास्तु के लिए कदाचित् प्रयोग किया गया होगा। *श्रीचक्रमपि देवेशि मेरूरूपं न संशय:।*[8] आवास देवालय या वापी कूपादि का निर्माण समस्त विषय वास्तु कला के अन्तर्निहित हैं। देवालय की मुख्य तीन शैलीयाँ (नागर-द्राविड़ एवं बेसर) हैं। इनमें भी प्रयोग किए जाने वाले चित्र इत्यादि व उनका अंकन वास्तु के अनुरूप करना वास्तुकला का ही उदाहरण हैं। जिनमें आठ प्रकार द्वारा चित्रों का कर्म करना निर्दिष्ट है।[9] घरों के द्वारों पर की जाने वाली नक्काशी व लेप्य कर्म भी वास्तुकला के पुष्ट उदाहरण हैं जिनका लोक संस्कृति में व्यवहार किया जाता रहा है। इसमें प्रयोग होने वाले कूचों के विषय में पाँच प्रकार उपलब्ध होते हैं।[10] प्राय: हम लेखन इत्यादि के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली लेखनी का ही स्वरूप जानते हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति के मूल में देखें तो चॉक का प्रयोग लेखन व रेखांकन के लिए किया जाता था। जिसका निर्माण करना व प्रयोग करना भारतीय वास्तुकला में निर्दिष्ट है।[11]

राजाभोजकालीन सभ्यता व संस्कृति के वास्तु से हम सब परिचित हैं। उस काल में बने मन्दिरों व उनकी नक्काशी वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण रहे हैं। साथ ही पुरापाषाणकाल अथवा मध्यपाषाण काल की माने जाने वाली भीमबैठका की चित्रकलाएँ उस समय की संस्कृति एवं वास्तुकला के अनुपम उदाहरण हैं। इनमें चित्रित मानवाकृतियाँ, पशुओं के चित्र, पशु-पक्षी युद्ध के चित्र, हाथी, घोड़े व अनेक आकृतियाँ उस समय की सभ्यता में प्रकृति प्रेम व ज्ञान को दर्शाती हैं।[12]

कालान्तर में वास्तुकला देवालय व दुर्ग [13] निर्माण में भी अपनी एक अलग पहचान के रूप में स्पष्ट हुई। जिसमें छ: प्रकार के दुर्गों व उनमें बनने वाले जालीदार गवाक्ष, देवालय में प्रयोग किए जाने वाले शुकनास व शिखर का निर्माण वास्तुकला के जीवन्त उदाहरण हैं।

(शेष पृष्ठ- 30 पर.....)

ISSN 2278 - 0327

महर्षि वाल्मीकि के श्रीराम

डॉ. जी.एल. पाटीदार
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

चन्द्रेश चौहान
शोधार्थी, संस्कृत विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

शोधसार-

महर्षि वाल्मीकि के राम मानुषी तनु के इतर भगवन् श्रीराम है, जो राम धर्मपालक, मर्यादापुरुषोत्तम, श्रेष्ठराजन्, प्रजारक्षक, शालीन, गम्भीर-गाम्भीर्य, सौम्य, शांत, संयमित, औदात्य, धैर्य की पराकाष्ठ, आदर्श व्यक्तित्व, वीरयोद्धा, महावीर्य एवं महावीर है। ऐसा मानुष्यत्व अब कहाँ? न्याय एवं नीतिसम्मत के प्रबल पक्षधर तथा सनातन भारतीय संस्कृति के प्रथम आदर्श पुरुष और पुरुषों में कोई महापुरुष हैं तो वह पुरुषोत्तम श्रीराम हैं। राम का जीवन आदर्शों एवं संघर्षों के मध्य झगड़ा हुआ सा, पिसता हुआ सा दिखाई देता है। श्रीराम का जो ठहराव था संघर्षों के प्रति, वह बहुत विराट था, इतने समय तक साधारण मानव ठहर नहीं सकता। लेकिन राम तो राम थे, 14 वर्ष का वनवास, बाद में सीताहरण, रावण-युद्ध, सीताग्निपरीक्षण, लोक-सापवाद, सीता-निष्कासन ये सारी घटनाएँ छोटे से जीवन में पुत्र, भ्राता, राजा, पति और पिता सब रूप में राम के सामने खड़ी होती रही। फिर भी वाल्मीकि का राम मानव देह से देवत्व की यात्रा करता है। ऐसे श्रीरामभद्र के गुणों को इस आलेख में बद्ध करने का एक अल्प सा प्रयास ही इसका कलेवर है।

उद्देश्य-

वर्तमान में जहाँ सारे रिश्ते-नाते मानवता के हासियें पर खड़े है, वहाँ राम के गुणों का प्रकटन होना महती आवश्यकता है, सनातन संस्कारिक संस्कृति के आदर्श मानव पुरुषों के पुरुष मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम मानव मात्र के लिए आदर्श व्यक्तित्व रहा है। आज मानव हिंसक बनता जा रहा है। शालीनता, धैर्य, शांति और गाम्भीर्य जो राम के परम गुण थे, वह खो चूका, मानव रावण की तरह आचारण कर रहा है। लोक में रामत्व के गुण नहीं आये तो राक्षस प्रवृत्ति संसार का नाश कर देगी। सांसारिक संघर्षों में कैसे जीना है या जीया जाये? यह राम के गुणों से सीखा जा सकता है, क्योंकि राम गुरुभक्ति, पितृत्वभक्ति, मातृत्वभक्ति, भ्रातृत्वप्रेम, दाम्पत्यप्रेम, प्रजाभक्ति, धर्मरक्षण तथा सन्ततिप्रेम के आदर्श मानक है।

कूटशब्द- राम, वाल्मीकि, पुरुष, भगवन्, रामायण, संस्कृति, आदर्श, धर्म, प्रजा, महावीर्य, महावीर ।

वाल्मीकि के श्रीराम

भरतवर्ष की सनातन सभ्यता और संस्कृति का मूलाधार वेद है। वैदिक युग के उपरांत एक नये युग का पर्दापण हुआ। यद्यपि इस युग की आधारभित्ति प्राचीन थी, तथापि वह अपने साथ एक नवीनता को लिए हुआ था। उसी समय एक अद्भुत काव्य का प्रणयन हुआ, जिसके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि थे। महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण जिसे रामकथा एवं 'चतुर्विंशति संहिता' कहा गया है। जनमानस में रामकथा की संस्कृति तथा सामाजिक चिंतन इस प्रकार समाहित है कि वह आज भी हमें संस्कार देने में सक्षम है। हमारे जीवन मूल्यों तथा आदर्शों का आधार रामकथा में कही न कही किसी पात्र या प्रसंग में देख सकते है। वाल्मीकि ने राम के चरित्र वर्णन में कोई भी ऐसा गुण नही छोड़ा है जिसकी आवश्यकता एक सत्पुरुष को होती है। वाल्मीकि ने राम में जितने गुणों को ढाला है एक व्यक्ति में इतने सारे सद्गुण वर्तमान समय में कल्पना से परे है, राम का परिचय जीवन का वह केन्द्रबिन्दु है, जहाँ से अनेक किरणें परिधि को छूने के लिये निकलती है और अंत में पुनः लौटकर इसी बिन्दु में समाहित हो जाती है। वेद में यज्ञ को भुवन की नाभि बताया है।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।[1]

यहाँ से सभी को ज्ञान इच्छा क्रिया की किरणें प्राप्त होती है। राम में रामायण के सभी पात्र रमते हैं। उसी तरह रामायण के सभी पात्रों में राम निवास करते हैं। कोई इन्हें शत्रु का भाव रखकर प्रतिक्षण स्मरण करता है, जो अन्य रूपों से अधिक शक्तिशाली है। अयोध्या किष्किन्धा, दण्डक और लंका के प्रत्येक व्यक्ति के मन-मस्तिष्क पर इनका प्रभाव, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य

मिलता है। तपस्तेज का राशिभूत होने की वजह से इनके नाम में चुम्बकीय बल विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार इनका नाम जपता है और इनसे आकर्षित होता है। राम का शील कुछ पात्रों के चेतन रहित मन में समाकर उन्हें जीवन संचालन हेतु निर्देश देता है। क्योंकि कोई भी चेतन रहित मन वाला व्यक्ति अपने मन द्वारा ग्रहण किये गये विचारों पर ही आगे बढ़ने लगता है। शीलगुण का यह प्रभाव भरत में विशेष रूप से विद्यमान था। भरत राम के मानसिक भय के कारण कैकेयी के वध से पीछे हट जाते हैं। क्योंकि राम उन्हें मातृ हन्ता समझकर उनका त्याग कर देते।

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्।।[2]

वे शत्रुघ्न से कहते हैं कि भाई मैं तो धर्म के बन्धन से बंधा हुआ हूँ। यदि इसमें वास्तविकता देखी जाये तो यह धर्म बन्धन नहीं, अपितु राम का बन्धन है। क्योंकि धर्म और राम दोनों, एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। दूसरी तरफ अपने पति परमेश्वर श्रीराम का स्मरण करते हुये सीता राम में ही रम गई। मारीचि भी राम का ध्यान करते हुये संन्यासी बन गया। राम के अदृश्य भय से कुछ सत्मार्ग पर चलने लगे तो कुछ उनकी भक्ति में लीन हो गये।

अपिराम सहस्राणि भीतः पश्यामि रावण।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे।।[3]

राम का जीवनचरित्र एक राक्षस की अन्तरात्मा को भी उन्मत्त कर देता है। यद्यपि राम उस समय वनवासी थे। परन्तु अयोध्या के निवासियों को ऐसा लगता था कि राम उनके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से विराजमान है। परोक्ष होते हुये भी प्रत्यक्ष की अनुभूति देना ही राम का पावनचरित्र है। यह कोई मनोविकार नहीं है। अपने इष्ट का रूप दूर रहने पर भी उपासक को प्रत्यक्ष ही दिखाई देते है।

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम्।
चिन्तयन्तोऽध नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः।।[4]

दूसरों की छोड़ो, बालि की पत्नी तारा की दृष्टि में भी राम सभी के शरणदाता है–

रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः।।[5]

इसी तरह बालि–सुग्रीव, तारा–मन्दोदरी, शुक–सारण, विभीषण–मालपवंत, त्रिजटा–सरमा आदि विपरीत पक्ष वाले लोग भी इनके चरित्र का बखान करते नहीं थकते थे। रावण का भाई कुम्भकरण ने भी राम के धर्मनिष्ठा की प्रशंसा मुक्तकंठ से की थी। अन्त में रावण भी पश्चाताप करता है कि उसने विभीषण का कहना क्यों नहीं माना? जीवन एक यज्ञ है तथा रामचरित्र इसकी पूत गंधवती हिमशिखा है। इनके चरित्र की सुगंध सम्पूर्ण रामायण में रची–बसी है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सभी पात्र इनसे प्रभावित है। आदिकाव्य वास्तव में राम का अयन है। महाकाव्य तो बहुत है। नायक भी अनेक हैं। परन्तु कौनसे नायक की माला प्रत्येक घर में जपी जाती है? यह चरित्र काव्यानन्द के अतिरिक्त सहृदय में सौमनस्य का संचार करता है। इसमें चित्रण तो नर का है तथा चित्र नारायण का है। यह रामायण एक अद्भुत काव्य है, तथा राम एक लोकोत्तरचरित्र हैं।

माता–पिता तथा गुरु की आज्ञा का पालन राम के जीवन का सहज तथा स्वाभाविक धर्म था। वे उचित–अनुचित का विचार किये बिना शुद्धचित्त से उनके आदेश का पालन शुद्ध कर्तव्य के अन्तर्गत करते थे। इसके अलावा आदेश के बिना भी जो परम्परागत तथा नैतिकता वश सेवा सिद्धान्त निर्मित है, वह शुद्धकर्तव्य होते हैं। इस दृष्टि से उनकी वृद्धोपसेवा, सर्वभूतहित क्रिया, प्रजानुरंजन, उत्सव–व्यसन में सम्मिलित होना आदि इस कोटि में परिगणित हो सकते है। ऐसे अवसर पर करने वाले की बुद्धि सक्रिय होती है। किन्तु वह पूर्ण रूप से कर्तव्य के संदर्भ में होती है उसके परिणाम के संदर्भ में नहीं। ताडकावध, सुबाहु–वध, अहिल्योद्धार, धनुर्भंग, विवाह से सभी कार्य यदि शुद्ध नहीं माने तो भी शुद्ध के समान तो है ही।

परंतु अरण्यकाण्ड के दशम सर्ग में राम की कर्तव्य भावना एक उद्देश्य के बंधन में बंध जाती है। दण्डकारण्य के निवासियों की प्राणरक्षा, योगक्षेम तथा असुर विनाश का व्रत उनके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। यह लक्ष्य निष्ठकर्तव्य, फलापूर्ति से संयुक्त तथा नैतिक कहा जायेगा। क्योंकि वे इस कार्य के लिये प्रतिबद्ध थे। यह कर्तव्य का मिश्ररूप है। यहाँ उनकी स्वतंत्र इच्छा नहीं होती, इसमें उद्देश्य निहित हो जाता है। सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता में जो कर्तव्य का भाव था, वह राजनीति से प्रेरित कर्तव्य था। उनकी यह मित्रता आरम्भ में नीति पर आधारित थी, परंतु मित्रता प्रगाढ़ होने पर वह नैतिक रूप में परिवर्तित हो गई। सुग्रीव ने अपना वचन पूरा नहीं किया तो राम ने क्रोध करके अपना भाव प्रकट किया, जो कि द्वैत बुद्धि का प्रतीक है। परंतु दूसरी तरफ जब लक्ष्मण अपने सखा पर क्रोध करते हैं, तो राम उन्हें मना करते हैं कि क्रोध पर विजय प्राप्त करना ही आर्यधर्म है। क्रोध के शान्त होते ही उनमें शुद्धकर्तव्य की भावना उत्पन्न हो जाती है। और वह आजीवन बनी रहती है। सुग्रीव की मित्रता भी आरंभ में तो स्वार्थ

से प्रेरित थी, परंतु बाद में वह मित्रता उनका कर्तव्य बन जाती है। इसी भाँति विभीषण की शरणागति आरम्भ में तो राजनीतिक रूप में होती है, परंतु बाद में वह भक्ति की शक्ति में बदल जाती है। रावणवध में भी श्रीराम के तीन उद्देश्य पूर्ण होते हैं- चरित्ररक्षा, सापवाद-निवारण और कुल-कलंक का मार्जन।

न प्रमाणीकृत: पाणिर्बाल्ये मम निपीडित:।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठत: कृतम्।।[6]

यह सम्पूर्ण कार्य धार्मिकता में ही पूर्ण हुआ है। क्षत्रियधर्म की दृष्टि से तो यह शुद्ध है, परन्तु उद्देश्य के साथ मिश्रित होने से यह शुद्धकर्तव्य के अन्तर्गत नहीं आता है। बालिवध राम की दृष्टि में धर्म कार्य था। क्योंकि बालि ने अपने अनुज की वधू को कुदृष्टि से देखा था तो उसके वध में कोई पाप नहीं था। परन्तु सुग्रीव और विभीषण ने अग्रज की वधू के साथ विवाह संबंध स्थापित किया, वह धर्म की दृष्टि से सही था। इस बात का संकेत अंगद ने समुद्र तट पर वानरों को दिया। राम के पूर्व न्याय से तो उन्हें सुग्रीव को पहले वध करना चाहिये था। यदि सुग्रीव के पूर्वा-पर से वे अवगत नहीं थे तो उत्तर कार्य तो उसका लक्ष्मण के सामने हुआ था। फिर भी किसी महान् शूरवीर का, अंजाने में, छिपकर पीछे से वध करना कौनसा क्षत्रिय धर्म है। यह सोते हुये वीर की हत्या के समान जघन्य अपराध है। और इस तरफ बालि का पूर्ण विश्वास था कि दशरथ पुत्र राम परम धर्म का पालन करने वाले तथा पूर्ण सज्जन हैं। यह क्रिया एक वीर पुरुष के प्रति विश्वासघात है। बालि किष्किन्धा का राजा है, स्वतंत्र है। अपने राज्य में ही घूमता है। एक भाई को छोड़कर दूसरे का नाश करना, यह कौनसा आर्यधर्म है। विभीषण की शरणागति के समय हनुमान जी राम से स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि आपका बालिवध नामक यश विभीषण के पास पहुँच गया है। इसलिये यह रावण का वध करवा कर लंका राज्य लेने के लिये आप से मिल रहा है-

उद्योगं तब सम्प्रेक्ष्य मिथ्यावृत्तं च रावणम्।
बालिनं च हतं श्रुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचितम्।।
राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागत:।
एतावत् तु पुरस्कृत्य युज्यते तस्य संग्रह:।।[7]

इस तरह विचार करने से राम का यह कर्म कर्तव्य की श्रेणी में तो नहीं आ सकता, यह तो नैतिक कर्म अथवा क्षत्रिय धर्म के अन्तर्गत भी नहीं आ सकता। यह एक तर्कपूर्ण विषय है। जिसमें राम तर्क से निवृत्त हो जाते हैं। यह कूटनीति न तो धर्म हैं, और न अधर्म है, न नैतिक है, और न अनैतिक है, वह नैतिकेतर राजनीतिक कौशल या कूटनीतिक चतुरता है। युद्ध में नीति मुख्य नहीं है, अपितु परिणाम मुख्य है। बालि के प्रति पहले क्रोध, और बाद में राम में करुणा और सम्मान का भाव पैदा होता है। तारा के प्रति इनमें श्रद्धा और प्रतिष्ठा देखी जाती है। शत्रु-नारी का यह सम्मान मर्यादापुरुषोत्तम राम ही कर सकते है। रावण का विधिवत् श्राद्ध कराने का परामर्श भी विभीषण को राम ही देते हैं। और रावण को मरणोपरान्त सहोदर भाई का स्नेह प्रदान करते हैं। राम का यह कर्तव्य उनका शुद्ध स्वभाव वाला धर्म है। आदर्श लोकनायक को व्यापक हित में कर्तव्य के प्रत्येकस्तर से गुजरना पड़ता है। तभी उसका जीवन पूर्ण होता है।

सत्यधर्म के पालक श्रीराम

वाल्मीकि रामायण के राम धर्ममय है तथा धर्म ही राममय है। धर्म की इच्छा सत्य तथा सत्य की क्रिया धर्म है। एक के अभाव से दूसरा पूरक और दूसरे की अनुपस्थिति में पहला पूरक प्रतीत होता है। महर्षि ने इसलिये सत्य धर्म का प्राय: युगपत प्रयोग किया है। इस जुड़वा तत्त्व का सुन्दर रूप राम है। सीता जी का कथन है-

धर्मिष्ठ: सत्यसंधश्च पितुर्निदेशकारक:।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।।[8]

राम का धर्म निरपेक्ष नहीं, अपितु वह अर्थ-काम सापेक्ष्य है। सुग्रीव के प्रति उनका उपदेश वाक्य है कि जो समय का विभाग करके धर्म-अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) का सेवन करता है, वही राजा है-

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते।
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम्।।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निधेवते।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्त: पतित: प्रतिबुध्यते।।[9]

एक अन्य स्थान पर कथन है कि जैसे भार्या अपने पति के वशीभूत रहकर धर्मपालन में, प्रेयसी रूप से काम क्रिया में तथा पुत्रवती होकर अर्थ प्राप्ति में सहसहायक होती है, उसी तरह धर्म त्रिवर्ग में सहायक होता है।

धर्मार्थ कामा: खलुजीवलो के समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं में भार्येव वश्यात्मिमता सुपुत्रा।।[10]

धर्म की ऐसी सामाजिक, व्यवहारिक और उपयोगी व्याख्या और कहाँ मिलेगी। श्रीराम का स्पष्ट मत है कि जिस कर्म से धर्म की सिद्धि होती है। उसी का प्रारंभ करना चाहिये।

धर्मो यत: स्यात् तदुपक्रमेत।[11]

सीता के प्रति इनका आदेश है कि धर्म को आगे करके ही वह माताओं की सेवा करें। जानकी, माता को शव्या से कहती है

कि धर्म के दो रूप है पर और अपर।[12] किन्तु स्त्री का तो एक ही धर्म है 'भर्ता ही दैवतम्' पति ही उसका देवता होता है। रामायण में सनातन धर्म का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है।[13] जिसका मूल अभिप्राय है- पूर्व ऋषियों द्वारा आचरित, युग-युग से अनुमोदित मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है।[14] चित्रकूट में राम के धर्माचरण पर भरत कहते हैं कि वे शरीर क्लेश से समुत्पन्न धर्म का अन्वेषण कर रहे है। अर्थात् ऐहिक सुख का त्याग करके आत्मतपन के क्रम में जो स्वानुभूत सत्य उपलब्ध होता है, वही धर्म है।[15] श्रीराम का आज्ञापालन रूपी धर्म उनकी अन्तरात्मा द्वारा अग्रेषित होता है। माता-पिता तथा वसिष्ठ के राज्याभिषेक विषयक आदेश का उन्होंने पालन नहीं किया। क्योंकि उसके लिये उनकी अंतरात्मा और बुद्धि अनुमति प्रदान नहीं कर रही थी। सीता की अग्नि परीक्षा के समय वे अपने निर्णय पर अडिग रहे। वाल्मीकि का धर्म स्थिर और जड़ नहीं है। वह चेतन है, और उसमें नवीनता का समावेश होता रहता है। वह प्रसवधर्मा है, उससे अर्थ और सुख की उत्पत्ति होती है-

धर्मादर्थ: प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।।[16]

धर्म, सत्य की क्रियामूलक अभिव्यक्ति या उसका आचरित रूप है। सत्य धर्म का तात्विक रूप है। सत्य के प्रति श्रीराम की आस्था अखण्ड है- जैसे आर्षवाक्यांशों के रूप में कहा गया है- *सत्य वाक्यो दृढवृत:*[17], *राम: सत्पुरूषो लोके सत्य: सत्य परायण:*[18], *महात्मा सत्य संगर:*[19], *रामस्तथा सत्यवृति:*[20], *मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव*[21], *अनृतं नोक्त पूर्व मे*[22], *अनृतं न श्रुतं चैव*[23], *एवञ्च सत्य धर्माभिरक्तानां नास्ति मृत्युकृतं भयम्।*[24] इत्यादि आर्षवाक्य राम की सत्यता के शब्दप्रमाण है।

जाबालि के नास्तिक-मत के खण्डन में उनकी उक्ति विख्यात है कि सभी का मूल सत्य है और सत्य के अतिरिक्त कोई परमपद नहीं है- *सत्यमूलानी सर्वाणि सत्यन्नास्तिपरं पदम्।।*[25]

सत्य के प्रति ऋषि-महर्षि की, संत-महात्मा की या समस्त मानवता की युग-युग में जो आस्था-चली आ रही है। वाल्मीकि ने उसे रामायण के माध्यम से, जिस निर्भीकता और प्राणवत्ता के साथ वर्णित किया है, वह विश्व साहित्य में अतुलनीय है। राम दिव्यगुण संपन्न मानुष है।

दिव्यनायक के रूप में श्रीराम

दैवी शक्ति और सम्पदा में सम्पन्न मुख्य पात्र दिव्यनायक है। दिव्य नायक देने का श्रेय सम्पूर्ण विश्व में केवल वाल्मीकि को है। मानवता के अनेक क्षेत्रों में जो अनुकरण योग्य आदर्श जीवन प्रस्तुत कर चुके है, वे आदिकाव्य के प्रधान नायक राम है। इनके चरित्र में मानवता की गरिमा का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन अद्भुत है। वे सभी के प्रति और सभी उसके प्रति सहानुभूतिशील हो यह दिव्य पात्र सहानुभूति का नाभि केन्द्र है। वाल्मीकि के इस दिव्य नायक में इतने गुण है कि इस पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति उसका व्याख्यान नहीं कर सकता है। कहा भी है- *'वक्तुं न शक्तो रामस्य गुणान् कश्चिन्नर: क्षितौ।।'*[26] इन्होंने अपने पावन चरित्र से ही इस लोक पर विजय प्राप्त कर ली। क्योंकि वे अपने धर्म पर हिमालय पर्वत के समान अटल व स्थिर है- *'स्थित:स्वधर्मे हिमवान् इवाचल:।'*[27] उनका शील इतना महान् है कि वे अयोध्या के ही नहीं, अपितु तीनों लोकों के राज्याधिकारी हो सकते हैं। पुरवासियों का कथन है कि राम जहाँ राजा नहीं, वहाँ वह राष्ट्र नहीं-

नहि तद् भवित राष्ट्रं यत्र रामो न भूपति:।[28]

राम मात्र व्यक्ति नहीं, वे धर्म शासन के उत्तम राज्य के प्रतीक है। विश्व में श्रेष्ठ तन्त्र का अपर पर्याय रामराज्य है। अत: रावण के समक्ष हनुमान का यह कथन सर्वथ सत्य है- *रामस्य लोकत्रयनयकस्य।*[29]

अपने पावनशील और अप्रतिम पराक्रम के कारण वे त्रिलोक नायक के रूप में विख्यात है। उनके वृत्त की सात्विकता, शुचिता के रामायण में अनेक उद्धरण है। राजा दशरथ की स्नेहमयी दृष्टि जिन स्त्रियों पर कभी एक बार पड़ी, पितृवत्सल राम ने उन सभी के साथ सदा मातृवत व्यवहार किया वे धर्मवेत्ता है, इसलिये मान का त्याग करके सभी का आदर व यथायोग्य उचित सम्मान करते है- *मातृवत् वर्तते वीर।*[30]

राम का जीवन आद्योपान्त तप: पूत: है। वे अपने क्षत्रमात्र के सानिध्य से किसी का जागतिक जीवन पवित्र सध: कर सकते हैं। यह कर्तृत्व साधारण नर का नहीं, दिव्य नायक का है। पति के निधन से विधवा तारा शोक संतप्त है। चिन्ता से मानस सद अशुचि रहता है। वाल्मीकि का कथन है कि तारा ज्यों ही भगवान् राम के निकट पहुँचती है, वह उसी क्षण सर्वात्मना पवित्र हो जाती है- *सातं समासाध विशुद्ध सत्वा।*[31] राम का ऐसा दिव्यनायकत्व कहा किस ग्रन्थ में दिखाई देता है? ऐसे दिव्यपुरुष है, श्रीराम।

निष्कर्ष-

राम राम है। राम का नाम लेने से ही मन के सारे विकार नष्ट हो जाते है तथा मन, बुद्धि, अहंकार आदि समस्त मानव वृत्तियाँ पावनजल में स्नान कर लिया हो ऐसा अनुभूत कराती है, शरीर मलिनता को त्याग देता है। ऐसे गुणों की खदान वाले श्रीराम किसको प्रिय नहीं है? राम बनना किसी योगी के कठोरतम व्रत के पालन की तरह परिश्रमपूर्ण है। राम के गुणधर्मव्यवहार को

युगों-युगों तक याद एवं लिखा जायेगा। आज के बिगड़ते दौर में हर व्याक्ति में ये गुण होने चाहिए, नहीं तो समाज और राष्ट्र का मजबूत एवं सुरक्षित रह पाना मुश्किल है। वाल्मीकि का राम घर-घर और घट-घट में विराजमान है, तथा गुणों का भण्डार है। धर्म और सत्य के दर्शन एक साथ करने हो तो श्रीराम के व्यक्तित्व को देखे। सारे सांसरिक किरदार राम में रमते है, और रमण करते नजर भी आते है, ऐसे महावीर्य एवं महावीर है, श्रीराम।

।। जयश्रीराम ।।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. ऋग्वेद, 1.164.35
2. वाल्मीकि रामायण, 3/78/22
3. वाल्मीकि रामायण, 3/39/16
4. वाल्मीकि रामायण, 2/52/42
5. वाल्मीकि रामायण, 4/15/12
6. वाल्मीकि रामायण, 6/116/2-16
7. वाल्मीकि रामायण, 6/17/66
8. वाल्मीकि रामायण, 3/5/7
9. वाल्मीकि रामायण, 4/38/20-21
10. वाल्मीकि रामायण, 2/29/57
11. वाल्मीकि रामायण, 2/21/57
12. वाल्मीकि रामायण, 2/26/39, 2/32/31
13. वाल्मीकि रामायण, 1/21/45, 2/30/38, 3/4/20, 5/1/113, 4/18/18, 2/15/26
14. ऋग्वेद, 1.1.2
15. वाल्मीकि रामायण, 2/55/34
16. वाल्मीकि रामायण, 3/5/30
17. वाल्मीकि रामायण, 1/1/2
18. वाल्मीकि रामायण, 2/2/28
19. वाल्मीकि रामायण, 2/106/6
20. वाल्मीकि रामायण, 2/82/6
21. वाल्मीकि रामायण, 3/8/4
22. वाल्मीकि रामायण, 4/7/22
23. वाल्मीकि रामायण, 3/37/12
24. वाल्मीकि रामायण, 6/46/33
25. वाल्मीकि रामायण, 2/2/100
26. वाल्मीकि रामायण, 6/30/30
27. वाल्मीकि रामायण, 2/112/30
28. वाल्मीकि रामायण, 2/37/38
29. वाल्मीकि रामायण, 5/51/43
30. वाल्मीकि रामायण, 2/117/6
31. वाल्मीकि रामायण, 4/42/30

****

(पृष्ठ-25 का शेष.....)

भारतीय संस्कृति से भारत की धरोहरें हमेशा ही स्पर्श में रहीं हैं। भारतीय संस्कृति एवं वास्तुकला वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल की दीर्घ यात्रा में अपना परिचय देती रही है। इन्हीं परम्पराओं के कारण ही नगर विन्यास में जयपुर शहर, देवालय में रामेश्वरम्, कोणार्क का सूर्य मन्दिर, पौराणिक सन्दर्भों से ओतप्रोत दुर्ग एवं किले आज भी अपने यथावत् रूप में हमारे समक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

सन्दर्भ सूची -

1. सिद्धान्तशिरोमणि भूमिका
2. बृहद्वास्तुमाला अध्याय 01 श्लो.04
3. ऋग्वेद अध्याय 07-54-01
4. सूर्यसिद्धान्त त्रिप्रश्नाधिकार श्लो. 01-04
5. बृहद्वास्तुमाला अ.01 श्लो.04
6. मयमतम् अ.02 श्लो.04
7. वही
8. ज्ञानार्णवतन्त्र ,श्रीयन्त्रम्-साधना एवं सिद्धि पृ.23
9. समराङ्गणसूत्रधार अध्याय 71 श्लो. 15-16
10. समराङ्गणसूत्रधार अध्याय 73, श्लो. 13
11. समराङ्गणसूत्रधार अध्याय 72 श्लो. 04-09
12. https://hi.wikipedia.org/wiki%E0%A4%AD%E0%A5%80%E0%A4%AE%E0%A4%AC%E0%A5%87%E0%A4%9F%E0%A4%95%E0%A4%BE_%E0%A4%B6%E0%A5%88%E0%A4%B2%E0%A4%BE%E0%A4%B6%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%AF
13. धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरीदुर्गं तथैव च ।
    मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ।।
    महाभारत शान्ति पर्व अध्याय 87 श्लोक 05

ISSN 2278 - 0327

प्रमुख उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्त : एक अनुशीलन

डॉ. राजकिशोर आर्य
असिस्टेंट प्रोफेसर, संहिता और संस्कृत विभाग
आयुर्वेद संकाय, आई.एम.एस. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश –

उपनिषद् प्राय: वैदिक सिद्धान्तों की ही व्याख्या करते हैं। संसार के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रहा है। क्योंकि वास्तविक ज्ञान के अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है जो कि हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। वेदों को आधार मानकर भारतीय मनीषियों ने जगत् की व्याख्या के प्रसंग में अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, त्रैतवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की। सभी आचार्यों ने विभिन्न प्रमाणों तथा तर्कों के आधार पर अपने-अपने मत की पुष्टि की है। यद्यपि सभी मत अत्यन्त तार्किक हैं इसलिए यह कह पाना कठिन है कि कौन सा मत सत्य के अतिनिकट है। फिर भी यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो त्रैतवाद ही सत्य प्रतीत होता है। लोक व्यवहार में तीन सत्ताएँ स्वीकार की जाती हैं- ईश्वर, जीव और प्रकृति। कोई तो परम सत्ता है जो समस्त संसार का निर्माण करके प्रकृति के नियमों का नियमन करता है, वही ईश्वर है। उपनिषदों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान, अकाय, अजन्मा, अनादि, परिभू, स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त माना गया है। दूसरी सत्ता है जीवात्मा, जो कर्ता और भोक्ता है, कर्म करता है तथा पाप और पुण्य से ग्रसित होकर सुख और दु:ख अनुभव करता रहता है। सद्ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। तथा तीसरी सत्ता प्रकृति है, ईश्वर और जीव के अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी इस संसार दृश्य अदृश्य आदि रूप में विद्यमान है वह प्रकृति है। इस प्रकार यदि संक्षेप में कहा जाये तो प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित है तथा ईश्वर सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। अत: ईश्वर और जीव चेतन स्वरूप हैं तथा प्रकृति जड़ है, फिर भी तीनों ही सत् हैं अर्थात् तीनों ही शाश्वत हैं जिनका न तो कभी आदि है और न ही अन्त।

कूटशब्द –

उपनिषद्, ईश्वर, अकाय, परिभू, स्वयम्भू, साक्षी, जीवात्मा, जगत्, पुनर्जन्म, मोक्ष, बन्धन, सत्, चित्, आनन्द।

उपनिषदों में ईश्वर, जीव और जगत् –

वैदिक मनीषियों ने ब्रह्म, जीव और जगत् के विषय में व्यापक विचार किया है। जिनमें इन तीनों पर वेद, वेदांत, उपनिषद्, मनुस्मृति, सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक एवं मीमांसा के साथ ही निरुक्त, भगवद्गीता तथा प्रशस्तपाद, शंकर और दयानन्द के भाष्यों में स्पष्टतया विचार मिलता है। ये विचार आपस में कुछ मिलते जुलते हो सकते हैं परन्तु उनमें पर्याप्त अन्तर भी है।

उपनिषदों में ईश्वर की अवधरणा –

ईशवास्योपनिषद् के आठवें मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। तदनुसार परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सब शरीरों से रहित, बंधन में न आने वाला, सर्वज्ञ, सर्वदा शुद्ध गुणों वाला है। ईशावास्योपनिषद् में लिखा है-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भूर्याथात्यतोऽर्थान् व्यवधच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य:।[1]

अर्थात् ईश्वर आकाश के समान सर्वव्यापक है।[2] का कोई शरीर नहीं है[3], उसमें किसी प्रकार का घाव भी नहीं होता, वह नस-नाड़ियों के बन्धन से भी रहित है, सर्वथा शुद्ध और पवित्र है, उसमें लेशमात्र भी किसी प्रकार का पाप नहीं है[4], वह क्रान्तदर्शी है अतीत और अनागत को भी जान लेता है[5], सभी के हृदयों की गुह्यतम बातों से भी अवगत रहता है, वह चारों तरफ विद्यमान है, उसको बनाने वाला कोई नहीं है, वह अपने आप में पूर्ण है, प्रकृति के नियमों का यथायोग्य रूप से विधान किया हुआ है। इस संसार में जो कुछ भी है उसके कण-कण में उसका वास है।[6] इसको इन्द्रियों के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता।[7] इन सभी गुणों से भिन्न होने के कारण ही जीवात्मा और परमात्मा में भेद है। ईश्वर के ही विषय में वेदान्त कहता है ब्रह्म ही मलीन सत्त्व की प्रधनता के कारण ईश्वर के नाम से जाना जाता है। वह अक्षर ब्रह्म दिव्य, अमूर्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनविहीन,

विशुद्ध एवं श्रेष्ठ है तथा इन सभी विषेशणों से युक्त भी है और परे भी।[8] उसी परब्रह्म से ही सूर्य, चन्द्र, तारे, बिजली आदि प्रकाशित होते हैं, उसके समक्ष अन्य सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि:।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।[9]

अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि आदि उपनिषद वाक्यों के माध्यम से ब्रह्म विषयक ज्ञान दिया गया है। इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं किया गया है। उपनिषद् अत्यन्त गूढ विद्याओं का प्रतिपादन करते हैं। उनके यथार्थ मन्तव्य को समझना आसान काम नहीं है।

इस प्रकार जीवात्मा एकदेशीय, शरीर का धारण करने वाला, अविद्यादि दोषों से ग्रस्त, अल्प सामर्थ्य वाला और अल्पज्ञ है। अज्ञान का आवरण हट जाने से जीवात्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य हो जाता है और वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

प्रायश: सभी उपनिषदों में मोक्ष प्राप्ति के उपायों की व्यापक चर्चा हुयी है। कठोपनिषद के अनुसार जिसने ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में आहवनीय, गार्ह्यपत्य और दक्षिणाग्नि का चयन किया है, जिसने माता-पिता व आचार्य की सेवा कर ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन कर्मों को प्रतिदिन प्रतिपादित करता है, वह उपासना के योग्य परमात्मा को जानकर दु:ख से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जो इस ग्यारह द्वार वाले शरीर से आश्रमों के अनुरूप कर्त्तव्य करता है और मिथ्या ज्ञान से रहित होकर पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा देव ऋण से मुक्त हो जाता है, वह भी मोक्ष का अधिकारी है। ईशावास्योपनिषद के चौदहवे मन्त्र में मोक्ष प्राप्ति के लिए अविद्या व विद्या से भिन्न कर्म व उपासना को तथा ज्ञान को आवश्यक बताया गया है। परमेश्वर को जाने बिना जीवात्मा का अज्ञान नष्ट नहीं होता और उसको जानने के लिए ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों ही आवश्यक हैं, तभी मोक्ष सम्भव है। केनोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मज्ञान से जीवों को कई प्रकार की सामर्थ्य प्राप्त होती है और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।[10]

मुण्डकोपनिषद् में ऋषि का कथन है- वे मनुष्य परमात्मा के समीप वास करते हैं जो तप, धर्माचरण और अत्यन्त श्रद्धा से शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिर हो जाते हैं, जो अधर्म के परित्याग से शांत मन वाले वेदादि सत्य शास्त्रों के विद्वान् हैं, वे भिक्षा करते हुए भी सब अविद्याओं से छूटकर परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[11] इसके साथ ही जो सत्याचरण, तपस्या, ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य द्वारा दोषमुक्त हो चुके हैं, ऐसे शुद्ध अंत:करण वाले धर्मात्मा, ज्ञानी, संन्यासी लोग परमात्मज्ञान प्राप्त करके मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्धों पर गहन चिन्तन हुआ है। जीव और ब्रह्म के बीच में स्थित माया पर कोई विचार नहीं हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह ही की मायावाद की अवधरणा वेदों की रचना के युगों के बहुत बाद में प्रथम बार आदिगुरु शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। समसामयिक संदर्भों में माया का उल्लेख किये बिना यह अध्यात्म चर्चा अधूरी लगती है। यह माया ही सृष्टि है। यह सम्पूर्ण जगत् ही माया है।

उपनिषदों में आत्मतत्त्व की अवधरणा -

उपनिषदों में कठोपनिषद् और ईशावास्योपनिषद् में जीवात्मा का व्यापक वर्णन है। हम सभी जानते है कि आत्मा कोई सूक्ष्म ऊर्जा है जो इस पंचभूत के सम्मिश्रण को संचालित करती है और उसे चेतन अवस्था में रखती है। यह ऊर्जावान सूक्ष्म शक्ति जब शरीर को छोड़ देती है तब शरीर मृत माना जाता है और उसकी चेतनावस्था समाप्त हो जाती है, तब शरीर में विभिन्न प्रकार के विकार, सड़न, दुर्गन्ध आदि उत्पन्न होने लगते हैं।

उपनिषदों में जीवात्म का ऐसा कोई वर्णन नहीं है जिससे आत्मा को सहज ही समझा जा सके। आत्मा यदि ईश्वर का अंश है तो उसमें भी वह सभी विशेषताएँ होंगी जो ईश्वर में हैं और हम आज तक ईश्वर के बारे में कितना समझ पाए है? यह तो लोकविज्ञ ही है।

आत्मा के बारे में उपनिषदों में सब कुछ संकेतों, उदाहरणों और आत्मा के वैशेषिक गुणों के माध्यम से समझाया गया है। कठोपनिषद् कहता है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च।।[13]

यहाँ रूपक द्वारा समझाने का प्रयास किया गया है कि आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। तात्पर्य यह है कि शरीर रूपी रथ से आत्मा रूपी रथी सर्वथा भिन्न है। रथी कभी भी रथ का परित्याग कर सकता है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जीवात्मा शरीर से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्ता है। कठोपनिषद् में नचिकेता यम से तृतीय वर के रूप में आत्मा की सत्ता के विषय में पूछने पर[14] यम उन्हें आत्मा की निगूढ़ता का परिचय देते हुए कहते हैं कि- *'देवैरत्रपि विचिकित्सितम् पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्म:'*[15] अर्थात् आत्मा विषयक ज्ञान के सम्बन्ध में देवों को भी सन्देह रहता है। आत्मा की नित्यता के सम्बन्ध में कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा न तो उत्पन्न होती है

और ही न मरती है।[16] यह नित्य है, अजन्मा है, शाश्वत् है, अत्यन्त प्राचीन है। शरीर के नष्ट होने पर भी इसका विनाश नहीं होता।[17] तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा को आनन्दमय बताया गया है। आनन्द ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।[18] कठोपनिषद्[19] और ईशावास्योपनिषद्[20] दोनों ही यह मानते हैं कि जीवात्मा भोक्ता है। यदि जीवात्मा भोक्ता न हो तो हमें तन्मात्रओं (रूप, रस, गंध, शब्द व स्पर्श) की अनुभूति हो ही नहीं सकती। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा ही विषयों का ज्ञाता और भोक्ता है।

गीता की भांति ही उपनिषदों की भी यही मान्यता है कि जीवात्मा का पुन: अवतरण होता है। कठोपनिषद् में स्पष्टरूप से कहा गया है कि अन्न की भांति मनुष्य जन्म लेता है, वृद्ध होता है और नष्ट होकर पुन: जन्म लेता है।[21] कठोपनिषद् में ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ईश्वरीय व्यवस्था पर विश्वास न करने वाला जीवात्मा बार-बार जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। इसी प्रकार जो जीवात्मा मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाता उन्हें भी भव-चक्र में फसना पड़ता है। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि जो आत्मघाती होते हैं वे प्रेत योनियों में जाते हैं।[22] इससे भी पुनर्जन्म की अवधारणा को बल मिलता है।

कठोपनिषद् के अनुसार मानव शरीर में अंगुष्ठ परिमाण वाला हृदय है जिसमें आत्मा का निवास रहता है। इसे ब्रह्मपुर कहते हैं। यहीं से वह प्राण-वायु को ऊपर तथा अपान वायु को नीचे फेंकता है। मन आदि सभी देव उसी के नियंत्रण में कार्य करते हैं। हृदय के समीप एक सौ एक नाड़ियां हैं, इनमें एक सुषुम्ना नाड़ी है जो ब्रह्मरंध्र की ओर जाती है। इससे होकर जीवात्मा ब्रह्मरंध्र में जाकर उत्क्रमण कर मोक्ष प्राप्त करता है। जो ऐसा नहीं कर पाता वह कर्मानुसार अन्य योनियों में भटकता फिरता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मा में ही द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणसहित मन समाहित है। यह जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और विशाल से भी विशाल। कठोपनिषद् में लिखा है कि-

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतु: पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मन:।।[24]

उपनिषदों में सृष्टि-प्रक्रिया -

सृष्टि उत्पत्ति के विषय में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जैसे पृथ्वी में औषधियाँ स्वत: ही उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार सत्पुरुष से केश लोम आदि स्वभावतया ही उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार उस अविनाशी परब्रह्म से यह समस्त संसार उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार मकड़ी जाला बुनती है तथा नष्ट करती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सृष्टि का निर्माण तथा विनाश करता है।[25] उक्त वाक्य से ही यह भी स्पष्ट होता है कि जाले के प्रति मकड़ी जिस प्रकार उपादान और निमित्त कारण दोनों है उसी प्रकार सृष्टि के प्रति ब्रह्म भी उपादान और निमित्त कारण दोनों है। अर्थात् उसको सृष्टि-निर्माण में किसी प्रकार के बाह्य उपादान आदि की आवश्यकता नहीं होती। उसी ब्रह्म से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से क्रमश: प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म तथा कर्मफल की उत्पत्ति होती है।[26] इसी अक्षर पुरुष से ही प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और समस्त संसार की धारयित्री पृथिवी की उत्पत्ति होती है।[27] उसी ब्रह्म से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भी उत्पन्न हुए।[28] उसी से ही सभी समुद्र, पर्वत, नदियाँ, औषधियाँ आदि भी उत्पन्न हुईं।[29] इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण संसार ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है इसलिये सभी ब्रह्मरूप ही है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवैदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।[30]

उपनिषदों में सृष्टि स्वप्न और माया के समान माना गया है।[31] यहाँ लीलान्याय से सृष्टि मानी गयी है। प्रभु की इच्छा मात्र ही सृष्टि है।[32] वेदान्तसार में भी उपनिषद्वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि-*'तम: प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्य: पृथिवी चोत्पद्यते तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:।'*

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति बताई गयी है। समस्त संसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। माया या अविद्या से आवृत्त होने के कारण हम ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाते। इस प्रकार उपनिषद् की दृष्टि में यह समस्त संसार ब्रह्म का ही विवर्तरूप[33] है। अज्ञान के समाप्त होते ही व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार करके मुक्त हो जाता है।

ईश्वर, जीव और प्रकृति में सम्बन्ध -

ईश्वर, जीव और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए श्वेताश्वेतरोपनिषद् में ऋषि कहते हैं कि-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।।[34]

अर्थात् दो पक्षी सुन्दर पंखों वाले, साथ-साथ जुड़े हुए एक दूसरे के मित्र हैं। एक वृक्ष को वे सब ओर से घेरे हुए हैं। उनमें से एक वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है तथा दूसरा बिना चखे सब कुछ साक्षी भाव से मात्र देख रहा है। जीवात्मा और परमात्मा ही ये दो पक्षी हैं, प्रकृति वृक्ष है, कर्मफल इस वृक्ष का फल है, जीवात्मा को कर्मफल मिलता है, परमात्मा प्रकृति से

आसक्त हुए बिना, साक्षी भाव से जीव और प्रकृति को देख रहा है यानि परमात्मा दृष्टा मात्र है।

उक्त निदर्शन से पता चलता है कि जीवात्मा और ब्रह्म दोनों प्राय: सामानधर्मा है तभी परस्पर मित्र है परन्तु जीवात्मा रूपी पक्षी कर्मादि बन्धनों में बधकर कर्मफल को भोगता है, परन्तु ईश्वर किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं फंसता, वह केवल साक्षी या द्रष्टाभाव से जीवात्मा के क्रियाकलाप को देखता रहता है तथा कर्मानुसार फल का विधान करता है। सही मायने में वह तटस्थ परीक्षक है और समय आने पर शुभाशुभ कर्मों का फल भी देता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म को जीव के समान नहीं दर्शाया गया। इसके अनुसार ब्रह्म अतीव सूक्ष्म होने के कारण जीवात्मा से भी व्यापक है। जीवात्मा अविद्या ग्रस्त रहता है अत: वह ईश्वर को जान नहीं पाता। यहाँ जीवात्मा को परमात्मा का शरीर बताया गया है और उनमें व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। यथा- *'य आत्मनि तिष्ठन आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्य आत्मा शरीरम्।'*

तैत्तरीयोपनिषद् ने जीव और ब्रह्म के बीच एक नूतन अन्तर की उद्भवना की है। ऋषि कहते हैं कि- *'रसं ह्येवायम् लब्ध्वानन्दी भवति।'*[35] अर्थात् परमात्मा आनन्दस्वरूप है पर जीव नहीं। जब जीव योगादिक साधनों से शुद्ध होकर अथवा ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा के स्वरूप को जान लेता है तब उसे परमानन्द की अनुभूति होती है। यहाँ प्राप्य-प्रापक भेद से जीव और ब्रह्म के बीच की भिन्नता प्रकट की गयी है।

सन्दर्भ सूची -

1. ईशावास्योपनिषद् 8.
2. आत्मा पर्यगात्परिसमन्तादगाद्रतवानाकाशवद्व्यापी इत्यर्थ:। शा.भा. 8.
3. अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थ:। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेध:। तत्रैव.
4. अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम्। तत्रैव.
5. कवि: क्रान्तिदर्शी सर्वदृक्। तत्रैव.
6. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। ईशो. 1.
7. नैनद्देवाप्नुवन् पूर्वमर्शत्। ईशो. 4.
8. दिव्यो ह्यमूर्त: पुरुष: सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज:। अप्राणो ह्यमना: शुभ्रो ह्यक्षरात्परत: पर:। मुण्ड. 2.1.2, पृ. 472.
9. मुण्ड. 2.2.10, पृ. 499.
10. आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्। केनो. 2/4.
11. तप: श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्त:। सूर्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति यत्रमृत: स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।। मु. 1/2/11
12. अन्त: शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:।। मुण्ड. 3/1/5
13. कठ. 3/3.
14. येयं प्रेते विचित्सा मनुष्येऽस्तीयेके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय:।। कठ. 1.20.
15. कठ- 1/21.
16. नायं हन्ति न हन्यते। कठ. 2.19.
17. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं बभूव कश्चित्। अजो नित्य: शाश्वतो अयम पुराणो, न हन्यते न हन्यमाने शरीरे।। कठ. 2/18.
18. आत्मा आनन्दमय:, आनन्द आत्मा। तैत्ति., अनु. 5.1, पृ.184.
19. येन रूपं रसं गंधं शब्द: स्पर्शाश्च मैथुनाना। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।। इत द्वैतत।। कठ. 4/3.
20. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद्धनम्।। ईश. 1.1.
21. सस्यमिव मर्त्य: पच्यते सस्यमिववाजायते पुन:। कठ. 1/6.
22. तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:। ईशा. 3.
23. मुण्ड. 2.2.5, पृ. 491.
24. कठो. 2.20-
25. यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति। यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। मु.1.7, पृ. 447.
26. .... ततो6पमभिजायते। अपात्प्राणो मन: सत्यं लोका: कर्मसु चामृतम्।। तत्रैव.
27. एतस्माजायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी।। मुण्ड. 2.1.3, पृ. 474.
28. मुण्ड. 2.1.7, पृ. 480.
29. मुण्ड. 2.1.7, पृ. 482.
30. मुण्ड. 2.2.11, पृ. 501.
31. स्वप्रमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पित:। माण्डू.आ.प्र. 7, पृ.562.
32. इच्छामात्रं प्रभो: सृष्टिरिति। तत्रैव., पृ. 564
33. अतत्त्वतोऽन्यथा भावो विवर्त्त इत्युदीरित:। वेदान्तसार.
34. मुण्ड. 3.2.3
35. तैत्तिरीयोपनिषद्.

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

- ईशादि नौ उपनिषद्, (शाङ्करभाष्य) गीताप्रेस गोरखपुर, सं- 2067.
- उपनिषदों का सन्देश, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 2012.
- उपनिषदों का सन्देश, स्वामी रंगनाथ, रामकृष्ण मठ, नागपुर.
- उपनिषदों की भूमिका, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1981.
- उपनिषद् दर्शन, वीरेन्द्र पाल सिंह, पंकज पब्लिकेशन्स, दिल्ली 1994.
- उपनिषद रहस्य, नारायणस्वामी, सार्वदेशिकप्रकाशन, दिल्ली.
- उपनिषद् वाङ्मय विविध आयाम, वेदवती वैदिक, नाग पब्लिकेशन, दिल्ली 1997.
- तैत्तिरीयोपनिषद्, (सं-) भानु प्रकाश पन्त, अनन्त विजय प्रकाशन संस्थान देहरादून 2006.
- उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राम चन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, राजस्थान.
- वाक्यपदीय, भर्तृहरि, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली 1995.
- वेदान्तसार, सदानन्द योगी, (सं-) राकेश शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली 2004.

ISSN 2278 - 0327

महावाक्यार्थ विमर्श

(ब्रह्मसूत्रभाष्यों के आलोक में)

डॉ. घनश्याम मिश्र
सहायकाचार्य, सर्वदर्शनविभाग
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, श्री रणवीर परिसर, जम्मू

'महावाक्य' शब्द वेदान्त दर्शन में पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। समस्त वेद के अर्थ का सार तथा वेदान्त का सर्वोच्च ज्ञान महावाक्यों में निहित है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अनेक मूल्यवान् निर्देश, वेदों का तात्पर्यार्थ तथा सृष्टि के रहस्यमय भाव बीज रूप में समाहित होने के कारण ऐसे वाक्यों को 'महावाक्य' के रूप में अभिहित किया गया है। महावाक्यों में निहित ज्ञान की पराकाष्ठा तथा अर्थ-गाम्भीर्य के कारण ही वेदान्त को वेद का सार कहा गया तथा इनको आधार बनाकर अनेकानेक भाष्य लिखे गये ।

वैसे तो गूढार्थ रहस्यों को उद्घाटित करने वाले अनेक महावाक्यों की परिगणना विद्वानों द्वारा की गयी है, किन्तु उनमें से ऋग्वेद के ऐतरेय- आरण्यक का 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (5/3), शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् का 'अहं ब्रह्मास्मि' (1/4/10), सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि' (6/8/7) तथा अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् का 'अयमात्मा ब्रह्म' (मंत्र 2) इत्यादि महावाक्य अति प्रख्यात हैं ।

अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, वीरशैवविशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, स्वरूपाद्वैतादि वेदान्त परम्पराओं में एक ही महावाक्य 'तत्त्वमसि' को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। चिन्तन भेद से अर्थभेद परिलक्षित होता है। अत: दृष्टिकोण भेद के परिणामस्वरूप ही वेदान्त परम्परा में 'तत्' पद को कहीं सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य, कहीं चिदचिद् से विशिष्ट चैतन्य, कहीं अंशी के रूप में, कहीं शरीरी के रूप में, कहीं शेषी के रूप में, कहीं आश्रय के रूप में, कहीं अतत् के रूप में और कहीं शिव के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस प्रकार 'तत्' के भिन्न-भिन्न अर्थ, 'त्वम्' के भिन्न-भिन्न अर्थ और दृष्टिकोण भिन्न होने से 'तत्' और 'त्वम्' के सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं ।

प्रस्तुत शोध-पत्र में उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, वीरशैव- विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, स्वरूपाद्वैतादि वेदान्त परम्पराओं का आश्रय लेते हुए छान्दोग्योपनिषद् के 'तत्त्वमसि' (6/8/7) महावाक्य का प्रमाण पुरस्सर विश्लेषण एवं अर्थ-निर्धारण किया गया है ।

अद्वैत परम्परा

अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' (ब्रह्मज्ञानावलीमाला, 20) इस तथ्य के प्रतिपादन हेतु गुरु द्वारा शिष्य को 'तत्त्वमसि' (छा.उ.6/8/7) महावाक्य का कथन किया जाता है ।'तत्' और 'त्वम्' पदों के तात्त्विक एकता के प्रसंग में आचार्य शङ्कर का कथन है- 'स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वंपदवाच्यार्थ:। उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशासम्पन्नं शुद्धचैतन्यं त्वंपदलक्ष्यार्थ:।' (तत्त्वबोध, अध्याय-5) अर्थात् 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ स्थूल और सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव है, किन्तु 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ उपाधि रहित तथा समाधि दशा में अनुभव होने वाला शुद्ध चैतन्य है ।

इसी क्रम में 'तत्' पद को परिभाषित करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है- 'एवं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टईश्वर: तत्पदवाच्यार्थ: उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थ:।' (वही.) अर्थात् 'तत्' पद का वाच्यार्थ सर्वज्ञत्वादि उपाधि विशिष्ट ईश्वर है, किन्तु 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ उपाधि शून्य शुद्ध चैतन्य है। 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ-निर्धारण के अनन्तर सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ निश्चित करने के प्रसंग में आचार्य शङ्कर का कथन है-

तत्त्वं पदार्थौ निर्णीतौ वाक्यार्थश्चिन्त्येतऽधुना ।
तादात्म्यमत्र वाक्यार्थस्तयोरेव पदार्थयो: ॥ (वही,37)

सम्पूर्ण 'तत्त्वमसि' महावाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ की एकता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य को सूचित करता है। इसी क्रम में आचार्य शङ्कर 'तत्' और 'त्वम्' पदों के लक्ष्यार्थ में तादात्म्य को सूचित करते हैं-

तत्त्वमस्यादिवाक्यं च तादात्म्यप्रतिपादने ।
लक्ष्यौ तत्त्वं पदार्थौ द्वावुपादाय प्रवर्तते ॥ (वही,42)

अर्थात् लक्ष्यार्थ में ही वेदान्त मत का तात्पर्यार्थ निहित है। सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य जीवब्रह्मैक्य में निहित होने से आचार्य शङ्कर का कथन है-

तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थं यज्जीवपरमात्मनोः ।
तादात्म्यविषयं ज्ञानं तदिदं मुक्ति साधनम् ॥ (वाक्यवृत्ति,6)

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य से उत्पन्न होने वाला जीव और परमात्मा का तादात्म्य विषयक ज्ञान मुक्ति का साधन है।

भेदाभेद परम्परा

भास्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते हुए जीव और ब्रह्म के मध्य भेदाभेद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ब्रह्म को जीव से भिन्न एवं अभिन्न दोनों रूप में स्वीकार किया है- 'भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्म इति स्थितम्।' (ब्र.सू.भास्करभाष्य,1/1/4) कारणावस्था में वह अभिन्न और कार्यावस्था में भिन्न है- 'ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वभाव्यात् ।यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय ।' (वही,2/1/24) अर्थात् दुग्ध का दधिरूप में जिस प्रकार परिणमन होता है, वैसे ही ब्रह्म का भी जीव एवं प्रपञ्च रूप में परिणमन होता है। वह ब्रह्म अपनी इच्छा से लोक हित के निमित्त स्वशक्त्यनुसार परिवर्तित होता है- 'स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति।' (वही,2/1/14) पारमार्थिक रूप से ब्रह्म और जीव जल-तरंग तुल्य हैं, जिसमें ऐक्य स्वाभाविक और वैभिन्य औपाधिक है- 'स च ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नः। तस्याऽभिन्नत्वं स्वाभाविकं, भिन्नत्वमौपाधिकम्' (भास्करमत, 2/3/53 अणुभाष्य में उद्धृत)।

'तत्त्वमसीति श्रुतेर्भिन्नाभिन्नो जीवः स्वाभाविकं नित्यसिद्धमभिन्नं रूपमितरदौपाधिकं प्रवाहनित्यमिति विवेकः।'(ब्र.सू. भास्करभाष्य,3/2/6) अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा संसारोपाधि के नष्ट होने पर ब्रह्म और जीव का अभेद वास्तविक प्रतीत होता है। उपाधिगत भेद के नाश होने पर जैसे घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही अविद्या रूपी उपाधि के नाश होने पर जीव ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है- 'यतः प्रादुर्भूताः तत्रैव स्वकारणे प्रलीयन्ते' (ब्र.सू.भास्करभाष्य, 4/2/14)।

विशिष्टाद्वैत परम्परा

शाङ्कर वेदान्त और रामानुज वेदान्त में 'तत्त्वमसि' महावाक्य में समन्वय की दिशा में भेद है। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार 'तत' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप जीव का बोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंशों में विरोध होने पर भी भागत्याग लक्षणा द्वारा ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन किया जाता है।

आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शाङ्कर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है। उनके अनुसार जीव चित्, जगत् अचित् तथा चित् और अचित् से विशिष्ट तत्त्व ब्रह्म है- 'तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वात् ।' (श्रीभाष्य, 2/3/45) 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प एवं जगत् कारणरूप ब्रह्म का और 'त्वम्' पद अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का बोधक है- 'तत् सामानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति।' (वही,1/1/1) रामानुज वेदान्त में अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का अन्तर्यामी रूप से कथन करते हुए 'तत्' और 'त्वम्' पद का वाच्य अन्ततः एक ही शुद्ध चैतन्य में माना गया है- 'अन्तर्यामिरूपेण अवस्थितस्य परस्य शरीरतया प्रकारत्वात् जीवात्मनः तत्प्रकारं ब्रह्मैव त्वम् इति शब्देन अभिधीयते' (वेदार्थसंग्रह, पृ.92) ।

रामानुजाचार्य के मतानुसार जीवात्मा के वाचक 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के अन्तर्वर्ती 'त्वम्' आदि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान होता है- 'जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादि शब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा 'मामेवविजानीहि'- 'मामुपासस्व' इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश'(श्रीभाष्य,1/1/31)। विशिष्टाद्वैत चिन्तन में जीव एवं ब्रह्म के बीच शरीर-शरीरीभाव माना गया है- 'जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः' (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ.176)। ब्रह्म शरीरी एवं जीव- जगत् (चित् और अचित्) ब्रह्म के शरीर हैं। वह शरीरी ब्रह्म, शरीर रूप जीव-जगत् का आधार है, इसलिए 'मामेवविजानीहि', 'मामुपासस्व' - 'मुझे ही जानो' और 'मेरी ही उपासना करो' इत्यादि में आत्मा के शरीरी परमात्मा का उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है। अन्य स्थलों पर जीव शेष एवं ब्रह्म को शेषी के रूप में बताते हुए 'शेष- शेषी भाव' भी माना गया है ।

द्वैत परम्परा

आचार्य मध्व 'तत्त्वमसि' महावाक्य का व्याख्यान जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को स्वीकार न करके पूर्णप्रज्ञ-भाष्य (2/3/29) में 'भिन्नाः जीवाः परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपतः' के द्वारा जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए आत्यन्तिक भेद का प्रतिपादन करते हैं-

आह नित्यपरोक्षं तु त्वच्छब्दो ह्यविशेषतः।

त्वं शब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत् ॥

(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 233)

'तत्' शब्द सामान्य रूप से नित्य परोक्ष पदार्थ का बोध कराता है, जबकि 'त्वम्' पद प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक है, अत: दोनों में ऐक्य सम्भव ही नहीं है। ईश्वर अनन्त गुणों से युक्त होने के कारण पूर्ण है, जबकि जीव अल्प है- 'ब्रह्मशब्देन पूर्णगुणत्वेना-नुभवसिद्धात्मगुणो जीवो भेद:' (न्यायविवरण, मध्व,1/1/1)।

मध्वाचार्य ने 'तत्त्वसंख्यान' नामक ग्रन्थ में स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र के रूप में सत्ता के दो भेद किये हैं- 'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते' (तत्त्वसंख्यान, पृ. 1)। द्वैत वेदान्त में जीवों का परस्पर एक- दूसरे से भेद तथा परमात्मा से भेद नित्य रूप से माना गया है- 'सर्वेपि जीवा: परस्परं परमात्मना च भिन्ना:' (पद्मनाभसूरिकृत पदार्थसंग्रह, 85)।

आचार्य मध्व ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ 'त्वं तदीय: असि' एवं 'त्वं तस्य असि' के रूप में किया है। इस प्रकार द्वैत चिन्तन में 'स आत्मातत्त्वमसि' महावाक्य की 'स आत्मा अतत्त्वमसि' के रूप में व्याख्या करते हुए कहा गया है- 'आत्मा अतत् त्वम् असि' तुम वही (परमात्मा) नहीं हो, क्योंकि स्वतन्त्रता, सर्वज्ञत्वादि गुण तुममें नहीं है ।

द्वैताद्वैत परम्परा

आचार्य निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् में आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव और जगत् ब्रह्म के आश्रित तथा ब्रह्म आश्रय है ।इस मत के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में अंशांशिभाव है। जीव अंश तथा ब्रह्म अंशी है- 'अंशवाची हि पादशब्दस्तेन ब्रह्मांशो जीव:।' (ब्र.सू.नि.भा., भावदीपिकाटीका, 2/3/42) अंश होने के कारण जीव, ब्रह्म से भिन्न एवं अभिन्न दोनों है- 'ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञ: स्वस्वरूपतो भिन्न एव' (वेदान्तपारिजात-सौरभ, 2/1/22)।

जीव और ब्रह्म के मध्य प्रवर्त्य-प्रवर्तक भाव तथा जीव 'अज्ञ' और ब्रह्म के 'ज्ञ' होने से ब्रह्म से जीव भिन्न है- 'जीवेश्वरयो: प्रवर्त्यप्रवर्तकभावेराजभृत्ययोरिवात्यन्तभिन्न एवांश:' (ब्र.सू.नि.भा. भावदीपिकाटीका 2/3/42)। अंश-अंशी भाव होने से जीवेश्वर अभिन्न भी है- 'प्रतिबिम्बो जीव: बिम्बस्थानीयो हीश्वर:, उभयानुस्यूतं शुद्धं चैतन्यम्' (ब्र.सू.नि.भा., वेदान्तकौस्तुभटीका 4/4/7)।

वेदान्त पारिजात के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य का कथन है- 'चिदचित्स्वाभाविकभेदाभेदाश्रयो भगवान्वासुदेव: श्रीपुरुषोत्तम:।' (वही,1/1/1) अर्थात् भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम चिदचिद् स्वाभाविक भेदाभेद के आश्रय हैं। निम्बार्क मत में भेद और अभेद दोनों को ही परमार्थत: सत्य माना गया है। 'जीवपरमात्मनो: स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवत इत्यर्थ:।' (वेदान्तकौस्तुभ 2/3/42) अर्थात् भेद भी स्वाभाविक है और अभेद भी स्वाभाविक है।

निम्बार्क परम्परा में अखण्डार्थक वाक्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार कोई भी वाक्य अखण्डार्थक नहीं हो सकता। समस्त वाक्य सखण्डार्थक एवं समस्त ज्ञान सविकल्पक है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद भी संसृष्टार्थ का बोधक है। अत: 'तत्त्वमसि' महावाक्य को अखण्डार्थ बोधक वाक्य नहीं कह सकते ।'सोऽयं देवदत्त:' इस दृष्टान्त में भी विशेषणविशिष्ट विषयक प्रतीति होती है। वह प्रतीति निष्प्रकारक न होने के कारण अखण्डार्थ विषयक प्रतीति नहीं है। इसलिए अखण्डार्थ बोध में 'सोऽयं देवदत्त:' दृष्टान्त नहीं बन सकता।

शुद्धाद्वैत परम्परा

वल्लभाचार्य ने जीव और ईश्वर के बीच अंशांशिभाव सम्बन्ध माना है। माध्व चिन्तन में भी जीव और ईश्वर के बीच अंशांशिभाव सम्बन्ध बताया गया है, किन्तु वहाँ जीवों की सत्ता ईश्वर से पूर्णत: भिन्न है, जबकि वल्लभ वेदान्त में 'जीवो नाम ब्रह्मणो अंश:' (ब्र.सू.वल्लभभाष्य 2/3/43) के अनुसार जीव ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न है। शुद्धाद्वैत चिन्तन में तादात्म्यरूप अद्वैत को स्वीकार किया गया है। यहाँ प्रत्यक् बोध चैतन्यरूप जीव 'त्वम्' पद का तात्विक रूप है और पूर्ण अद्वितीय आनन्दरूप ईश्वर 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।'तत्त्वमसि' महावाक्य के विश्लेषण के क्रम में 'तत्' और 'त्वम्' का प्रतिपादन करते हुए शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में गोस्वामी गिरिधरदास जी का कथन है-

'सिद्धान्ते तु सुवर्णवज्जगदिदं ब्रह्मैव जीवस्तथा ।'

(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृ. 16)

'सुवर्णस्यांशा: सुवर्णरूपास्तथा ब्रह्मांशं जगद् ब्रह्मैव, तथा जीवोऽपि चिदंशो ब्रह्मानेन वाक्येन बोध्यते' (वही, रामकृष्णभट्टप्रणीत प्रकाश व्याख्या, पृ.16)। जिस प्रकार सुवर्ण के अंश सुवर्ण रूप वाले होते हैं, वैसे ही ब्रह्मांश जगत् तथा चिदंश जीव भी ब्रह्ममय (अभिन्न) है ।

अविभागाद्वैत परम्परा

आचार्य विज्ञानभिक्षु के मतानुसार जीव वस्तुत: ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी ब्रह्मस्वभाव सम्पन्न है। ब्रह्म और जीव के बीच अंश-अंशी भाव सम्बन्ध है। यहाँ जीव को ब्रह्म का अंश बताते हुए कहा गया है-'तस्मात् पितापुत्रवदग्निस्फुलिङ्गसूर्य-तत्किरणादिवच्चैव ब्रह्मजीवयोरंशांशिभावो मतव्य:।'

(विज्ञानामृतभाष्य, 2/1/43) अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पिता का अंश, चिन्गारी अग्नि का और किरण सूर्य का अंश होती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का अंश है। सृष्टि काल में जीव ब्रह्म से पृथक् (विभक्त) तथा प्रलय व मोक्ष दशा में उससे अविभाग- सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है-

'प्रलये जीवावस्थानं ब्रह्माविभागेनैव संभवति ... ततश्च सर्गकाले जीवा: पितुरिव पुत्रा विभक्ता भवन्ति' (वही, 2/1/14)। दृष्टान्त- पद्धति के माध्यम से अविभाग- सम्बन्ध को बताते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु का कथन है कि जिस प्रकार जल का दुग्ध से अथवा लवण का समुद्र से अविभाग- सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार का अविभाग जीव और ब्रह्म के मध्य मानना चाहिए- 'जलस्य दुग्धे लवणस्य समुद्रे अविभागव्यवहार: ... जीवस्यापि ब्रह्मण्यविभाग:' (वही, 1/1/2)।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में आचार्य विज्ञानभिक्षु का कथन है-'अविद्यानिवर्तकतयाऽभ्यर्हितत्वेन बाधकाभावे सर्वत्रैवाभेदवाक्येषु ब्रह्मात्मतापरत्वस्यौत्सर्गिकत्वात्।' (वही,1/1/2) अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा अज्ञान रूपी बन्धन की परिसमाप्ति होने पर शुद्ध अन्त:करण में जीवब्रह्मैक्य विषयक (अविभक्त) प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ अविभक्तावस्था में भी भेद रहता है- 'मोक्षकालेऽपि भेदघटितं साम्यं श्रूयते।' (वही) भिक्षु मत में विभाग और अविभाग ब्रह्म और जीव के मध्य सम्बन्ध को द्योतित करता है।

अचिन्त्यभेदाभेद परम्परा

आचार्य बलदेव विद्याभूषण जी ने ब्रह्म और उसकी शक्तियों के भेद और अभेद दोनों को वास्तविक तथा यथार्थ माना है। यहाँ 'परेशस्यांशो जीव: अंशुविरांशुमत: तद्भिन्नस्तदनुयायी तत्सम्बन्धापेक्षीत्यर्थ:' (ब्र.सू.गोविन्दभाष्य,2/3/41) के अनुसार जीव ब्रह्म का उसी तरह अंश है, जैसे सूर्य किरण सूर्य का अंश है यहाँ अंश का तात्पर्य 'शक्ति' से है- 'ब्रह्मशक्तिर्जीवो ब्रह्मैकदेशत्वात् ब्रह्मांशो भवति।' (वही) अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म का एक देश अथवा शक्ति है। यहाँ ब्रह्म और जीव के मध्य अचिन्त्य- भेदाभेद सम्बन्ध माना गया है ।

वीरशैवविशिष्टाद्वैत परम्परा

इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव को शिव का अवयव माना गया है- 'तस्मान्मायिन: परमशिवावयवलेश: पुरुषो जीव:' (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य,2/3/41) ।इसी क्रम में सिद्धान्तशिखामणि में भी अनादि अविद्या के सम्बन्ध से जीव को परम शिव का अंशभूत ही माना गया है- 'अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामक:' (सिद्धान्तशिखामणि 5/34)। यहाँ जीव और ब्रह्म में चित् के एकत्व किन्तु अणुत्व तथा विभुत्व के विरुद्ध प्रमाणत्व के कारण भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है- 'जीवब्रह्मणोर्भेदाऽभेद एवाङ्गीकर्तव्य:। जीवा: ब्रह्मण: अंशा एव . . . शिवांशोजीव:।' (वही, 2/3/40-41) जीव और ब्रह्म में विशेषण- विशेष्य अथवा अंशांशिभाव होते हुए भी जीव का भेद और अभेद दोनों ही पारमार्थिक एवं स्वाभाविक है- 'जीवपरयोर्विशेषण विशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते।' (वही, 2/3/43) जैसे अग्नि के अग्न्यांशों का अत्यन्त भेद या अत्यन्त अभेद न होकर वस्तुत: भेदाभेद होता है, वैसे ही जीव- शिव का सम्बन्ध है।

शैवाद्वैत परम्परा

इस सम्प्रदाय में ब्रह्म को शिव रूप में व्याख्यायित किया गया है। उनके अनुसार जीव का शिव के साथ सह- अस्तित्व होने से जीव, शिव का अंश है- 'तस्माज्जीवो ब्रह्मणोंऽशभूत एव तत्स्वरूपं प्रतिपद्यते।' (शैवभाष्य 2/3/42) इसी सम्बन्ध में शिवार्कमणिदीपिकाटीका में कहा गया है- 'पारमार्थिके सत्येव विशेषणत्वेन विशिष्टैकदेशतया परमेश्वरांशो जीव इति' (2/3/42)। जब ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या का क्षय हो जाता है, तब जीव शिव के समान हो जाता है । अविद्यारूपी पशुत्व की निवृत्ति के विना जीव शिवत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। अत: 'शिव एको ध्येय:' (शैवभाष्यभूमिका में उद्धृत) श्रुति के अनुसार सतत शिवोऽहं का भाव प्रवाहित होने से अविद्यादि बन्धन के शिथिल होने पर उपासक शिवरूप हो जाता है- 'तत्त्वमस्यादिवाक्यानां शरीरशरीरिभावार्थकत्वाभावेऽप्यारोपित भेदोपासनाविधि परत्वमस्त्विति शंकाञ्च निवृत्तब्राह्मणादिदेहाभिमानमयपशुभावस्य निरतिशयस्वरूपानन्द साक्षिस्वप्रकाश शिवरूप पराहंभावापत्तिर्मुक्ति:' (शैवभाष्यभूमिका, पृ.9)।

शैवविशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म में ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- 'जीव एव ब्रह्म स च सर्वेषामसन्दिग्धाविपर्यस्तप्रत्यक्षानुभव सिद्ध:।...जीव एव ब्रह्मेति तद्ज्ञानस्य कर्तृसंस्कारद्वारा क्रत्वर्थत्वात् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' (शैवभाष्यभूमिका, पृ. 8-9) 'अंशो नानाव्यपदेशात्' अधिकरण में ब्रह्म को ही जीव रूप उपाधि में अभिव्यक्त हुआ माना गया है- 'ब्रह्मैवोपाधिवशात् जीवभावमापद्यते।' (वही.) यहाँ 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या करते हुए 'जीवब्रह्मणोर्व्याप्य-व्यापकभावेनानन्यत्वम्' (वही.) के द्वारा जीव और ब्रह्म में व्याप्य- व्यापक भाव सम्बन्ध बताते हुए ब्रह्मात्मैक्य भाव का प्रतिपादन किया गया है ।

स्वरूपाद्वैत परम्परा

श्रीपञ्चाननतर्करत्न भट्टाचार्य जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं । उनके मत में भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक है । यहाँ ब्रह्म बिम्ब तथा जीव उसका प्रतिबिम्ब है- 'प्रतिबिम्बमेव जीवो न त्वंश:।' (शक्तिभाष्य, 2/3/50) जीव और ब्रह्म के बीच बिम्ब- प्रतिबिम्ब भाव बताते हुए कहा गया है- 'बिम्बभूतस्य परमात्मन एकत्वमंशित्वं च प्रतिबिम्बत्वपर्यवसन्नमंशत्वं नानात्वं च जीवानां सिद्धयति' (वही, 2/3/44)।

इसी क्रम में शक्तिभाष्य में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है- 'तत् सत्यं' तत्पदार्थश्चिदचिद्रूप: तस्य सत्यत्वमपि तदुभयरूपतया... हे श्वेतकेतो! त्वं तदसि चिदचिदुभयात्मकं ब्रह्मासीति जीवस्यापि यत् चिदचिदुभयात्मकत्वं तत्र चित् प्रतिबिम्बम्, बिम्बादन्यत, अचित् कार्यं।'(शक्तिभाष्य, 1/1/6) यहाँ 'तत्' पदार्थरूप ब्रह्म चिदचिद् से विशिष्ट है तथा 'त्वम्' पदार्थरूप जीवात्मा भी चिदचिदुभयात्मक है। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और जीव में यद्यपि पूर्ण अभेद है, तथापि उपास्य- उपासक भाव से दोनों में भेद भी विद्यमान है। ब्रह्म उपास्य है और जीव उपासक है। जीव की संज्ञा अणु है, वह सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अधीन है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या के सन्दर्भ में कहा गया है- 'तत्पदञ्च न प्रक्रान्तपरामर्शकं किन्तु ब्रह्मवाचकं ... स एवात्मा तस्यैव त्वंपदार्थेन सहाभेदो दर्शित:' (शक्तिभाष्य 1/4/1)। इस प्रकार ब्रह्म और जीव आश्रयाश्रयिभाव से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि चिन्तन-भेद से अर्थ-भेद के परिणाम स्वरूप ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का व्याख्यान कहीं 'तत् त्वम् असि' के रूप में (वही तुम हो अर्थात् ब्रह्म और जीव में अभेद), कहीं 'तस्मै त्वम् असि' के रूप में (अर्थात् उसके लिये तुम हो, सेव्य-सेवक भाव की प्रधानता), कहीं 'तस्मात् त्वम् असि' के रूप में (अर्थात् उससे तुम हो, आश्रय-आश्रयी भाव की प्रधानता), कहीं 'तस्य त्वम् असि' के रूप में (अर्थात् उसका तुम हो, द्वैत परक भाव की प्रधानता) और कहीं 'तस्मिन् त्वम् असि' (अर्थात् उसमें तुम हो, अंशी- अंश भाव) के रूप में किया गया है ।

इस प्रकार भाष्यकारों का कहीं अद्वैतपरक भाव, कहीं द्वैतपरक भाव, कहीं भक्तिपरक भाव की प्रधानता के कारण दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होने से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विश्लेषण एवं अर्थ-निर्धारण भी भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। उपर्युक्त सभी व्याख्यान वेदान्त परम्परा में मान्य हैं तथा समाज में उसके लाखों अनुयायी हैं, जिनकी आस्था इस पर टिकी हुई है ।

ISSN 2278 - 0327

आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत 'परमार्थसार' में सृष्टि-प्रक्रिया विमर्श

डॉ. प्रदीप
(सहायक प्रोफेसर)
संस्कृत विभाग, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संक्षिप्तिका (Abstract) -

भारतीय दार्शनिक ज्ञानपरम्परा में मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। मोक्ष की प्राप्ति हेतु परम तत्त्व के ज्ञान को आत्मसात करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में ज्ञान के आधारस्तम्भों को आगम-निगम ज्ञानधाराओं के रूप में माना गया है। आगमशास्त्रों में मोक्ष की प्राप्ति हेतु धर्म, दर्शन, आध्यात्म, भक्ति , तन्त्र, साधना एवं शक्तिपात इत्यादि गम्भीर विषयों का वर्णन सर्वत्र परिलक्षित होता है। भारतीय दार्शनिक दृष्टि से सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष के संदर्भ में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा का प्रतिपादन किया गया है। जिनमें सिद्धान्त, साधना एवं सृष्टिप्रक्रिया के संदर्भ में मोक्ष का वर्णन किया गया है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में काश्मीरशैवदर्शन का अन्यतम स्थान है। इसमें परम शिव का साक्षात्कार करना ही मोक्ष माना गया है। इसके दार्शनिक विषयों में सृष्टिप्रक्रिया के रहस्य का साक्षात्कार करते हुए मोक्ष की प्राप्ति को सरलता से बताया गया है। काश्मीर शैवदर्शन एकमात्र दर्शन में जिसमें तत्त्वमीमांसा में छत्तीस तत्त्वों का परिगणन किया गया है। यह संख्या सभी भारतीय दर्शनों में सर्वाधिक है। काश्मीर शैवदर्शन के प्रायशः सभी आगम ग्रन्थों में सृष्टिप्रक्रिया के तत्त्वों की मीमांसा सरलता के साथ प्रतिपादित की गई है।

प्रस्तुत शोधपत्र में *''आचार्य अभिनवगुप्त प्रणीत 'परमार्थसार' में सृष्टि-प्रक्रिया विमर्श''* का समीक्षात्मक वर्णन प्रतिपादित है।

शब्द-संकेत (Key words)-

परमशिव, स्वातन्त्रशक्ति, सृष्टिप्रक्रिया, शक्ति, माया, प्रकृति एवं पृथ्वी अण्ड़ों का वर्णन, छत्तीस तत्त्वों का विश्लेषण ।

विषय (Subject) -

काश्मीर शैवदर्शन की आचार्य परम्परा में आचार्यत्रयी का नाम सर्वोपरि माना जाता है। इनके द्वार विरचित ग्रन्थों का काश्मीर शैवदर्शन के साहित्यिक ज्ञानपरम्परा में महनीय योगदान है। जिसमें आचार्य सोमानन्द के द्वारा शिवदृष्टि, आचार्य उत्पलदेव के द्वारा सिद्धित्रयी एवं आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा लगभग पैंतालीस ग्रन्थों के लेखन का परिगणन किया गया है।

काश्मीर शैवाचार्य परम्परा में आचार्य अभिनवगुप्त को साहित्य, दर्शन, तन्त्र, आध्यात्म, कला, संगीत, नाट्य, काव्य एवं आगम ग्रन्थों का अधिकारिक विद्वान् माना जाता है। उनके द्वारा विरचित रचनाओं में *तन्त्रालोक, परमार्थसार, परात्रिंशिकाविवरण, मालनीविजयवार्तिक , अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन टीका, तन्त्रसार, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रवटधानिका, भगवतगीतार्थसंग्रह, अनुतराष्टिका, परमार्थचर्चा, क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, शिवदृष्ट्यालोचन, बोधपञ्चदशिका, रहस्यपंचदशिका* सर्वप्रसिद्ध हैं। काश्मीर शैवदर्शन के प्रारम्भिक स्वरूप को आत्मसात करने के लिए उनके द्वारा परमार्थसार ग्रन्थ की रचना की गई।

जनश्रुति में कहा जाता है कि किसी आधारमुनि अथवा आदिमुनि की आधारकारिकाओं का चयन करके उनमें शैवदृष्टि का संस्कार करते हुए परमार्थसार ग्रन्थ की रचना की। परमार्थसार ग्रन्थ के व्याख्याकार आचार्य योगराज के मत में आधारमुनि का अभिप्राय अतिप्राचीन सिद्धगुरु शेषमुनि से है। अनन्तमुनि भी इसका नामान्तर नाम रहा है।[1]

परमार्थसार शब्द मुख्य रूप से दो शब्दों के संयोग से बनता है जिसमें परम+अर्थ को ग्रहण किया गया है। जिसका सामान्य अर्थ है - परम के अर्थ को जानना अथवा परम का साक्षात्कार करना। काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि का मूल कारण तत्त्व परम शिव को माना गया है। मानव जीवन में स्वात्मक का साक्षात्कार करना ही परमतत्त्व की अद्वैतता को प्राप्त करना है।

आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा परमार्थसार में सर्वप्रथम परमार्थ का स्वरूप का विवेचन करते हुए सृष्टि-प्रक्रिया का विकासोन्मुखी

भाव अवस्था में छत्तीस तत्त्वों का सरलता के साथ प्रतिपादन किया है।

परमार्थसार का मंगलाचरण –

काश्मीर शैवाचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा परमार्थसार के मंगलाचरण में जगत् के कल्याणकारी शिव को शरणागत होकर नमन करते हुए कहा गया है –

परं परस्थं गहानादिमेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये॥

अर्थात् मैं अभिनवगुप्त विश्वोतीर्ण भूमिका पर अवस्थित , माया तत्त्व से अतिक्रान्त, एक ही चिन्मात्रसत्ता होने पर भी नानारूपधारी रुद्र और क्षेत्रज्ञ नाम वाले प्रमाताओं में अनुस्यूत, सारे पदार्थों का विश्रान्तिस्थान बने हुए एवं जड पदार्थों में व्यापक आप कल्याणकारी शंकर की शरण में पड़ा हूँ।[2] इस प्रकार से आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा कल्याणकारी शिव शम्भु से शरणागत होने के वर्णन के साथ शंकर अथवा शिव के विराट स्वरूप का वर्णन किया गया है। जगत् में यह शिव अनेक नाना स्वरूपों को स्वयं ग्रहण करता है। यह परम शिव विश्वोतीर्ण की भूमिका पर अवस्थित है। यह स्वेच्छा से जगत् का निर्माण करता है।[3] संसार में यह शिव स्वयं को नानारूप रुद्र प्रमाताओं में प्रकाशित करता है। यही इसके मर्म का परम स्वरूप का सार है। इस सार को जब किसी अज्ञात शिष्य को भगवान् आधारमुनि द्वारा परमार्थ के सार को आधारकारिकाओं के रूप में कहा गया था, उसी परमार्थसार को आचार्य अभिनवगुप्त शैवशास्त्र दृष्टि से समझाते हैं। परमार्थसार में स्पष्ट कहा गया है –

आधारकारिकाभि: तं गुरुरभिभाषते स्म तत्सारम्।
कथयत्यभिनवगुप्त: शिवशासनदृष्टियोगेन॥[4]

इस क्रम को अधिक पुष्ट एवं स्पष्ट करने के लिए शैवाचार्य योगराज व्याख्या वृत्ति में ग्रन्थ का अथवा परमार्थसार का अनुबन्धचतुष्ट्य प्रतिपादित करते हैं –

1. **सम्बन्ध** – शिष्य परमार्थ को जानना चाहता है, जिसको यह ग्रन्थ उपलब्ध करता है। अत: प्रतिपाद्य–प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।
2. **अभिधेय**– परम– अद्वैत का वर्णित के रूप में होना अभिधेय है।
3. **अभिधान** – परमार्थ ग्रन्थ का नाम एवं वर्णित विषयवस्तु अभिधान है।
4. **प्रयोजन** – परब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करवाना ग्रन्थ का प्रयोजन है।[5]

इस प्रकार से आचार्य अभिनगगुप्त ने परमार्थसार के स्वरूप का संकेत किया है। शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा जगत् का प्रादुर्भाव सुनिश्चित होता है। जिका विस्तारपूर्णक वर्णन यहाँ उपलब्ध है।

सृष्टि–प्रक्रिया का स्वरूप –

परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति अपने ही पराविमर्शमय गर्भ में स्वयं को विश्वमयता स्वभाव में प्रकाशित करती है। जिसमें मुख्यत: चार सोपानों का प्रकाशन होता है। यथा–

निजशक्तिवैभवभरादण्डचतुष्ट्यमिदं विभागेन।
शक्तिर्माया प्रकृति: पृथ्वी चेति प्रभावितं गुरुणा॥

अर्थात् प्रभु अथवा परमशिव ने अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के वैभव से अथवा स्वयं को बहिरंग रूप में प्रसार करने की विभूति के प्राचूर्य से इदम् शब्द से वाच्य विश्व को चार भागों में विभाजित कर दिया।[6] जिनमें शक्ति अण्ड, माया अण्ड, प्रकृति अण एवं पृथ्वी अण्ड का परिगणन किया जाता है।

सृष्टि का चतुर्विध अण्डों में विभागज –

आचार्य अभिनगगुप्त ने परमार्थसार में सृष्टि को चार भागों में विभाजित करते हुए उनके स्वरूप को सरलता से प्रतिपादित किया है। जिसका सार इस प्रकार है–

1. **शक्ति अण्ड**– चिदानन्द स्वरूप का आवरण एवं बन्धन युक्त बनने की अवस्था।
2. **माया अण्ड**– त्रिविध मलों का समावेश हो जाना।
3. **प्रकृति अण्ड**– त्रिविध गुण एवं त्रिविध दु:खों से युक्त हो जाना।
4. **पृथ्वी अण्ड**– समस्त पृथ्वी तत्त्वों से लेकर स्थूल कायिक स्वरूप में होना।

इन चारों अण्डों के गर्भ में यह विस्मयकारी कायिक संरचनाओं, इन्द्रियवर्गों एवं लोकों अथवा भुवनों के विस्तार वाला यह विश्व अवस्थित है। इस विश्व में समस्त शरीरधारी वास्तविक रूप में शिवरूप हैं। यह शिव ही स्वेच्छा से स्वयं को पशुभाव में ग्रहण करता है और स्वयं ही उपभोक्ता कहलाता है। यथा –

भोक्ता च तन्न देही शिव एव गृहीतपशुभाव:।[7]

इस प्रकार यह समस्त विश्व शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के गर्भ में चतुर्विध अण्डों के रूप में अवस्थित होता है। यह सब शिव की लीला है। यह समस्त संसार विविध रुद्रज्ञ प्रमाताओं का समवेत रूप है। इसमें पशु, पक्षी, प्राणी, लोक, भुवन, भोक्ता, उपभोक्ता आदि विस्तृत प्रसार स्वरूप में रहते हैं। परमार्थसार में अभिनवगुप्तपादाचार्य स्वयं लिखते हैं –

नाना विधवर्णानां रूप धत्ते यथामल: स्फटिक:।
सुर-मानुष-पशु-पादप-रूपत्वं तद्वदीशोऽपि॥

अर्थात् जिस प्रकार निर्मल बिल्लौर अनेक प्रकार के रंगों को प्रतिबिम्बित करता है। उसी प्रकार परमेश्वर भी स्वयं को मलातीत करते हुए देवता, मानव, पशु, वृक्ष, जीव आदि को भेदस्वरूप अनेक स्वरूपों में धारण करता है।[8] यह सब प्रपञ्च रचे जाने के बाद शिव बहुत आनन्दित होता है। जिस प्रकार से चाँद का प्रतिबिम्ब लहराते हुए जल में तैरता हुआ निर्मल प्रतीत होता है। उसी प्रकार परमेश्वर अथवा परमशिव विविध शरीरों को इन्द्रियों से युक्त करता हुआ भावप्रमाताओं या भुवनों अथवा लोकों के विविध स्वरूपों में विविध क्रियाओं के द्वारा आनन्द ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है। इसके संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है –

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥[9]

यह परमशिव शक्तिपात के द्वारा जीवात्मा का बुद्धितत्त्व प्रकाशित करता है, जैसे साफ दर्पण में मुख प्रतीत होता है। यथा –

आदर्शे मलरहिते यद्वद् वदनं विभाति तद्वदयम्।
शिवशक्तिपातविमले धीतत्त्वे भाति भारूप:॥[10]

छत्तीस तत्त्वों की मीमांसा –

संसार की निर्मिति में परमशिव स्वयं के स्वातन्त्र्य भाव अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति के वैभव से चार प्रकार के अण्डों में सृष्टि को स्थापित करता है। जिसमें शक्ति, माया, प्रकृति एवं पृथ्वी स्वरूप अण्डों का वर्णन होता है। सभी छत्तीस तत्त्वों का मूल कारण परमशिव है। यह परमशिव काश्मीर शैवदर्शन में अनुत्तरतत्त्व, त्रिशरोभैरव, नाद, बिन्दु, विसर्ग, कौलिकिशक्ति, ऊर्मि, विमर्श आदि नामों से जाना जाता है।[11] संसार में स्वयं को बहसित करना शिव का स्वभाव है। यथा –

भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महनन्दम् ।
इच्छासंवित्करणैर्निभरितमनन्तशक्तिपूर्णम् ॥
सर्वविकल्पविहिनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहिनम् ।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्॥

अर्थात् वह परमशिव स्व-स्वातन्त्र्य से इच्छाशक्ति , ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप वाले भाव से स्वयं प्रकाशरूप को मलातीत करते हुए छत्तीस तत्त्वों में सञ्चरित करता है। यह पञ्चकृत्यकारी शिव नटराज स्वरूप स्वयं को आभासित करते हुए नानस्वरूपों में आधान लेते हुए आनन्दित होता है।[12] यह कार्य शिव आनन्दानुभूति के लिए करता है। इस प्रकार से सृष्टिप्रक्रिया के स्वरूप में मुख्यत: छत्तीस तत्त्वों का परिगणन किया जाता है।[13] जिनका सारगर्भित विवेचन इस प्रकार है-

शिवशक्ति-सदाशिवताम्-ईश्वर-विद्यामयीं च तत्त्वदशाम्।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति॥

अर्थात् परमशिव पञ्चशक्तिस्वरूपों का विभाजन करते हुए चित्, निवृत्ति, इच्छा, झान एवं क्रिया को क्रमश: शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व, सदाशिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व एवं शुद्धविद्यातत्त्वों में अवभासित करता है।[14] जिनका सारांशगत विवेचन यहाँ प्रस्तुत है-

परमशिव –

काश्मीर शैवदर्शन में परमशिव को जगत का मूल कारण माना गया है। यह अनाख्यतत्व है। शैवाचार्य अभिनवगुप्त परात्रिंशिका विवरण में इसको अनुत्तरतत्त्व कहते हुए सोलह प्रकार से व्याख्या करते हैं। साधना अवस्था में यह उन्मुखता से बहिर्मुखता की ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में स्पन्दायमान होता हुआ शिवतत्त्व कहलाता है। इसके इतर यह विशिष्ट रूप में परमशिव कहा कहा जाता है।

शक्तितत्त्व –

यह तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। वस्तुत: शक्ति शिव से अद्वैत भाव में स्वातन्त्र्यभाव से युक्त होकर इच्छाशक्ति भावरूप में सृष्टिप्रक्रिया में स्वयं को प्रकाशित करती है। यहाँ शिव शक्ति अद्वैत भाव में यामल अवस्था को ग्रहण करते हैं।

सदाशिव – यह सृष्टिप्रक्रिया का तीसरा तत्त्व हैं जिसमें ज्ञान एवं क्रियाभाव दोनों की प्रधानता है। इसमें इदं भाव प्रथम बार अंकुरित होता है। इसके इदं अर्थात् बहिरंग जगत् का अलग अस्तित्त्व प्रारम्भ हो जाता है।

ईश्वर – यह सृष्टिप्रक्रिया का चतुर्थ तत्त्व है। इसमें इदंभाव का सूक्ष्म सूत्रपात होता है और अहम् तथा इदम् में तुल्यबलबता का आभास होता है। तब यह चैतन्य की ईश्वर तत्त्व अवस्था स्पष्ट होती है।

शुद्धविद्या तत्त्व – इस तत्त्व में अहम् और इदम् की गौणता भाव होने पर अहम्-अहम् तथा इदम्-इदम् की प्रधानता होती है और अहंभाव की गौणता हो जाती है। अत: यह शुद्धविद्यातत्त्व कहलाता है। इस प्रकार से उपरोक्त पाँचों शुद्धाध्वा तत्त्वों की मायातीत स्थिति होती है।

इस क्रम में छठे तत्त्व के रूप में मायातत्व आता है। इसके पाँच कञ्चुक होते हैं। यह स्वातन्त्र्य शिव के अपने ही स्वरूप का आवरण बन जाने के कारण माया कहलाती है। यथा –

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य।
देवी माया-शक्ति: स्वात्मावरणं शिवस्यैस्तत्॥[15]

मायातत्त्व के पाँच कञ्चुक होते हैं। इनमें काल, कला, नियति, राग एवं अविद्या तत्त्वों का परिगणन होता है। इनके प्रभाव से जीव पुरुषतत्त्व बनकर पशु कहलाता है। यह मायातत्त्व के आवरण हैं। इनके पाश में पाशबद्ध होकर जीवन पशुता को प्राप्त करता है। इस अवस्था में जीव पर त्रिविध मलों का गहरा प्रभाव होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है –

मायापरिग्रहवशात् बोधो मलिन: पुमान् पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद्रागाविद्यावशेन संबद्ध:॥[16]

इस प्रकार से इन पाँच कञ्चुकों को सामान्यत: सरलरूप में समझा जा सकता है। परमार्थसार में स्पष्ट कहा गया है–

मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तङ्गमिदमुक्तम्। अर्थात् –

- **केवल मैं जानता हूँ –काल–तत्त्व**
- **जानने की क्रिया करता हूँ –कला–तत्त्व**
- **केवल यही जानता हूँ – नियति–तत्त्व**
- **अपेक्षणीय जानता हूँ – राग–तत्त्व**
- **केवल सामने वाले पदार्थ को जानता हूँ– अविद्या–तत्त्व।**[17]

इस प्रकार से माया के कञ्चुकों से आवृत मलावृत धारी जीव संसार में विचरण करता है और स्वयं के वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। इसके पश्चात् सृष्टि–प्रक्रिया में त्रिविध अन्तकरणों का क्रम आता है। इनमें बुद्धि, मन, अहंकार का परिगणन होता है। यथा –

सुखदु:खमोहमात्रं निश्चयसंङ्कल्पानाभिमानञ्च।
प्रकृतिथान्त:करणं बुद्धिमनोऽहंकृति: क्रमश:॥

अर्थात् सत्त्वमय से सुख, रजोमय से दु:ख और तपोमय से मोह, तीन की समता अवस्था को प्रकृति और निश्चय, संकल्प और अभिमान त्रिविध क्रियाओं को सम्पन्न करने के कारण बुद्धि,मन और अहंकार तीनों को अन्त:करण कहते हैं।[18] इसी क्रम में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच क्रमेन्द्रियों का वर्णन किया गया है। जैसे –

श्रोत्रं त्वगक्षि रसना घ्राणं बुद्धीन्द्यानी शब्दादौ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थं कर्मेन्द्रियाणि पुन:॥

अर्थात् जिनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करने वाली कान, त्वचा, आंख, रसना और नाक ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाणी, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।[19] इसी प्रकार से पाँच तन्मात्राओं का वर्णन है –

एषं ग्राह्यो विषय: सूक्ष्म: प्रविभागवर्जितो य: स्यात्।
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्द: स्पर्शो महो रसो गन्ध:॥

इसके पश्चात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूपी पाँच महाभूतों से सृष्टि निर्मित होती है। परमर्थसार में स्पष्ट कहा गया है–

एतत्संसर्गवशात् स्थूलो विषयवस्तु भूतपञ्चकताम्।
अभ्येति–नभ: पवनस्तेज: सलिलं च पृथ्वी च॥[21]

अन्त में छत्तीस तत्त्वों में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, पुरुषतत्त्व, माया, पाँच कञ्चुक, प्रकृति, त्रिविध अन्तक्करण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत की गणना होती है। इनका साक्षात्कार साधक के द्वारा किया जाता है। समस्त संसार शिव का आभासरूप है। यद्यपि दार्शनिक जगत् में सृष्टिप्रक्रिया का गम्भीर विश्लेषण पदे पदे परिलक्षित होता है। अन्त में आचार्य अभिनवगुप्त ने सत्य ही कहा है –

व्यवहारमात्रमेतत् परमार्थेन तु न सन्त्येव।

अर्थात् समस्त वादों का पारमार्थिक भूमिका पर सद्भाव नहीं है। यह सारा केवल प्रपञ्चमात्र है।[22] इस प्रकार परमार्थसार ग्रन्थ में सृष्टि–प्रक्रिया के तात्त्विक विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

उपसंहार (Conclusion) –

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि परमार्थसार में सृष्टिप्रक्रिया की मीमांसा का सरलतम स्वरूप प्रतिपादित है। परमशिव पञ्चकृत्यकारी स्वेच्छा से सृष्टि का सर्जन करते हैं। सम्पुर्ण विश्व को शक्ति, माया, प्रकृति एवं पृथ्वी रूवरूपात्मक चार अण्डों में विभाजित करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि शिव का विलासमात्र है। शिव–शक्ति अद्वैतभाव यामलरूप में नानाविध स्वरूपों को धारण करते हुए सृष्टि की रचना करते हुए आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार से संसार को जान लेना या आत्मसात कर लेना जीवात्मा के लिए कठिन कार्य है। इसके लिए काश्मीर शैवदर्शन में शैवसाधना को आत्मसात करना अनिवार्य है। साधना अवस्था में समाधि की अन्तिम अवस्था में जीव का परमशिव से साक्षात्कार करना सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। समाधि की अन्तिम अवस्था में जीव अथवा मायाप्रमाता को अज्ञान की गाँठ को अन्तर्हृदय में खोलकर चित्शक्ति का विकास किया जाता है। इस प्रकार से मोक्ष से प्राप्ति का कोई भी साधन निश्चित नहीं है। एक धारणास्थान से दूसरे धारणास्थान पर आरोह करना ही मोक्ष है। आचार्य अभिनवगुप्त ने परमार्थसार में इसका स्पष्ट वर्णन करते हुए कहा है –

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्ष:॥[23]

संदर्भ-सूची -

1. परमार्थसार, भूमिका, पृष्ठ संख्या, 8
2. परमार्थसार, मंगलकारिका, पृष्ठ संख्या, 1
3. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र संख्या, 1 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'।
4. परमार्थसार, कारिका संख्या, 2
5. परमार्थसार, योगराज वृत्ति, पृष्ठ संख्या, 12
6. परमार्थसार, कारिका संख्या, 4
7. परमार्थसार, कारिका संख्या, 5
8. परमार्थसार, कारिका संख्या, 6
9. श्रीमद्भगवद्गीता , 2.10
10. परमार्थसार, कारिका संख्या, 9
11. विज्ञानभैरव, श्लोक संख्या, 2,3,4
12. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् , मंगल श्लोक , 'नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्य विधायिने। चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने'॥
13. परमार्थसार, कारिका संख्या, 10 , 11
14. परमार्थसार, कारिका संख्या, 14
15. परमार्थसार, कारिका संख्या, 15
16. परमार्थसार, कारिका संख्या, 16
17. परमार्थसार, कारिका संख्या, 17
18. परमार्थसार, कारिका संख्या, 19
19. परमार्थसार, कारिका संख्या, 20
20. परमार्थसार, कारिका संख्या, 21
21. परमार्थसार, कारिका संख्या, 22
22. परमार्थसार, कारिका संख्या, 27
23. परमार्थसार, कारिका संख्या, 60

संदर्भ- ग्रन्थ-सूची (Bibliography)

1. परमार्थसारः, कमला द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण -1984
2. तन्त्रसारः , अभिनवगुप्त, राजानक जयरथ (व्याख्याकार) सं0 मधुशुदन कौल शास्त्री, श्री नगर, काश्मीर सीरिज आफ टेक्स्ट्स एण्ड स्टडीज , 1918
3. तन्त्रालोकम् , अभिनवगुप्त, भाग, 1-2 , राजानक जयरथ कृत विवेक व्याख्या सहित,परमहंस मिश्र (हिन्दी भाष्य एवं सम्पादक), वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1922-93
4. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, शिवशंकर अवस्थी, शास्त्री, (व्याख्याकार एवं सम्पादक), वाराणसी , चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,1970
5. विज्ञानभैरव, श्रीक्षेमराजाचार्य विरचित विवृतिभागोत्तर श्री शिवोपाध्याय विरचित, श्रीबापूपाल आँजना विरचित कारिकानुवाद सहित, हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली॥

ISSN 2278 - 0327

सांख्य दर्शन की प्राचीनता

डॉ. कृष्ण मुरारी मणि त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनविभाग
केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
श्रीरणवीर परिसर, कोट-भलवाल, जम्मू

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में प्राचीनतम दर्शन सांख्य दर्शन है। इस दर्शन की प्राचीनता का प्रमाण वेदादि विभिन्न स्थालों में उपलब्ध होता है। महाभारत[1] में शान्तिपर्व के अन्तर्गत सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और मोक्ष विषयक अधिकांश मत सांख्य ज्ञान व शास्त्र के ही हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि उस काल तक (महाभारत की रचना तक) वह एक सुप्रतिष्ठित, सुव्यवस्थित और लोकप्रिय एकमात्र दर्शन के रूप में स्थापित हो चुका था। एक सुस्थापित दर्शन की ही अधिकाधिक विवेचनाएँ होती हैं, जिसके परिणामस्वरूप व्याख्या-निरूपण-भेद से उसके अलग-अलग भेद दिखायी पड़ने लगते हैं। इसीलिए महाभारत में तत्त्वगणना, स्वरूप वर्णन आदि पर मतों की विविधता दृष्टिगोचर होती है।

सांख्य दर्शन और उपनिषद्

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनाशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डकोपनिषद 3/1/1-3

दो सुन्दर वर्ण वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर सखा-भाव से सदा साथ-साथ रहते हैं। उनमें से एक तो फल भोग करता है और दूसरा भोग न करते हुए देखता रहता है। एक ही वृक्ष पर रहने पर भी वृक्ष पर 'ईशत्व' न होने से मोहित होकर चिन्तित रहता है। वह जिस समय अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमावान् शोकरहित पक्षी देखता है, जब जगत्कर्ता ईश्वर पुरुष को देखता है तब वह विद्वान् पुण्य-पाप त्याग कर उसके समान शुद्ध और परम साम्य को प्राप्त हो जाता है।

आलंकारिक काव्यमय रूप से महाभारत में प्रस्तुत त्रैतवादी सांख्य का इस मन्त्र में स्पष्ट निरूपण दिखता है। वृक्ष (प्रकृति) पर बैठे दो पक्षी हैं। एक वृक्ष के फलों का भोग कर रहा है। (जीवात्मा) दूसरा शोक रहित भाव से देख रहा है परमात्मा। इस तरह प्रकृति और परमात्मा-जीवात्मा निरूपण ही वास्तव में कपिल सांख्य का आधार बना। इस त्रैत को श्वेताश्वतर उपनिषद में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है - 'यहाँ दो चेतन तत्त्वों का उल्लेख है एक अनीश और भोक्ता है और दूसरा विश्व का ईश, भर्ता है। एक प्रकृति है जो जीवात्मा के भोग के लिए नियुक्त है। इस तरह तीन अज अविनाशी तत्त्व हैं, शाश्वत तत्त्व (ब्रह्म) है इन्हें जानकर (व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्) मुक्ति प्राप्त होती है। श्वेताश्वतर में इस प्रसंग में एक अन्य रूप से सांख्य सम्मत त्रैतावाद का उल्लेख है-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजा सृजामानां सरूपाः।
अजो हि एको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥[2]

यहाँ लोहित शुक्ल कृष्ण वर्ण क्रमशः रजस, सत्त्व तथा तमस-त्रिगुण के लिए प्रयुक्त है। इन तीन गुणों से युक्त एक अजा (अजन्मा) तत्त्व है। इसका भोग करता हुआ एक अज तत्त्व है तथा भोग रहित एक और अज तत्त्व (परमात्मा) है। इस प्रकार यह उपनिषद्वाक्य त्रिगुणात्मक प्रसवधर्मि (सृजन करने वाली) प्रकृति का उल्लेख भी करती है। परमात्मा को मायावी कहकर प्रकृति को ही माया कहा गया है।[3] इस प्रसंग में पुनः मायावी और माया से बन्धे हुए अन्य तत्त्व जीवात्मा का उल्लेख भी है।[4]

सांख्यसम्मत तत्त्वों का सांख्य परम्परा की पदावली में ही 'कठोपतिषद्' इस प्रकार वर्णन करती है [5] -

सांख्य दर्शन और गीता

भगवद्गीता में सांख्य दर्शन भगवद्गीता में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने अनुकूल दर्शन का अन्वेषण किया और तदनुरूप उसकी व्याख्या की। लेकिन जिन सिद्धान्तों पर सांख्य परम्परा के रूप में एकाधिकार माना जाता है। उनका गीता में होना-ऐसा तथ्य है जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो विद्वान् सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी या

अवैदिक मानकर विचार करते हैं वे अवश्य ही गीता में सांख्य दर्शन के दर्शन नहीं कर पाते हैं। इस पर भी प्राचीन सांख्य जिसका महाभारत में चित्रण है, अवश्य ही गीता में स्वीकार किया जाता है। भगवद्गीता में कहा गया है-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावति।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥13/19
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतु: प्रकृतिरुच्यते।
पुरुष: सुखदु:खानां भौक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥20॥

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, समस्त विकास और गुण प्रकृति से उत्पन्न हैं। कार्यकारणकर्तृव्य (परिणाम) का हेतु प्रकृति तथा सुख-दु:ख भोक्तृत्व का हेतु पुरुष है।

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

मेरी (परमात्मा की) अध्यक्षता (अधिष्ठातृत्व) में ही प्रकृति चराचर जगत की सृष्टि करती है। इस प्रकार भगवद्गीता तीन तत्त्वों को मानती है-

प्रकृति, पुरुष एवं परमात्मा। वैदिक साहित्य में 'पुरुष' पर चेतन तत्त्व के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार जड़-चेतन-भेद से दो तत्त्व निरूपित होते हैं। गीता में सृष्टि का मूलकारण प्रकृति को ही माना गया है। परमात्मा उसका अधिष्ठान है- इस अधिष्ठातृत्व को निमित्त कारण कहा जा सकता है। परमात्मा की परा-अपरा प्रकृति के रूप में जीव-प्रकृति को स्वीकार करके इन तीन तत्वों के सम्बन्धों की व्याख्या की गई है। परमात्मा स्वयं इस जगत् से परे रहता हुआ भी इसके उत्पत्ति और प्रलय का नियंत्रण करता है।[6]

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं- 'जो कुछ भी सत्त्व, रजस, तमस भाव हैं वे सब मुझ से (परमात्मा से) ही प्रवृत्त होते हैं। मैं उनमें नहीं बल्कि वे मुझ में हैं। इन त्रिगुणों से मोहित हुआ यह जगत मुझे अविनाशी को नहीं जानता। इस दैवी गुणमयी मेरी माया के जाल से निकलना कठिन है। जो मुझ को जान लेते हैं वे इस जाल से निकल जाते हैं।'[7] परमात्मा की माया कहने में जहां माया या प्रकृति से सम्बन्ध की सूचना मिलती है वहीं संबंध के लिए अनिवार्य भिन्नता का भी संकेत मिलता है। परमात्मा प्रकृति में अन्तर्व्याप्त और बहिर्व्याप्त है। इसीलिए परमात्मा के व्यक्त होने या अव्यक्त रहने का कोई अर्थ नहीं होता। व्यक्त अव्यक्त सापेक्षार्थक शब्द है। परमात्मा के व्यक्त होने की कल्पना को गीताकार अबुद्धिपूर्व कथन मानते हैं[8]। अत: जब परमात्मा की माया से सृष्टयुत्पत्ति कही जाती है तब उसका आशय यह नहीं होता कि परमात्मा अपनी चमत्कारी शक्ति से व्यक्त होता है, बल्कि यह कि उसकी अव्यक्त नाम्नी माया या त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही व्यक्त होती है। इससे भी उपादान कारणभूत प्रकृति की पृथक् सत्ता की स्वीकृति झलकती है। परमात्मा स्वयं जगदरूप में नहीं आता बल्कि जगत के समस्त भूतों में व्याप्त रहता है[9]। समस्त कार्य (क्रिया) प्रकृति द्वारा ही किए जाते हैं। परमात्मा अनादि, निर्गुण, अव्यय होने से शरीर में रहते हुए भी अकर्ता-अलिप्त रहता है[10]। (यह) शरीर क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है। परमात्मा तो समस्त क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ है[11]। इससे भी जीव तथा देह दोनों में परमात्मा का वास सुस्पष्ट होता है।

सांख्य शास्त्र में मान्य त्रिगुणात्मक प्रकृति गीता को भी मान्य है। सृष्टि का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं हैं जो प्रकृति के तीन गुणों से रहित हो[12]। शांति पर्व में प्रस्तुत सांख्य तथा तत्त्वसमासोक्त अष्टप्रकृति को भी गीता स्वीकार करती है। यहाँ पांच सूक्ष्म भूत (तन्मात्र), बुद्धि, अहंकार तथा मन इन आठ को अष्टप्रकृति के रूप में कहा गया है[13]। सांख्यशास्त्र में मान्य अष्टप्रकृति के अन्तर्गत मन का उल्लेख नहीं है। गीता में मन को सम्मिलित कर, मूलप्रकृति का लोप कर दिया गया। मन स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं करता। अत: उसे प्रकृति कहना संगत प्रतीत नहीं होता। अत: तो यहाँ मन का अर्थ प्रकृति लिया जाय अथवा सांख्य में जो अनेक रूप प्रचलित थे उनमें से एक भेद यहाँ स्वीकार कर लिया जाये। प्रकृतिरूप क्षेत्र के विकार, उनके गुणधर्म आदि की चर्चा करते हुए कहा गया है- महाभूत, अहंकार, बुद्धि, एकादश इन्द्रिय तथा पांच इन्द्रिय विषय इनका कारणभूत- सब क्षेत्र के स्वरूप में निहित है। इसे अव्यक्त कहा गया है।

क्षर तथा अक्षर तत्त्व का निरूपण करते हुए कहा गया है क्षररूप प्रकृति अधिभूत है तथा पुरुष अधिदैवत है और समस्त देह में परमात्मा अधियज्ञ है[14]। सृष्टि रूपी यज्ञ में देवता रूपी पुरुष (जीवात्मा) के लिए भोग अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए है और इसका उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। इसीलिए परमात्मा की भी पृथक् सत्ता की मान्यता प्रस्तुत की गई है। एक स्थल पर कहा गया है कि इस संसार में क्षर तथा अक्षर या नाशवान् परिवर्तनशील तथा जीवात्मा अक्षर है उत्तम पुरुष अन्य है जिसे परमात्मा कहते हैं। वह तीनों लोकों में प्रवेश कर सबका पालन करता है, वह अविनाशी ईश्वर है। वह क्षर और अक्षर से उत्तम है उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है[15]। इस तरह पुन: जीवात्मा-परमात्मा में भेद दर्शाया गया।

कार्यकारण-श्रृंखला में व्यक्त समस्त जगत का मूल हेतु

प्रकृति है और जीवात्मा सुख दु:खादि के भोग में हेतु है। परमात्मा इस सबसे परे इनका भर्ता भोक्ता है। इस तरह जो जान लेता है वह मुक्त हो जाता है। प्रकृतिस्थ हुआ पुरुष गुण संग होकर प्रकृति के गुणों का भोग करता हुआ शुभाशुभ योनियों में जन्म लेता रहता है[16]। सत्त्व रजस प्रकृति से व्यक्त गुण ही अव्यय पुरुष को देह में बांधते हैं [17]। इन गुणों के अतिरिक्त कर्ता अन्य कुछ भी नहीं है– ऐसा जब साधक जान लेता है तो गुणों से परे मुझे जान कर परमात्मा को प्राप्त होता है [18]। इस तरह गीता व्यक्ताव्यक्तज्ञ ज्ञान से मुक्ति का निरूपण करती है।

गीता दर्शन का सांख्य रूप विवेचन उदयवीर शास्त्री ने अत्यन्त विस्तार से किया है [19]। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि महाभारत के अंगभूत होने से शांतिपर्वान्तर्गत सांख्य दर्शन का ही गीता भी अवलम्बन करती हैं। हां, प्रचलित विद्वान् मान्यतानुसार निरीश्वर सांख्य गीता को इष्ट नहीं है।

सांख्य दर्शन और पुराण

भागवत पुराण विद्वानों के लिए ऐतिहासिक ग्रन्थ मात्र नहीं वरन् जनसामान्य श्रद्धालुओं में भी अत्यन्त ख्यातिलब्ध है। अत: उक्त ग्रन्थ का पृथक् उल्लेख किया गया। सृष्टि प्रलयादि विषयों पर सभी पुराणों में मतैक्य है। अत: यहाँ प्रमुखत: विष्णु पुराण के ही अंश, जिनसे सांख्य दर्शन का स्वरूप परिचय हो सके–प्रस्तुत किए जा रहे हैं–

तब्रह्म परमं नित्यमजमक्षय्यमव्ययम्।
एकस्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम्॥
तदेव सर्वमेवैतद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥ [20]

यह ब्रह्म नित्य अजन्मा अक्षय अव्यय एकरूप और निर्मल है। वही इन सब व्यक्त–अव्यक्त रूप (जगत) से तथा पुरुष और काल रूप से स्थित है।

अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमै:।
प्रोच्यते प्रकृति: सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्। [21]
प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥
परमात्मा च सर्वेषामाधार: परमेश्वर:॥ [22]

व्यक्त जगत का अव्यक्त कारण सदसदात्मक प्रकृति कही जाती है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही (प्रलय काले) परमात्मा में लीन हो जाते हैं। प्रकृति का स्वरूप बताया गया है–

सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयमुदाहृतम्।
साम्यावस्थितिमेतेषामव्यक्तां प्रकृतिं विदु:॥ [23]
प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरि:।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥29॥
यथा सन्निधिमात्रेण गन्ध:क्षोभाय जायते।
मनसो नोपकर्तृत्वात्तथाऽसौ परमेश्वर: ॥30॥
प्रधानतत्त्वमुद्भूतं महान्तं तत्समावृणोत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥34॥
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामस: ॥35॥
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत ॥36॥
तन्मात्राण्यविशाणि अविशेषास्ततो हि ते ।45।
न शान्ता नापि धोरास्ते न मूढाश्चविशेषिण:।
भूततन्मात्रसर्गोऽयमंहकारात्तु तामसात् ॥46॥
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश।
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिका: स्मृता: ॥46
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥54॥
तस्मिन्नण्डेऽभवद्विप्र सदेवासुरमानुष: ॥58॥
–वि.पु. प्रथम अंश द्वितीय अध्याय
आध्यात्मिकादि मैत्रेय ज्ञात्वा तापत्रयं बुध:।
उत्पन्नज्ञानवैराग्य: प्राप्नोत्यात्यन्तिकं लयम्॥ [24]

परमात्मा प्रधान या प्रकृति और पुरुष में प्रवेश करके उन्हें प्रेरित करता है। तब सर्ग क्रिया आरंभ होती है। यद्यपि मूलत: प्रकृति, पुरुष, काल, विष्णु के ही अन्य रूप हैं, तथापि सर्ग–चर्चा में प्रेरिता तथा प्रधान पुरुष को भिन्न किन्तु अपृथक् ही ग्रहण किया जाता है। तन्मात्र अविशेष हैं जिनकी उत्पत्ति तामस अहंकार से होती है। सुख–दु:ख मोहात्मक अनुभूति तन्मात्रों की नहीं होती। ये जब विशेष इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं। आशय यह है कि ये अविशेष विशेष के बिना नहीं जाने जाते हैं। राजस अहंकार से पञ्चकर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ की उत्पन्न होती हैं तथा वैकारिक अथवा सात्त्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति का समर्थन विज्ञान भिक्षु भी करते हैं। तथापि कारिका मत में सात्त्विक अहंकार से एकादशेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गई है।

भागवत में सांख्य दर्शन

माता देतहूति की जिज्ञासा को शान्त करते हुए परमर्षि कपिल बताते हैं [25] –

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुण: प्रकृते: पर:।
प्रत्यागधामास्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदु:।
भोक्तृत्वे सुखदु:खानां पुरुषं प्रकृते: परम्।

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्।
पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिदशभिस्तथा॥
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः॥
प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः॥

इसके अनन्तर महदादि तत्त्वों की उत्पत्ति कही गई। सांख्यकारिकोक्त मत से भिन्न अहंकार से उत्पन्न होने वाले तत्त्वों का यहाँ उल्लेख है। यहाँ वैकारिक अहंकार से मन की उत्पत्ति कही गई है।

कारिका में भी मन को सात्विक अहंकार से उत्पन्न माना गया है। फिर तेजस अहंकार से बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति कही गई। इससे पूर्व परमात्मा की तेजोमयी माया से महत्तत्त्व की उत्पत्ति कही गई। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतकार महत तथा बुद्धि को भिन्न मानते हैं, जबकि सांख्य शास्त्र में महत और बुद्धि को पर्यायार्थक माना गया। तेजस अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति बताई गई है जबकि कारिकाकार ने मन सहित समस्त इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से माना है। तामस अहंकार से तन्मात्रोत्पत्ति भागवत तथा सांख्यशास्त्रीय मत में समान है। भिन्नता यह है कि भागवत में तामसाहंकार से शब्द तन्मात्र से आकाश तथा आकाश से श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति कही गई। इसी तरह क्रमशः तन्मात्रोत्पत्ति को समझाया गया है। [26]

सांख्य दर्शन में पुरुष को अकर्ता, निर्गुण, अविकारी माना गया है। और तदनुरूप उसे प्रकृति के विकारों से निर्लिप्त माना गया है। तथापि अज्ञानतावश वह गुण कर्तृत्व को स्वयं के कर्तृत्व के रूप में देखने लगता है। और देह संसर्ग से किए हुए पुण्य पापादि कर्मों के दोष से विभिन्न योनियों में जन्म लेता हुआ संसार में रहता हैं यही बात श्रीमदभागवत में कही गई है [27]।

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥
स एष यर्हि प्रकृतेर्गुष्णाभिविषज्जते।
अहं क्रियाविमूढात्मा कर्ताऽस्मीत्यभिमन्यते॥

भागवत के एकादश स्कन्ध में प्राचीन सांख्य में तत्वों की अलग-अलग संख्या में गणना का सुन्दर समन्वय करते हुए यह बतलाया गया है कि मूलतः ये सभी भेद एक ही दर्शन के हैं। यह समन्वय उचित और सरल हो या न हो, इतना तो स्पष्ट है कि सांख्य के विभिन्न रूप प्रचलित हो चले थे और भागवतकार इन्हें विषमता न मानकर कपिल के दर्शन के ही रूप मानते थे।

सांख्य दर्शन और महाभारत

महाभारत के शांति पर्व में सांख्य दर्शन के विभिन्न रूपों का विस्तृत व स्पष्ट परिचय मिलता है। तत्त्व गणना का रूप यहाँ सांख्य शास्त्र के प्रचलित रूप में अनुकूल ही है। इसके अतिरिक्त सांख्य-परम्परा के अनेक प्राचीन आचार्यों तथा उनके उपदेशों का संकलन भी शांति पर्व में उपलब्ध है। जिस स्पष्टता के साथ सांख्य-महिमागान यहाँ किया गया है, उससे महाभारतकार के सांख्य के प्रति रुझान का संकेत मिलता है। पुराणों की ही तरह महाभारत में भी दर्शन के रूप में सांख्य को ही प्रस्तुत किया गया है। अतः यदि महाभारत के शांतिपर्व को हम सांख्य दर्शन का ही एक प्राचीन ग्रन्थ कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। महाभारत के शांति पर्व के अन्तर्गत सांख्य दर्शन के कुछ प्रसंगों पर विचार करने के उपरान्त हम उसमें प्रस्तुत सांख्य-दर्शन की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

अध्याय 300 शांति पर्व में युधिष्ठिर द्वारा सांख्य और योग में अन्तर पूछने पर भीष्म उत्तर देते हैं।

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्षन।
वदन्ति कारणैः श्रैष्ठ्यं योगाः सम्यक् मनीषिणः॥3॥
वदन्ति कारणं चेदं सांख्याः सम्यग्विजातयः।
विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥4॥
ऊर्ध्वं स देहात् सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा।
एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्ये वै मोक्षदर्शनम् ॥5॥

इसके उपरान्त कहते हैं- 'शौच, तप, दया, व्रतों के पालन आदि में दोनों समान हैं केवल दर्शन (दृष्टि या पद्धति) में अन्तर है।' इस पर युधिष्ठिर पुनः प्रश्न करते हैं कि जब व्रत, पवित्रता आदि में दोनों दर्शन समान हैं और परिणाम भी एक ही है तब दर्शन में समानता क्यों नहीं हैं? इसके उत्तर में भीष्म योग का विस्तृत परिचय देने के उपरान्त सांख्य विषयक जानकारी देते हैं। उक्त जानकारी के कुछ प्रमुख अंश इस प्रकार हैं-

चरक संहिता में सांख्य दर्शन

अतिप्राचीन काल में ही सांख्य दर्शन का व्यापक प्रचार-प्रसार होने से ज्ञान के सभी पक्षों से संबंधित शास्त्रों में सांख्योक्त तत्त्वों की स्वीकृति तथा प्रकृति-पुरुष संबंधी मतों का उल्लेख है। चरक संहिता में शारीरस्थानम् में पुरुष के संबंध में अनेक प्रश्न उठाकर उनका उत्तर दिया गया है। जिसमें सांख्य दर्शन का ही पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। शारीरस्थानम् के प्रथम अध्याय में प्रश्न किया गया [28]-

कतिधा पुरुषों धीमन्! धातुभेदेन भिद्यते।

पुरुषः कारणं कस्मात् प्रभवः पुरुषस्य कः॥
किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किमनित्यो निदर्शितः।
प्रकृतिः का विकाराः के, किं लिंगं पुरुषस्य य॥

इनके अतिरिक्त पुरुष की स्वतंत्रता, व्यापकता, निष्क्रियता, कर्त्तृत्व, साक्षित्व आदि पर प्रश्न उठाए गए। उनका उत्तर इस प्रकार दिया गया [29]।

खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृत।
मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥

यहाँ पुरुष के तीन भेद बताए गए हैं- षड्धातुज,चेतना धातुज तथा चतुर्विंशतितत्त्वात्मक।

षड्धातुज पुरुष वास्तव में चेतनायुक्त पञ्चतत्त्वात्मक है। पांच महाभूत रूपी पुरि में रहने वाला आत्मतत्त्व, चेतना चिकित्सकीय दृष्टि से प्रयोत्य है।

दूसरा पुरुष एक धातु अर्थात चेतना तत्त्व मात्र है।

तीसरा पुरुष चौबीस तत्त्वयुक्त है। चौबीस तत्त्वयुक्त इस पुरुष को ही 'राशिपुरुष' भी कहा गया है। इस राशि पुरुष में कर्म, कर्मफल, ज्ञान सुख-दु:ख, जन्म-मरण आदि घटित होते हैं[30]। इन तत्त्वों के संयुक्त न रहने पर अर्थात मात्र चेतन तत्त्व की अवस्था में तो सुख-दु:खादि भोग ही नहीं होते [31] और नहीं चेतन तत्त्व का अनुमान ही संभव हैं। इस प्रकार से कथित पुरुष के मुख्य रूप से दो ही भेद माने जा सकते हैं।

षड्धातुज का तो चतुर्विंशतिक में या राशिपुरुष रूप में अन्तर्भाव हो जाता है।

सन्दर्भ सूची-

1. महाभारत शांति पर्व, अध्याय 301
2. श्वेताश्वतर उपनिषद 4/5
3. श्वेताश्वतर उपनिषद 4/10
4. श्वेताश्वतर उपनिषद 4/10 4/9
5. कठोपनिषद 2/3/6,8
6. गीता 7/5,6
7. गीता 7/12-14
8. अव्यक्तं व्यक्तमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय:
9. समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् 13/31
10. गीता 13/31
11. गीता 13/1,2
12. गीता 18/40
13. गीता 7/4
14. गीता 8/4
15. गीता 15/16,18
16. गीता 12/21
17. गीता 14/5
18. गीता 14/19
19. सां.द.इ.पृष्ठ 449-84
20. विष्णु पुराण 1/2/13,14
21. विष्णु पुराण 1/2/19),वायुपुराण 1/4/28 भी
22. विष्णु पुराण 6/4/39,40
23. कूर्म/उत्तर खण्ड 6/26),ब्रह्मवैवर्तपुराण 2/1/19 भी
24. ब्रह्मवैवर्तपुराण षष्ठ अंश पंचम अध्याय। श्लोक.1
25. श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध 26वां अध्याय द्रष्टव्य
26. भागवत श्लोक 32-46
27. भागवत 3/27/1,2
28. चरकसंहिता, शारीरस्थानम् 1/3, 4
29. चरकसंहिता 16, 17
30. चरकसंहिता 37, 38
31. चरकसंहिता, क्रियोपभोगे भूतानां नित्यं पूरुषसंज्ञक:

ISSN 2278 - 0327

सम्प्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया और अनुप्रयोग

डॉ. कुलदीप सिंह
सहायकाचार्य (शिक्षाशास्त्र)
ज.रा.राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
जयपुर (राज.)

सारांश (Abstract)

इस शोध आलेख में सम्प्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया तथा सम्प्रत्यय निर्माण में भाषा की भूमिका का वर्णन किया गया है। सम्प्रत्यय अधिगम की विधियों को स्पष्ट करने के साथ-साथ सम्प्रत्यय निर्माण में सहायक एवं बाधक कारकों का सोदाहरण उल्लेख किया गया है। साथ ही सम्प्रत्ययों के अर्थ निर्धारण की प्रक्रिया भी वर्णित की गई है।

निष्पत्ति (Outcomes)

मनोविज्ञान के अन्तर्गत बालकों के मानसिक विकास की दृष्टि से सम्प्रत्यय निर्माण की प्रक्रिया को उदाहरण सहित स्पष्ट करना, जिससे अध्यापक अपनी कक्षा में अमूर्त विषयों को पढ़ाते समय छात्रों की सम्प्रत्यय निर्माण क्षमता का सार्थक उपयोग कर सकें।

मुख्यांश (Keywords)

सम्प्रत्यय, अमूर्तीकरण, विभेदात्मक अधिगम, संदर्भ, वर्गीकरण, अंतरण, अमूर्त, यथार्थ, प्रभिन्नता, विभेद, मुक्त अनुक्रिया, शब्दसाहचर्य।

सम्प्रत्यय वस्तुओं या घटनाओं के सामान्य गुणों को प्रकट करने वाला एक प्रक्रम है। सामान्य गुण एक ऐसा लक्षण है जो विविध स्थितियों में भी वही रहता है। वस्तुओं के वर्गीकरण करने में सम्प्रत्यय हमारी सहायता करते हैं जैसे- लालिमा के सम्प्रत्यय से हम वस्तुओं का विभाजन लाल और लाल से भिन्न वस्तु के रूप में कर सकते हैं। इसी प्रकार फल के सम्प्रत्यय से हम फलों को फल और फल से भिन्न के रूप में विभाजित कर सकते हैं। सामान्य गुण ही सम्प्रत्यय होता है, जो वर्गीकरण का आधार बनता है।

सामान्य गुणों की संख्या असंख्य है तथा निर्मित होने वाले वर्गों या सम्प्रत्ययों की संख्या का भी अंत नहीं है। एक सम्प्रत्यय किसी भी रूप का हो सकता है, जैसे आवास इस वर्ग के अंतर्गत गृह, प्रकोष्ठ और गुहा उपवर्ग हैं, गृह के उपवर्ग में भवन और कुटीर। कुटीर लाल है और सफेद, गृह या गुहा का यदि आकार के अनुरूप वर्गीकरण किया जाए, तो बड़े या छोटे हो सकते हैं।

शब्द एवं सम्प्रत्यय (Words and Concepts)

सिद्धान्ततः सम्प्रत्यय की प्राप्ति के लिए भाषा को जानना आवश्यक नहीं है। हमारे अनेक सम्प्रत्यय बिना भाषा या शब्दों के ही निर्मित हो जाते हैं और उनको शब्दों द्वारा व्यक्त भी नहीं किया जा सकता। केवल वस्तुओं के किसी भी गुण की भिन्नता होने पर सम्प्रत्यय निर्मित हो जाते हैं। लेकिन व्यावहारिक रूप में सम्प्रत्यय निर्माण हेतु शब्दों का अत्यधिक महत्व होता है। वास्तव में भाषा मानव के सम्प्रत्यय निर्माण से इस प्रकार संबद्ध है कि सम्प्रत्यय की परिभाषा शब्द की परिभाषा का प्रायः पर्याय है। क्योंकि अधिकांश शब्दों का प्रयोग संज्ञा के रूप में वस्तुओं के सामान्य गुण के सन्दर्भ में होता है। यथा- घर, विद्यालय, पेड़ या कोई भी जातिवाचक संज्ञा हो, प्रत्येक शब्द में निहित सम्प्रत्यय भिन्न वस्तुओं में समान रूप में पाये जाने वाले गुणों पर आधारित होता है। अतः शब्दों के अर्थ और सम्प्रत्ययों के अर्थ बिल्कुल एक नहीं तो भी अत्यधिक संबंधित तो होते ही हैं।

पृथक्करण (Abstraction)

शब्दों के प्रत्ययों के ग्रहण करने के उपरान्त हमारे सामने दो बातें आती है। प्रथम- विभिन्न वस्तुओं में जो एक सामान्य गुण पाया जाता है, उसका विभेदन करना अमूर्तीकरण कहलाता है। द्वितीय- सामान्य गुण को विशेष संज्ञा शब्द से अभिहित करना। जब यहाँ संज्ञा सामान्य ग्रहीत गुणों के लिए निरंतर प्रयुक्त होती है, तब सम्प्रत्यय अधिगत हो जाता है। यथा- किसी छोटे बच्चे को सेव देते समय सेव का उच्चारण करें, फिर यदि ब्लॉक, गेंद देते समय कुछ ना कहें तो भी सेव का फलों के साथ साहचर्य स्थापित करने का अवसर मिल जाता है। समान वस्तुओं का यह सामान्यीकरण ही वास्तव में सम्प्रत्यय निर्माण के लिए आवश्यक होता है।

सम्प्रत्यय निर्माण की यह प्रक्रिया उतनी ही तीव्र गति से बढ़ती रहेगी जितनी तीव्रता से बालक वस्तुओं की भिन्नता को सीख सकेगा। साथ ही उनकी समानताओं को भी ग्रहण कर सकेगा और इस प्रकार वस्तुओं के वर्गों को निर्धारित कर सकेगा।

सम्प्रत्यय अधिगम की विधियाँ
(Methods of Concept Learning)

बालक सम्प्रत्यय कैसे सीखते हैं? वे किन प्रणालियों का प्रयोग करते हैं? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर इन चार प्रणालियों के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं।

विभेदात्मक अधिगम (Discriminative Learning)

बालक के सामने प्रतीकों को वस्तुओं से सम्बद्ध करने की समस्या होती है और इसे करना सीखने के समय वह वस्तुओं के कुछ सामान्य गुणों को ग्रहण करता है। इसको एक उदाहरण के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि कॉलेज के विद्यार्थियों के सामने 13 कार्डों की गड्डी (बंडल) में से एक-एक कार्ड अलग-अलग कार्ड, अलग-अलग प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक कार्ड पर भिन्न-भिन्न संस्कृत शब्द अंकित था। जैसे ही एक कार्ड दिखाया जाता, प्रयोगकर्ता एक निरर्थक शब्द कहता है। गड्डी के क्रमानुसार प्रयोगकर्ता का अनुकरणकर्ता उन निरर्थक शब्दों की केवल पुनरावृत्ति करता है। इसके बाद सभी कार्डों के क्रम में उलटफेर कर दिया गया और उसी प्रकार फिर क्रम से दिखाया गया। बंडल के कार्डों के क्रम को इसी प्रकार बार-बार तब तक दोहराया गया, जब तक प्रयोग पात्र हर संस्कृत के प्रत्येक शब्द के लिए उपयुक्त नाम न सीख जाये।

सन्दर्भ (Context)

सन्दर्भ के माध्यम से सम्प्रत्यय सीखना दूसरी प्रणाली है। हम किसी शब्द का अर्थ नहीं जानते किन्तु हम उसे विविध सन्दर्भों में देखते या सुनते हैं और उससे प्राय: उनके अर्थ को धारण कर लेते हैं।

परिभाषा (Definition)

नवीन सम्प्रत्यय सीखने की तीसरी प्रभावी प्रणाली है परिभाषा। वास्तव में अधिकांश सम्प्रत्यय जो हम अपनी शिक्षा के अंतिम काल में सीखते हैं, इसी प्रणाली से सीखते हैं। जैसे- 8 वर्षीय अधिकांश बालकों ने कभी प्रत्यक्षत: जेबरा नहीं देखा, किंतु उनमें जेबरा का सम्प्रत्यय होता है, उनसे कहा जाता है कि यह एक जानवर है जिसके धारियां होती हैं और वह देखने और दौड़ने में घोड़े जैसा होता है। उसका आकार भी घोड़े के समान होता है और यह प्राय: जंगल में पाया जाता है। यह परिभाषा जेबरा का पर्याप्त शुद्ध सम्प्रत्यय प्रस्तुत करती है।

वर्गीकरण (Classification)

विविध प्रकार की वस्तुओं को वर्गों में विभाजित करने का प्रयत्न करना वैज्ञानिकों द्वारा इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। विशेषत: जब किसी समस्या की गवेषणा करनी हो।

सम्प्रत्यय निर्माण को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting Concept Formation)

सम्प्रत्यय निर्माण में बाधकों/सहायकों का ज्ञान भी शैक्षणिक एवं व्यावहारिक महत्व का है। इसको चार कारकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

अन्तरण (Transfer)

अन्तरण से तात्पर्य स्थानान्तरण से है अर्थात् ज्ञान सम्प्रत्यय के आधार पर नवीन सम्प्रत्यय को धारण करना। समानता भ्रमात्मक भी हो सकती है या नकारात्मक अन्तरण की सम्भावना भी रहती है अत: नवीन सम्प्रत्यय स्पष्ट करते समय अध्यापक समानताओं और भेदों को स्पष्ट करें।

यथार्थ बनाम अमूर्त (Concrete Versus Abstract)

सम्प्रत्यय अधिगम की प्रक्रिया की सरलता को सम्प्रयत्यय की सापेक्ष यथार्थता या अमूर्तता भी प्रभावित करती है। यद्यपि अपवाद भी है, फिर भी यह सत्य है कि यथार्थ सम्प्रत्यय अमूर्त सम्प्रत्ययों की अपेक्षा सरलता से सीखे जाते हैं। सामान्य जीवन में ठोस सम्प्रत्यय वास्तविक वस्तुओं के होते हैं जैसे द्रव्यों, जानवरों, वृक्षों इत्यादि के। इन्हें अंक, धर्म, अनुशासन जैसे अमूर्त सम्प्रत्ययों की अपेक्षा ग्रहण करना सहज है।

प्रभिन्नता (Distinctiveness)

सम्प्रत्यय निर्माण में तीसरा कारक है प्रभिन्नता अर्थात् वह मात्रा, जिसके द्वारा सामान्य तत्वों को पृथक् सम्बद्ध या अन्य रूप से प्रमुख बनाया जाता है जो कुछ सम्प्रत्यय के सामान्य गुणों को स्पष्ट करता है वह सम्प्रत्यय निर्माण में सहायक होता है और जो कुछ उसे दुरूह या अस्पष्ट करता है या अनावश्यक विस्तार द्वारा आच्छादित कर देता है वह सम्प्रत्यय निर्माण में बाधक होता है।

सम्प्रत्ययों के अर्थ (Meaning of Concept)

व्यक्तियों के दैनिक वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही वस्तु के प्रति भिन्न लोगों के भिन्न सम्प्रत्यय होते हैं। यह राजनीति या धर्म जैसे अमूर्त क्षेत्रों में विशेष रूप से सत्य है।

यद्यपि सम्प्रत्यय के परिमापन हेतु अनेक कठिनाईयाँ हैं तथापि अर्थों को परिमापित करने वाली चार विधियों का उल्लेख इस प्रकार है-

1. **मुक्त अनुक्रिया (Free Response)**

यह जानने का सबसे सरल और उपयुक्त तरीका है कि व्यक्ति सम्प्रत्यय का क्या अर्थ समझता है। यह उससे ही पूछा जाये कि वह उसका क्या अभिप्राय समझता है यह मुक्त अनुक्रिया प्रभावी है।

2. विभेद (Discrimination)

एक व्यक्ति को विविध वस्तुएँ दिखाई जाती है अथवा व्यक्तियों की क्रियाएँ या वस्तुएँ दिखाई जाती है और उससे पूछा जाता है कि वह बताये कि इन वस्तुओं में से प्रत्येक सम्प्रत्यय का उदाहरण है या नहीं ? वैकल्पिक सरल प्रश्न किया जा सकता है कि वह उन वस्तुओं का विशेष समगुणों के अनुसार वर्गीकरण करे।

केफर (1941) के अनुसार- एक व्यक्ति को तीन या उससे अधिक वस्तुएँ दी जाती है और उसे विचित्र वस्तु उठाने के लिए कहा जाता है, ऐसी वस्तुएँ जो उस वर्ग की नहीं होती। इस प्रणाली की एक विशेषता यह है कि व्यक्ति को किसी विशेष प्रत्यय को स्पष्ट नहीं करना पड़ता। एक सरल प्रश्न द्वारा वह अनेक सम्प्रत्ययों के अर्थों का परिमापन कर सकता है और साथ ही सम्प्रत्ययों में यदि कोई परिभ्रांति हो तो उसे भी परिमापित कर सकता है इसका उदाहरण है- अट्टालिका, मंदिर, प्रधान गिरजाघर, प्रार्थना इत्यादि।

3. शब्द साहचर्य (Word Association)

इसमें व्यक्ति को एक शब्द दिया जाता है और उससे जो प्रथम साहचर्य उसके मस्तिष्क में आता है, पूछा जाता है। साधारणत: वह एक ऐसे शब्द में उत्तर देगा, जो उद्दीपन शब्द के वर्ग का ही होता है। यदि वह ऐसा उत्तर दे जो प्राय: उद्दीपन शब्द से सम्बन्धित नहीं होता है तो यह एक संकेत है कि उस व्यक्ति का निजी सम्प्रत्यय कुछ रूपों में सामान्य लोगों से भिन्न हैं।

निष्कर्ष-

इस प्रकार सम्प्रत्यय निर्माण प्रक्रिया में वस्तुओं के सामान्य एवं विशिष्ट गुणों का समावेश होता है। सामान्य गुणों की संख्या असंख्य है तथा निर्मित होने वाले वर्गों या सम्प्रत्ययों की संख्या का भी अंत नहीं है। शब्दों का सम्प्रत्यय के साथ गहरा संबंध होता है। पृथक्करण के द्वारा भी सम्प्रत्यय का निर्माण होता है। सम्प्रत्यय अधिगम में विभेदात्मक प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है तथा संदर्भ, परिभाषा, वर्गीकरण के माध्यम से सम्प्रत्यय का निर्माण किया जाता है। सम्प्रत्यय निर्माण को अंतरण, प्रभिन्नता, यथार्थ बनाम अमूर्त इत्यादि प्रभावित करते हैं।

सहायक ग्रन्थ-

1. Ausubel, David P.; Novak, Joseph D.; & Hanesian, Helen. (1978). *Educational psychology: A cognitive view.* New York: Holt, Rinehart & Winston.
2. Erickson, H. Lynn. (2002). *Concept-based curriculum and instruction: Teaching beyond the facts.* Thousand Oaks, CA: Corwin Press.
3. Gallenstein, Nancy L. (2005). Never too young for a concept map. *Science and Children, 43*(1), 44-47.
4. Howard V. A., & Barton, J. H. (1986). *Thinking on paper.* New York: W. Morrow.
5. Jonassen, David H.; Reeves, Thomas C.; Hong, Namsoo; Harvey, Douglas; & Peters, Karen. (1997). Concept mapping as cognitive learning and assessment tools. *Journal of Interactive Learning Research, 8*(3-4), 289-308.
6. McAleese, Ray. (1998). The knowledge arena as an extension to the concept map: Reflection in action. *Interactive Learning Environments, 6*(3), 251-272.
7. Novak, Joseph D., & Gowin, D. Bob. (1984). *Learning how to learn.* Cambridge: Cambridge University Press.
8. Paivio, Allan. (1991). Dual coding theory: Retrospect and current status. *Canadian Journal of Psychology, 45*(3), 255-287.
9. Pearson, Matthew, & Somekh, Bridget. (2003). Concept-mapping as a research tool: A study of primary children's representations of information and communication technologies (ICT). *Education and Information Technologies, 8*(1), 5-22.
10. Zanting, Anneke; Verloop, Nico; & Vermunt, Jan D. (2003). Using interviews and concept maps to access mentor teachers' practical knowledge. *Higher Education, 46*(2), 195-214.

ISSN 2278 - 0327

सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

डॉ. रविन्द्र सिंह राठौड़
सहायक आचार्य
अहिंसा एवं शांति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं - 341306 (राज.)

प्रो. अनिल धर
विभागाध्यक्ष
अहिंसा एवं शांति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं - 341306 (राज.)

सार-संक्षेप :

प्रस्तुत आलेख में सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्वों यथा अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर प्रकाश डाला गया है। जैन आचार में सम्यक् चारित्र की दृष्टि से अहिंसा और अनासक्ति ये दो केन्द्रीय सिद्धान्त है। एक बाह्य जगत् या सामाजिक जीवन में समत्व का संस्थापन करता है तो दूसरा आन्तरिक समत्व को बनाए रखता है। वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा और अनासक्ति मिलकर अनाग्रह और अनेकान्तवाद को जन्म देते हैं। आग्रह वैचारिक आसक्ति है और एकान्त वैचारिक हिंसा। अनासक्ति का सिद्धान्त ही अहिंसा से समन्दित हो सामाजिक जीवन में अपरिग्रह का आदेश प्रस्तुत करता है। संग्रह वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में आसक्ति और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में हिंसा है।

मनुष्य के पास मन, वाणी और शरीर ऐसे तीन साधन है जिनके माध्यम से वह सदाचरण या दुराचरण में प्रवृत्त होता है। शरीर का दुराचरण हिंसा और सदाचरण अहिंसा कहा जाता है। वाणी का दुराचरण आग्रह (वैचारिक असहिष्णुता) और सदाचरण अनाग्रह (वैचारिक-सहिष्णुता) है, जबकि मन का दुराचरण आसक्ति (ममत्व) और सदाचरण अनासक्ति (अपरिग्रह) है। यदि अहिंसा को ही केन्द्रीय तत्व माना जाए तो अनेकान्त को वैचारिक अहिंसा और अनासक्ति को मानसिक अहिंसा कहा जा सकता है। साथ ही अनासक्ति से प्रतिफलित होने वाला अपरिग्रह का सिद्धान्त सामाजिक एवं आर्थिक अहिंसा कहा जा सकता है।

मुख्य बिन्दु : अहिंसा, अपरिग्रह, नैतिकता, अनेकांत

जैन धर्म के अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह के जो मौलिक सिद्धांत हैं वे समाज-निरपेक्ष नहीं है, उनका सबंध दूसरे व्यक्तियों से ही रहा हुआ है। ये तीनों सिद्धान्त मूलत: व्यक्ति की सामाजिक चेतना या दूसरे व्यक्तियों से उसके संबंध को ही स्पष्ट करते हैं। बाह्य रूप से चाहे वे वैयक्तिक हो, किन्तु उनका प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर अवश्य पड़ता है। अत: यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म के प्रारम्भिक काल से ही उसमें सामाजिक चेतना का तत्व रहा हुआ है। जैन धर्म में वैयक्तिक हित साधन की अपेक्षा सामूहिक हित को अधिक महत्व दिया गया है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनाग्रह के रूप में हमारा व्यवहार पर निरपेक्ष नहीं होता है। अपने प्रारंभिक काल से ही जैन धर्म में आत्महित की अपेक्षा लोकहित को अधिक महत्व दिया गया है।[1] जैन दर्शन की अनेक विशेषताओं में आत्म-कर्तृत्व, अनेकान्तवाद, अहिंसा और अपरिग्रहवाद ये चार तो अद्वितीय हैं। इन चारों के आधार पर वह एक महान जीवन का दर्शन है।[2]

ग्रहत्यागी श्रावक में मन, वचन, काय और उनमें से प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना इस प्रकार नौ भंगों के द्वारा स्थूल हिंसा आदि का ध्यान पांच अहिंसा आदि अणुव्रत होते हैं। घर में रहने वाले श्रावक में अनुमोदना को छोड़कर शेष छह भंगों के द्वारा स्थूल हिंसा आदि का त्यागरूप पांच अहिंसा आदि अणुव्रत होते है।

अहिंसा-विकास में अनेकान्त दृष्टि का योग

अहिंसा की अर्थात्का जैन शब्द के साथ इस प्रकार घुली-मिली हुई है कि इनका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोकभाषा में यही प्रचलित है कि जैन धर्म, यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धाराएँ मिलती है। सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हो, वैसी बात नहीं, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान महावीर से जो अनेकान्त दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला। [4]

अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से भी की जाती है। कुछ लोग तो दोनों को एक ही कहने लगे हैं। पर दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि जहां समाजवाद का सम्बन्ध मात्र बाह्य वस्तुओं से है उनके समान वितरण से है, वहां अपरिग्रह में कषायों का त्याग मुख्य है। यदि बाह्य परिग्रह से भी समाजवाद की तुलना करें तो भी दोनों की दृष्टिकोण में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। समाजवाद के दृष्टिकोण के अनुसार यदि भोग सामग्री की कमी नहीं है और वह सबको इच्छानुसार प्राप्त है तो फिर उसके त्याग का या सीमित उपयोग का कोई प्रयोजन नहीं है पर अपरिग्रह के दृष्टिकोण से यह बात नहीं है। भले ही सभी को असीमित भोग प्राप्त हो, फिर भी हमें अपनी इच्छाओं को सीमित करना ही चाहिए।[5] अनेकान्त ही फलश्रुति है - व्यक्ति में अनाग्रह की चेतना पैदा करना, वह घटना का विश्लेषण अनेक कोणों के आधार पर करता है, इसलिए सत्यांशों के समन्वय की दृष्टि से निर्मित हो जाती है। इस भाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि सत्यांशों को सापेक्ष और समन्वय दृष्टि से देखने का नाम है अनेकांत। [6]

जैन धर्म में अहिंसा का स्थान

अहिंसा

रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि भारत में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए उनमें से अहिंसावाद को उतना महत्व किसी ने भी नहीं दिया, जितना जैन धर्म ने दिया है। बौद्ध में फिर भी अहिंसा की एक सीमा है कि स्वयं किसी जीव का वध न करो किंतु जैनों की अहिंसा बिल्कुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा में योगदान जैन धर्म में सबकी मना ही है और विशेषता यह है कि जैन दर्शन केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है। [7]

अहिंसा का समाज दर्शन

अहिंसा दो स्वरूपों में प्राप्त होती है- 1. हिंसा के निषेध के रूप में, 2. दया, करूणा, अनुकम्पा आदि के सकारात्मक रूप में। इन्हें अहिंसा के दो पक्ष भी कहा जा सकता है। इनमें द्वितीय पक्ष तो समाज-दर्शन से सीधा सम्बद्ध है तथा प्रथम पक्ष प्राणियों की रक्षा के रूप में समाज दर्शन का अंग बनता है। अहिंसा की आध्यात्मिक दृष्टि भी है तो सामाजिक दृष्टि भी। हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहां संवर का कारण है वहां सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि रक्षण के रूप में समस्त प्राणियों को प्राप्त होता है। प्राणि जगत् के सह अस्तित्व पर्यावरण संरक्षण, शांति और सामाजिक सौहार्द के लिए अहिंसा अमृत की भांति उपादेय है।[8] अहिंसा सब धर्मों का प्राण है। अहिंसा ही ध्रुव और शाश्वत धर्म है। अहिंसा की विराट साधना के लिए सब धर्मों ने बराबर बल दिया है। अहिंसा की भावना पर ही सामाजिक संगठन व पारस्परिक सम्बन्ध सुचारूता से निभ सकता है। [9]

अपरिग्रह

जैन नीति-मीमांसा में पंच-महाव्रतों की अवधारणा के अंतर्गत अपरिग्रह को एक महाव्रत माना गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है असंग्रह अर्थात् आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह या स्वामित्व न रखना। यह दरअसल अहिंसा का आर्थिक आयाम है। इसे स्वामित्व मुक्ति या स्वामित्व त्याग भी कहा जा सकता है।[10] अंतरंग में ममत्व भाव का और बाह्य में धन-पैसा, स्त्री, पुत्र आदि समस्त परिग्रह का त्याग कर देना अपरिग्रह है।[11] समाज का भला तब होगा जब अपरिग्रह सबका दृष्टि केन्द्र बने, संग्रह की भावना त्याग में बदले, अर्थ का वाद मिटे और अपरिग्रह का भाव बढ़े। अपरिग्रह की साधना के लिए अहिंसा की साधना और अहिंसा की साधना के लिए अपरिग्रह की साधना अनिवार्य है। अपरिग्रह को अहिंसा से अलग करके परिभाषित नहीं किया जा सकता। संतोष, संयम और मंत्री की सुदृढ़ आध्यात्मिक भावना के साथ प्राणिमात्र को एकाकार सूत्र में बांधना अपरिग्रह वाद का मूल लक्ष्य है। अपरिग्रह की चेतना का विकास एकत्व की भावना उदित होने पर होता है।[12]

परिग्रह के मूल में लोभ है और यह मिथ्यादृष्टि है कि जिसका हम संग्रह कर रहे हैं वह शाश्वत नहीं तो दीर्घ-स्थायी तो है ही। प्रेक्षा ध्यान का अभ्यास कर हम अपरिग्रह के भाव को बढ़ा सकते हैं। इस अर्थ में ''प्रेक्षा साधना है और अपरिग्रह साध्य है।''[13]

अहिंसा और अपरिग्रह की एकात्मकता

अहिंसा और अपरिग्रह दोनों में ऐक्य है। आज अहिंसा केवल न मारने के तक सीमित रह गई। अपरिग्रह उसकी आत्मा है। वह अपरिग्रह से विमुक्त हो गई और अपरिग्रह अहिंसा से विमुक्त हो गया। दोनों अलग-थलग पड़ गए। महावीर ने अहिंसा की व्यापक परिभाषा की थी। उनका प्रवचन - किसी को मत

मारो, मत सताओ, पीड़ा मत दो, दास-दासी बना हुआ हुकूमत मत करो, बलात् किसी को अपने अधीन मत करो। दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना परिग्रह है और वह हिंसा है, परिग्रह और हिंसा की एकात्मकता है। वैसे ही अपरिग्रह और अहिंसा की एकात्मकता है।[14]

अपरिग्रह के बिना अहिंसा असंभव है। अहिंसा के बिना अपरिग्रह असंभव है। महावीर की क्रांति का मुख्य सूत्र है - अपरिग्रह और अहिंसा एक आसन पर एक साथ उपस्थिति। महावीर के नाम पर अहिंसा की रट लगायी जा रही है और अपरिग्रह को पर्दे के पीछे ढकेला जा रहा है। परिणाम यह हो रहा है- हजार प्रयत्न करने पर भी, हजार उपदेश देने पर भी, हजार व्यवस्था करने पर भी अहिंसा का विकास नहीं हो रहा है, हिंसा का एकछत्र राज्य बढ़ता जा रहा है। अपरिग्रह का व्रत मुनि और संन्यासी के लिए हो सकता है। गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का व्रत शक्य नहीं है। गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का अर्थ इच्छा-परिमाण अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा है। अत: भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए इच्छापरिणाम व्रत का संदेश दिया।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति अहिंसा प्रधान रही है। जैन परम्परा के इस हिंसा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया और उसे उत्कृष्ट मंगल बताया। इसी परम्परा ने हिंसा व अहिंसा के व्यापक स्वरूप को भी व्याख्यायित किया है, हिंसा किसी को मारना, पीड़ित करना ही नहीं है, असत्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रह आदि पाप भी 'हिंसा' के ही विविध रूप हैं। इसी तरह, कषाय, लोभादि आन्तरिक परिग्रहों तथा बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति व ममत्व का न होना यह भी अहिंसा धर्म का अंग है। स्थूल परिग्रह का त्याग कर गृहस्थ सागार धर्म और पूर्ण अपरिग्रह मुनि अनगार धर्म का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार 'परिग्रह' हिंसा का और अपरिग्रह 'अहिंसा' का ही एक रूप है, यह सिद्ध होता है।

सन्दर्भ सूची -

1. सागरमल जैन, जैन धर्म दर्शन का ऐतिहासिक विकासक्रम, जैन विश्वभारती संस्थान, 2018, लाडनूं, पृ. 266
2. मुनि मोहनलाल 'शार्दुल' जैन दर्शन में परिपार्श्व में आचार्य साहित्य संघ प्रकाशन, 1989, पृ. 5
3. सागरधर्म अमृत, 4/5
4. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली, 2012, पृ. 277
5. हुकुमचन्द भारिल्ल, धर्म के दस लक्षण, सन.एन.सन. तिलकनगर, जयपुर, 2017, पृ. 151
6. नन्द किशोर आचार्य, अहिंसा विश्वकोश, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2010, पृ. 61
7. अशोक कुमार जैन, जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला, सांगानेर, जयपुर, 2005, पृ. 196
8. धर्मचन्द जैन, जैन धर्म-दर्शन, एक अनुशील प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2015, पृ. 284
9. मुनि मोहनलाल शार्दुल, जैन दर्शन के परिपार्श्व में, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1989, पृ. 7
10. नन्द किशोर आचार्य, अहिंसा विश्वकोष, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2010, पृ. 62
11. मुनि क्षमासागर, जैन दर्शन पारिभाषिक शब्दकोश, मंत्री समूह, विदिशा, पृ. 22
12. समणी कुसुमप्रज्ञा, एक बूंद-एक सागर, जैन विश्वभारती प्रकाशन, 2005, पृ. 106-107
13. धम्मपद प्राकृत, 161, पृ. 74
14. पुरूषोतम् महावीर, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, पृ. 101-102

ISSN 2278 - 0327

भारत बोध की सम्यक् दृष्टि

डॉ. वरुण कुमार उपाध्याय
सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

भारत बोध क्या है ?

भारत बोध भारत के एक राष्ट्र के रूप में इसके व्यक्तित्व की समग्र समझ के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह भारतीय संस्कृति के चेतन, अचेतन और अवचेतनया की समीक्षात्मक समझ और अधिमूल्यन की प्रवृत्ति का विकास करने से संबंधित है। भारतीय सनातन मूल्य और उनके आत्मसातीकरण के साथ उनको नये परिप्रेक्ष्य में देख पाने की क्षमता का विकास भारत बोध के विकसित करने की प्रक्रिया के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

बोध कहते हैं किसी भी बोध्य को अपनी चेतना में निमज्जित कर लेना और उसके रस से सराबोर हो जाना, यानी बोध्य और बोधक की एकरसता ही बोध है। अत: भारत-बोध का अर्थ है भारत की अनुभूति से अनुप्राणित होकर भारत को प्रकाशित करते रहना।

यह भारत की अनुभूति क्या है? यह वही है जिससे भारत का साहित्य, इतिहास, सभी कलायें, लोक जीवन के रिवाज़, दर्शन आदि अपना अपना रस पाते हैं और आगे बढ़ते हैं, उस मीठे जल के स्रोत का सम्यक् ज्ञान जिससे भारत की सांस्कृतिक चेतना प्राण पाती है उसे जानना ही भारत-बोध है। किंतु वह कोई स्थूल झरना नहीं है, वह एक अनुभूति है, वेदों ने उसे 'ऋत' कहा है। उसे जानने के लिए भारत के प्राचीनतम इतिहास, धर्म का स्वरूप, भारतीय साहित्य, सभी कलाओं, लोकजीवन का अवलोकन बड़ी सजगता से करना होगा और उस अवलोकन को आज के समय तक खींच के लाना होगा। उसी में वह गुप्त सरस्वती प्रवाहित है। परम कारण के विषय मे नेति-नेति, कर्म के विषय में चरैवेति, दूसरों के लिए व्यवहार में करुणा और तप, कंकर-कंकर शंकर की भावमयी अनुभूति। शिल्प कला की महीन से महीन कारीगरी में योगीत्व के दर्शन। *सर्वे भवन्तु सुखिन:* की मधुमयी भावना, दुष्टता के संहार हेतु दृढ़ उपलब्ध प्रतीक आदि के अध्ययन को जब हम जान लेंगे, तो हमारे अंदर भारत-बोध या भरत दृष्टि उतपन्न होगी, भारतीय सौन्दर्य बोध उत्पन्न होगा। संस्कृत का संपूर्ण वाङ्मय भारत का प्रतिबिंब है, उसे जानना बहुत आवश्यक है किंतु मात्र इसी से काम नहीं चलेगा संपूर्णता के लिए भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं को भी जानना होगा, लोकजीवन के शिल्प, रंग, उत्सव, गीत आदि देखने होंगे। वर्तमान में भारत मे अनेकों धर्म के लोग हैं, वो सब भी भारतीय हैं। उन्हें भारत के मूल ज्ञान प्रतीकों को अपना समझना चाहिए और अन्य लोगों को उन्हें अपनी ही तरह भारतीय। भारतीय ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में सभी का सम्यक् अधिकार है। रामायण और महाभारत ऐसे स्रोत हैं जिनसे भारतीय लोकजीवन, साहित्य, संगीत, कला, शिल्प आदि सभी को प्रेरणा मिलती है, वे अपने अपने माध्यम से इसे अभिव्यक्त करने में आदिकाल से रत हैं, अत: भारत बोध के लिए इनका अनुशीलन आवश्यक है।

भारत बोध की आवश्यकता -

भारत बोध भारतवर्ष की पहचान स्वाभिमान और आत्मसम्मान की आधारशिला है। यह भारत वर्ष के आत्मसंप्रत्यय से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है और कहा जाय तो उस का समानार्थी भी है। व्यक्ति का आत्मसंप्रत्यय उसके आत्मबोध का ही दूसरा पक्ष है उसी प्रकार राष्ट्र का आत्म संप्रत्यय जो स्वयं अपने नागरिकों के सामूहिक आत्मसंप्रत्यय का समुच्चय है, अपनी संस्कृति और अपने गौरवशाली अतीत के समग्र स्मरण और बोध से ही संभव है। अपने गौरवशाली अतीत के समग्र बोध से ही भारतबोध संभव है जिससे की भारतीय समाज और नई पीढ़ी दोनों को आत्म गौरव और दिशा दोनों वापस मिल सकते हैं।

भारत बोध का ऐतिहासिक तथ्य -

देखा जाय तो भारतीय समाज में वर्तमान में भारत बोध जिन उद्धरणों या बयानों पर निर्मित है वह उद्धरण विदेशी विद्वानों के दिए गए हैं। अंग्रेजों ने भारतीय वाङ्मय को कपोल कल्पित मानकर अपने लिखे इतिहास का आधार इंडोग्रीक विद्वानों, पर्सियन

विद्वानों, अरब यात्रियों, इटली, पुर्तगाल समेत चीनी यात्रियों के विवरणों को ज्यादा प्रामाणिक माना। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि भारतीय समाज को विश्वसमुदाय के सामने पिछड़ा, ज्ञान विज्ञान तर्क, साहित्य दर्शन से रहित साबित किया जा सके और औपनिवेशिकरण का उद्देश्य भारतीय समाज का आधुनिकीकरण बताकर आसानी से नस्ली श्रेष्ठता और अपने साम्राज्यवादी लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। यह विडंबना ही है कि हम कौन थे और कौन हैं इसके लिए हमें विदेशी उद्धरणों का मुखापेक्षी बना दिया गया है। यह एक बहुत ही गहरे षड्यंत्र का हिस्सा है जिस का प्रारंभ सल्तनतकाल में दरबारी और प्रायोजित इतिहासकारों द्वारा लिखे गए एकतरफा इतिहास से होता है और इसका चरमोत्कर्ष होता है लार्ड मैकाले के उस वक्तव्य में जिसमें वह कहते हैं कि– 'यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की एक दराज इंडिया और अरब के समस्त साहित्य से श्रेष्ठ है।'

कुछ ऐसे मिथक या बयान जो कि पिछले पचास सालों में भारत बोध को परिभाषित करने और भारतीय संस्कृति के आत्मसंप्रत्यय को विकृत रूप से परिभाषित करने और उसके गौरवशाली और सत्य स्वरूप को आत्मविस्मरण की तरफ ले जाने का साधन रहे हैं उन पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

अ) वर्णाश्रम व्यवस्था के बारे में प्रचलित मिथक –

वर्णाश्रम व्यवस्था को एक बहुत ही प्रतिगामी और सामंती व्यवस्था के रूप मे चित्रित किया गया है। आज की बाजार व्यवस्था और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकल्प के रूप में यह व्यवस्था कम से कम 3000 साल पहले बहुत वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत थी। ऋग्वेद के दसवें मंडल में वर्णाश्रम धर्म का उल्लेख मिलता है। श्रीमद्भगवद गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं– *चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टया गुणकर्म विभागशः।* यह व्यवस्था श्रम के विभाजन और श्रम के विशिष्टीकरण के आधुनिक सिद्धांतों के अनुरूप थी। 1776 में एडम स्मिथ ने कार्य के सामाजिक विभाजन का आधार कार्य में विशिष्ट दक्षता और कार्य निष्पादन के गुणों के आधार पर करते हुए इसी सिद्धांत को पुष्ट किया (रोजेनबर्ग, 1965)। आश्चर्यजनक रूप से हेनरी फेयोल (1916) के द्वारा दिए गए प्रशासनिक प्रबंध के सिद्धांतों में श्रम के विभाजन का सिद्धांत भी शामिल है जो उत्पादन में कार्य विभाजन और विशिष्टता का पक्षधर है।

जिस सिद्धांत को भारतीय सनातन संस्कृति कम से कम 3000 साल पहले आत्मसात कर चुकी थी और उस सिद्धांत को आज से मात्र 300 साल पहले प्रयुक्त करने वाले यूरोप के उद्धरणों के आधार पर वर्णाश्रम व्यवस्था को अवैज्ञानिक और असंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। कहीं न कहीं भारत की एक ऐसी सामजिक आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था के नैतिक आधार और मनोबल को तोड़ने का दुष्चक्र था। औपनिवेशिक विचारधारा से पोषित अंग्रेज विद्वानों ने भारत पर किये गए अपने अध्ययनों में भारतीय समाज को एक बंद और अपरिवर्तनशील परंपरागत समाज के रूप में चित्रित किया और उसकी तुलना औद्योगिक क्रांति से पूर्व के यूरोप से की और अपने आधुनिकीकरण के सिद्धांतों को लागू करने के लिए इस विचारधारा को भारतीय समाज पर आरोपित किया। उनके सामने मजबूरी थी कि वे अपने आर्थिक विकास के सिद्धांतों को सही साबित करने के लिए ऐसा करते और भारत के आधुनिकीकरण के नाम पर इसके औपनिवेशीकरण का औचित्य सिद्ध करते।

ब) भारतीय तर्क और वैज्ञानिकता के बारे में प्रचलित मिथक–

भारतीय तर्क और वैज्ञानिकता पर प्रश्न खड़ा करना एक ऐसा अस्त्र था जिससे भारतबोध को सबसे ज्यादा क्षति पहुंचाई गई। वास्तविक परिस्थिति इसके विपरीत है। भारतीय खगोल विज्ञान के ग्रंथों में की गई गणनाएं और उनकी शुद्धता आज के आधुनिक खगोल विज्ञान की गणनाओं से तुलनीय हैं। हालांकि ध्यान देने योग्य बात यह है कि तब की गणनाएं इतने परिष्कृत यंत्रों से नहीं की गई हैं और उनको संपादित करने के लिए विशुद्ध रूप से तर्क का ही सहारा लिया गया है।

ईसा पूर्व 100वीं सदी में पिंगल द्वारा प्रदत्त बाइनरी गणना और उसको दशमलव में परिवर्तन करने की पद्धति से मिलती-जुलती प्रणाली का आविष्कार का श्रेय लाइबनित्ज़ (17वीं शताब्दी) को दिया जाता है जो यूरोपीय पुनर्जागरण के अग्रदूतों में से माने जाते हैं।

आर्यभट्ट के द्वारा पांचवी सदी में की गई खगौलिक गणनाएं अगले एक हजार सालों तक सबसे ज्यादा परिशुद्ध रहीं। जैकब के अनुसार आर्यभट्ट ने यह मत दिया कि पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है और उन्होंने उसकी परिक्रमा के समय का जो अनुमान लगाया वह आधुनिक गणनाओं के सर्वाधिक करीब है। पाई की मान की पहली गणना भी आर्यभट्ट के द्वारा की गई जो सबसे सही मानी जाती है।

पाणिनि ने ईसापूर्व 400वीं सदी में अपने अष्टाध्यायी में संस्कृत व्याकरण के नियमों को सूत्रों के माध्यम से व्यक्त किया। संस्कृत आज भी सबसे वैज्ञानिक भाषा है जिसमें संगणक विज्ञान

के विकास की सर्वाधिक संभावनाएं हैं। इसमें कोडिंग और सॉफ्टवेयर डेवलपमेंट सरलता से किये जा सकते हैं। संस्कृत एक भविष्योन्मुखी भाषा है जिसमें भावी और जटिलतम प्रोग्राम्स की कोडिंग और डेवेलपमेंट की संभावनाएं हैं।

स) भारतीय शोध दृष्टि के बारे में प्रचलित मिथक –

आज के दौर में शोध की दिशा बाजार और बाजार में उसकी मांग के आधार पर तय की जाती है। शोध के लिए किया जाने वाला निवेश भी विशुद्ध लाभ के उद्देश्य से होता है और वह कुछ कन्सल्टेन्सीज, प्राइवेट कंपनियों और व्यक्तियों की कॉपीराइट का विषय होता है।

सौभाग्य से भारतीय समाज में शोध जनता द्वारा समर्थित था, विद्वान् भिक्षा मांगकर आजीविका के दायित्व से मुक्त होकर विचार करने और सामाजिक कल्याण के लिए सिद्धांतों, तर्क पद्धतियों और विभिन्न विधाओं के विकास में लगे रहते थे। अगर शोध में प्रयुक्त होने वाले तर्क पद्धति की बात करें तो न्याय दर्शन का प्रवेश ग्रंथ 'तर्कभाषा' में वर्तमान शोध की प्रक्रिया के अधिकांश चरण और प्रक्रियाएं निहित हैं। किस प्रकार से शोध के विषय को परिभाषित किया जाये, कैसे विभिन्न पदों की कार्यात्मक परिभाषा दी जाए, कैसे परिकल्पनाओं और अनुमान के माध्यम से ज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत किया जाए और निष्कर्ष निकाले जाएं, यह सब इस ग्रंथ में निहित है। इस ग्रंथ का समय 11वीं शताब्दी है और यह परंपरा भारतवर्ष में सनातन रूप से रही है।

द) ज्ञान परंपरा के बारे में प्रचलित मिथक –

पाश्चात्य विद्वान् ज्ञान को जेटीबी (जस्टिफाइड ट्रू बिलीफ) अर्थात् प्रमाणित सत्य विश्वास के रूप में परिभाषित करते हैं और प्रमाण के ओंटोलॉजिकल और डीआन्टोलॉजिकल स्वरूप पर चर्चा करते हुए गेटियर समस्या की विवेचना में फंस जाते हैं। यह हाल आधुनिक विद्वानों का है हालांकि इस समस्या को भारत वर्ष में सबसे पहले धर्मोत्तर ने आठवीं शताब्दी में ही परिभाषित कर लिया था। पाश्चात्य ज्ञान परंपरा में ज्ञान की एक सबसे बड़ी समस्या रही है गेटियर प्रॉब्लम या गेटियर समस्या जो कि अमेरिकन दार्शनिक एडमंड गेटियर (1963) द्वारा खोजी गई। इस समस्या के बाद एडमंड गेटियर ने ज्ञान के प्रमाणित सत्य विश्वास (जेटीबी) होने पर प्रश्न खड़ा किया। उनके अनुसार कई बार हमारा विश्वास सत्य निकलता है लेकिन प्रमाण का स्रोत बदल जाता है यह संयोगवश हो सकता है, हमारी बुद्धि और अनुमान की क्षमता में कमी से हो सकती है या हमारी अज्ञानता से हो सकता है। जैसे कि हमें मरुस्थल में कहीं पानी दिखाई देता है और हम विश्वास कर लेते हैं कि वहां पर पानी है और इसके बाद हम जब वहां जाते हैं तो जो हमें दिख रहा होता है वह पानी नहीं मृगतृष्णा थी लेकिन ठीक उसी जगह पर नीचे पानी का स्त्रोत चट्टान के अंदर मिल जाता है। इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान प्रमाणित भी है और सत्य विश्वास पर आधारित भी है लेकिन क्या ज्ञान की यह पाश्चात्य परिभाषा प्रक्रियात्मक रूप से दोषपूर्ण नहीं रह जाती। आश्चर्य की बात है कि अपनी ज्ञानमीमांसा की प्रक्रिया में जिस दोष को पाश्चात्य विद्वानों ने 1963 ईसवी में तलाशा उसे भारतीय विद्वान् धर्मकीर्ति के विचारों की विवेचना करते हुए धर्मोत्तर ने 770 ईसवी में ही लिपिबद्ध कर दिया था (वैद्य, 2015)।

य) भारतीय विज्ञान के बारे में प्रचलित मिथक–

एक प्रचलित मिथक यह है कि भारत में विज्ञान की कोई परंपरा नहीं रही है हालांकि स्थिति इसके विपरीत है। चैल्टन और मकॉर्डल (2015) के अनुसार आर्यभट्ट ने पांचवीसदी ईस्वी में 23 वर्ष की अवस्था में अपनी किताब आर्यभट्टीयम् में दुनिया में पहली बार वर्गमूल निकालने की पद्धति का आविष्कार किया और त्रिकोणमिति के ज्या (sign values) परिमाणों की सूची दी। उन्होंने द्विविमीय ज्यामिति का प्रयोग करते हुए गोलीय पृष्ठ पर बिंदुओं की स्थिति को दर्शाने का कार्य भी सफलता पूर्वक किया। आर्यभट्ट ने आधुनिक बीज गणित और खगोलशास्त्र के लिए अनेक अवदान दिए लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण था दशमलव के स्थानिक मानों और शून्य की गणितीय समझ का विकास करना। उनके इन कार्यों को मध्य पूर्व और फिर यूरोप में ले जाया गया। हमारी युवा पीढ़ी शायद ही यह जानती हो कि जिस यूरोप और अमेरिका का वह अनुकरण करती है वह संस्कृतियां 1202 ईसवी तक दशमलव और शून्य से अवगत नहीं थीं। 1202 ईस्वी में एक इटालियन एकाउंटेंट फिबोनाकी ने इंडियन दशमलव, शून्य और अरेबिक अंकों का प्रयोग करके आधुनिक संख्या पद्धति से यूरोप को अवगत कराया (गोएत्ज़मैन, 2004)।

सरदार एवं लून (2015) के अनुसार पाश्चात्य विज्ञान अपने मूल स्वरूप में औद्योगिक क्रांति और पश्चिमी सभ्यता की तरफ ज्यादा झुकाव रखता है, जैसे कि उष्मागतिकी का द्वितीय नियम। यह नियम औद्योगिक उत्पादन में दक्षता के लिए अधिक तापमान और अधिक संसाधनों के एकतरफा आवंटन को सुनिश्चित करता है जो कि प्रकृति और प्राच्य संस्कृतियों दोनों के प्रतिकूल है। पाश्चात्य तर्क, दर्शन और वैज्ञानिक पद्धति सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से निरपेक्ष न होकर पश्चिमी देशों की तरफ झुके हुए हैं।

भारतीय साहित्य और वांग्मय के प्रति वर्तमान पीढ़ी उदासीन

ही नहीं है बल्कि एक कटाक्ष और आत्म अवमूल्यन की दृष्टि से इसे देखती है। भारतीय समाज को यह स्मरण करने की आवश्यकता है कि सर विलियम जोन्स ने 1789 में कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलम् का अंग्रेजी अनुवाद किया और इस प्रकार भारतीय वाङ्मय एवं नाट्यकला की परंपरा से पाश्चात्य जगत अवगत हुआ। जार्ज फोर्स्टर ने 1791 में शकुंतला का अंग्रेजी से जर्मन में अनुवाद किया। फोर्स्टर ने अपना जर्मन अनुवाद अपने समय के प्रमुख दार्शनिक और समीक्षक जोहन गोटफ्राइड हर्डर को प्रस्तुत किया। हर्डर ने शकुंतला का जर्मन अनुवाद पढ़ने के बाद पाश्चात्य दर्शन और साहित्य को भारतीय साहित्य के इस छोटे से अंश के आगे 'सीमित और ठंडा (नैरो एन्ड कोल्ड)' कहा। यूरोप के महानतम विद्वानों और लेखकों में से अग्रणी जर्मन जोहन वोल्फगांग वॉनगेटे भी इस कृति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। घोष एवं बनर्जी (2006) अभिज्ञानशाकुंतलम के बारे में उनके ही शब्दों में- 'जब मैंने पहली बार इस अमर कृति को पढ़ा तो इसने मुझे इतना उत्साह प्रदान किया कि मैं इसे पूरा पढ़े बिना नहीं रह सका। मैंने इसे जर्मन रंगमंच पर लाने का प्रयास करने को बाध्य हुआ जो बहुत ही मुश्किल है। हालाँकि यह प्रयास निरर्थक रहे लेकिन उन्होंने मुझे इस अमूल्य कृति से इतना अवगत कराया कि वह मेरे जीवन में एक नये युग का प्रारंभ था।' गेटे ने संस्कृत सीखी और शकुंतला का जर्मन में नाट्य रूपांतरण किया। शकुंतला के रूप में कालिदास ने जिस स्त्री का व्यक्तित्व चित्रित किया है वह जर्मन और यूरोपीय कला और साहित्य में आदर्श नारी का स्वरूप बन गया।

भारत बोध का मनोविज्ञान- भारत बोध का मनोविज्ञान अवकरणवादी न हो कर समग्र होना चाहिए। यह चरित्र विकास का मनोविज्ञान होना चाहिए, ऐसा चरित्र जो समत्व को विकसित करे और एक संतुलित व्यक्तित्व का विकास करे। पाश्चात्य चरित्र विकास के सिद्धांतों में फ्रायड काम की प्रवृत्ति को मुख्य ऊर्जा मानते हुए उसके रूपांतरण और प्रतिरक्षा उपक्रमों (डिफेन्स मेकनिज्म) के माध्यम से व्यक्तित्व और चरित्र को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। कोहलबर्ग जीवन के विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार के नैतिक द्वंद के समाधान से चरित्र विकास की व्याख्या करते हैं। भारतीय परंपरा में चरित्र का विकास सर्वोपरि है। कहा गया है-

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्तत: क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हत:॥

चारित्र्य का रक्षण करना चाहिए। धन तो आता है और जाता है। वित्त से क्षीण होने वाला क्षीण नहीं है, पर शील से क्षीण होने वाला नष्ट होता है।

भारतीय मनोविज्ञान वस्तुत: भारतीयता के मूल्यों से अनुप्राणित है। इसमें व्यवहार की व्याख्या बहुत सुंदर तरीके से की गई है। उदाहरणार्थ -

श्रीमद्भागवत गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को मनुष्य का मनोविज्ञान समझाते हुए कहते हैं-

ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते। 12/62 ।।

काम करने से पहले ही विषय का चिंतन करने से उसमें आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्ति से कामना और कामना से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से सम्मोह और सम्मोह से स्मृति भ्रम होता है। इससे अंततोगत्वा बुद्धि का नाश हो जाता है और उससे मनुष्य का पतन हो जाता है। शिक्षा की पाठ्यचर्या चारित्रिक विकास के भारतीय सिद्धांतों पर पुनर्गठित होनी चाहिए।

भारत बोध की वैश्विक दृष्टि-

वसुधैव कुटुम्बकम् और *सर्व खलु इदं ब्रह्म* अर्थात् यह धरती ही परिवार है और समस्त ब्रह्मांड एक ही चैतन्य शक्ति का प्रतिबिंबन है जिसे कि जर्मनी के बर्न लार्ज टेट्रा हेड्रान कोलाईडर में किये गए प्रयोग से भी सत्यापित किया गया कि ब्रह्मांड की सूक्ष्तम इकाई ऊर्जा है, कोई द्रव्यमान युक्त कण नहीं। सैधांतिक भौतिकी आज भारतीय योगिक परंपरा को अपने प्रयोगशालाओं में सत्यापित करने का उपक्रम कर रही है। यह वैश्विक दृष्टि विश्व को संकीर्ण राष्ट्रवाद और विश्वयुद्धों से दूर एक परिवार के रूप में नई दृष्टि देगी।

भारत बोध का सम-सामयिक प्रसंग और उपादेयता-

दुनिया भर के देश और संयुक्त राष्ट्र संघ आज जिस सस्टेनेबल डेवलपमेंट गोल की बात कर रहा है, जिस पर्यावरण संरक्षण की बात कर रहा है, वह हमारी प्राचीन संस्कृति के मूल्यों की बात है। *संतोषं परमं सुखम्* और पर्यावरण के घटकों को पवित्र मान कर उनकी रक्षा करना यह हमारी परंपरा रही है। आज जब विश्व प्राकृतिक संसाधनों की कमी, दूषित जीवन शैली और पर्यावरण के क्षरण के परिणामों से अस्तित्व का संकट झेल रहा है, भारत बोध सर्वाधिक प्रासंगिक और उपादेय हो चला है। वह दिन दूर नहीं जब भारत बोध विश्व बोध का मुलभूत सिद्धांत होगा और वैश्विक समुदाय इसे आत्मसात करेगा।

भारत बोध विकसित करने की एक प्रस्तावित रणनीति-

1. भारत बोध को विद्यालयी पाठ्यक्रम में शामिल करना और

उच्च शिक्षण संस्थानों में भारत बोध पर शोध को प्रस्तावित करना।

2. संस्कृत के साथ क्लासिकल भाषाओं के कार्यपरक अध्ययन को प्रोत्साहित करना। इस दिशा में नई राष्ट्रिय शिक्षा नीति में आवश्यक कदम उठाए गए हैं जिन्हें प्रभावकारी रूप से लागू करना होगा।
3. पाश्चात्य विज्ञान के दर्शन की समीक्षात्मक समझ विकसित करना जिससे कि पाश्चात्य विज्ञान का अंधानुकरण न करके हमारी पीढ़ी समझ सके कि भारतीय विज्ञान और तर्क पद्धति कमतर न होकर उनकी अग्रगामी है और इस प्रकार अपनी ज्ञान परंपरा की स्वाभिमान युक्त स्वानुभूति कर सके।
4. भारतीय कलाओं को केंद्रीय पाठ्यचर्या (कोरकरिकुलम) का हिस्सा बनाना जिससे भारतीय स्थापत्य कला, अभियांत्रिकी, नाट्य अभिनय नृत्य कला इत्यादि का नई पीढ़ी और भारतीय समाज को सम्यक् बोध हो सके।
5. वयस्क शिक्षा के औपचारिक कार्यक्रम प्रारंभ किये जाने चाहिए जिससे कि पिछले 50 सालों में भारत बोध से वंचित वयस्क और प्रौढ़ पीढ़ी अपने विस्मृत अतीत का क्रियात्मक संज्ञान ले सके।
6. यह राष्ट्र का आत्म संप्रत्यय है जो बिना आत्मबोध और जागरण के असम्भव है। इसके लिए आवश्यक है नीतिगत बदलाव, संस्थागत बदलाव, प्रक्रियागत बदलाव और संरचनात्मक बदलाव के साथ-साथ लोकजीवन के हर स्तर पर सांस्कृतिक नेतृत्त्व।
7. नीतिगत बदलावों के साथ सांस्कृतिक संस्थाओं जैसे गुरुकुलों की स्थापना और संस्कृत की शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाना आवश्यक है।
8. स्थानीय स्तर पर सांस्कृतिक नेतृत्त्व से ही जनता के स्तर पर कोई बदलाव संभव है। यह आवश्यक है कि गुरुकुलों में ऐसे शिक्षक नियुक्त हों जो स्थानीय समुदाय से हों, जिनमें भारत बोध समग्र रूप से विकसित हो और जो भारतीय शिक्षण की पेडागोजी से परिचित हों।
9. राष्ट्रीय स्तर पर एवं राज्य स्तर पर भारत बोध संस्थानों की स्थापना कर वहां शिक्षण प्रशिक्षण, भारत बोध नेतृत्त्व पाठ्यक्रम पर विभिन्न कोर्स एवं प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता है। इससे इस सांस्कृतिक परिवर्त्तन को स्थायी एवं सतत बनाया जा सकता है।

भारतीय ज्ञान विज्ञान, साहित्य और दर्शन उसके सम्यक बोध और प्रचलित दुराग्रहपूर्ण मान्यताओं के खंडन के साथ आधुनिक ज्ञान विज्ञान की समीक्षात्मक समझ से युवा पीढ़ी में भारत बोध विकसित किया जा सकता है। सम्यक् भारत बोध सामूहिक भारतीय चैतन्य की वह आत्म जागरण है जिसमें वह अपने गौरव अतीत का बोध ही नहीं करता है बल्कि भारतीय संस्कृति के बारे में प्रचलित मिथकों के प्रति सचेत रहता है। व्यक्ति और समाज किसी भी उद्धरण, बयान और दुष्प्रचार को समीक्षात्मक रूप से परखते हैं और उसको अपनी सांस्कृतिक धरोहर के सातत्य में देखने का प्रयास करते हैं। वह भारतीय मूल्यों परंपराओं संस्थाओं ज्ञान परंपराओं और दर्शनों की समीक्षात्मक समझ के अलावा उनका अधिमूल्यन करते रहने की प्रवृत्ति रखते हैं। भारतीय सौंदर्य बोध से युक्त नागरिक और समाज की परिकल्पना को साकार करना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण होगा। भारतीय समाज और व्यक्ति दोनों वृहद् सामजिक शुभ के आलोक में राष्ट्र के हित को सर्वोपरि रखते हुए अपने निर्णय लेते है।

संदर्भ –

1. एल्मर एच कल्ट्स. (1953). द बैकग्राउन्ड औफ मैकाले मिनट. द अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू, 58(4), 824-853. doi:10.2307/1842459
2. चैल्टन, निकोला, एवं मेरेडिथ मकार्डल. ट्वेन्टीथ सेन्चुरी इन बिट-साईज़्ड चन्क्स. चार्टवेल बुक्स, 2017
3. गेटियर, इ.3एल. (1963). इज जस्टिफाईड टू बिलीफ नौलेज? एनालिसस, 23(6), 121-123.
4. घोष, एस., एण्ड बनर्जी, यू.के. (2006). इन्डियन पपेट्स , पेज 21-29. अभिनव प्रकाशन
5. गोएत्जमैन, विलियम एन. फिबोनाक्की एन्ड द फाईनेन्सियल रिवोल्यूशन. न0. डब्ल्यू 10352. नेशनल ब्यूरो आफ इकोनोमिक रिसर्च, 2004
6. मेरिल, एच. एफ (एडिटेड). (1960). क्लासिक्स इन मैनेजमेंट (पीपी. 389-408). न्यूयार्क. अमेरिकन मैनेजमेंट एसोशियेशन.
7. रोजेनबर्ग, एन. (1965). एडम स्मिथ आन द डिविजन आफ लेबर : टू व्यूज ऑर वन ? इकोनोमिका, 32(126), 127-139
8. सरदार जियाउद्दीन एण्ड लून, वान (2012). इन्ट्रोड्यूसिन्ग फिलोसोफी आफ साइन्स. आईकान बुक्स लिमिटेड
9. वैद्या, ए.जे. (2015). पब्लिक फिलोसोफी : क्रास कल्चरल एन्ड मल्टिडिसिप्लीनरी. कम्पेरेटिव फिलोसोफी, 6(2),6.

ISSN 2278 - 0327

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में शिक्षक शिक्षा का दिग्दर्शन

डॉ. योगेन्द्र बाबू
सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. हरीश पाण्डेय
सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा, महाराष्ट्र

सारांश

प्रस्तुत लेख में मुख्य रूप से राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में शिक्षक शिक्षा के दिग्दर्शन के बारे में विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है। स्वतंत्रतापूर्व किये हुए कुछ शैक्षिक सुधरों जैसे कि वुड डिस्पैच (1854), भारतीय शिक्षा आयोग (1882), सैडलर आयोग, हर्टांग समिति (1929), वर्धा शिक्षा योजना (1937), एवं स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षक शिक्षा के विकास में क्रमिक भूमिका निभाने वाले निर्णयों जैसे की राधाकृष्णन आयोग (1948), माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952), राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) को ध्यान में रखते हुए विश्लेषण कार्य किया गया है। साथ ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में शिक्षक शिक्षा का सन्दर्भनात्मक विश्लेषण भी यथा शोध परक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य शब्द - राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020, राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986), शिक्षक शिक्षा।

प्रस्तावना -

'शिक्षक का स्थान एक समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने शिक्षक के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता।'

- राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986

किसी भी राष्ट्र के शैक्षिक विकास एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए, यहाँ के शिक्षकों का योग्य एवं प्रशिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस राष्ट्र में जितने अधिक योग्य एवं प्रशिक्षित शिक्षक होंगे, वह राष्ट्र उतना ही अधिक शैक्षिक दृष्टिकोण से विकसित होगा। शिक्षक एवं शिक्षण कार्य के महत्व पर विचार व्यक्त करते हुए एस. बालकृष्ण जोशी ने लिखा है कि, 'एक सच्चा शिक्षक धन के आभाव में भी धनी होता है, उसकी सम्पत्ति का विचार बैंक में जमा धन से नहीं किया जाना चाहिए, अपितु उस प्रेम और ज्ञान रूपी अनुराग से किया जाना चाहिये जो उसने अपने छात्रों में उत्पन्न की है। वह एक ऐसा सम्राट है जिसका साम्राज्य अपने शिष्यों के कृतज्ञ मस्तिष्कों में सीमा-चिह्नों से अंकित है, जिसको संसार की कोई भी शक्ति हिला नहीं सकती और न ही अणुबम नष्ट कर सकता है। अध्यापन देव नियोजित कार्य है, व्यापार संघ और शिल्प निकाय के रूप में इसकी चर्चा करना इसको पतित करना है। उन विधियों को अपनाना जिससे व्यक्ति अध्यापकों के प्रति द्रवित हो जाए, उनके कार्य को कलंकित करना है। वह मनुष्य सौभाग्यशाली है, जो शिक्षक है। उससे दोगुना सौभाग्यशाली वह है जिसने हमारे इस महान देश में शिक्षक रूप में जन्म लिया है। जहाँ अध्यापक के प्रति सम्मान व्यक्त किया गया है एवं उसे देवताओं की श्रेणी में रखा गया है, जहाँ राजा और रंक ने उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने में परस्पर स्पर्धा की है। साथ ही उससे तिगुना सौभाग्यशाली वह है जो इस देश में, इस भव्य उषाकाल में शिक्षक है, जो अद्वितीय प्रकृति और वैभव की सम्भावनाओं से आलोकित है, जबकि मातृभूमि स्वर्णयुग में पर्दापण कर रही है।'

अध्यापक को युग निर्माता की संज्ञा दी जाती है। ऐसे सौभाग्यशाली मानव के पवित्र कार्य की प्राचीन युग में भी अवहेलना नहीं की गई अपितु वैदिककालीन ऋषियों ने आचार्य को छात्र का मानस पिता (Spiritual Father) कहा है। तत्कालीन आचार्य के गौरव का महत्त्व निम्नलिखित पंक्तियों से स्वत: स्पष्ट हो जाता है-

गुरु: ब्रह्म:, गुरु: विष्णु: गुरु: देवो महेश्वर:।
गुरु: साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम:॥

वर्तमान समय में भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 की यह विचारधारा कि 'शिक्षक का स्थान एक समाज की सामाजिक,

सांस्कृतिक प्रकृति को व्यक्त करता है। कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने शिक्षक के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता।' अध्यापक की महत्ता को चरितार्थ करती है। देश का सुनहरा भविष्य सक्षम एवं सुयोग्य अध्यापकों में निहित होता है। अत: अध्यापक को भावी राष्ट्र निर्माण के लिए योग्य एवं प्रशिक्षित बनाना अति आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है।

वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक शिक्षक के दायित्त्वों में क्रमश: परिवर्तन होता आया है क्योंकि हमारा समाज ससत परिवर्तनशील है। स्वतंत्रतापूर्व से लेकर नूतन शताब्दी तक शिक्षक शिक्षा के विभिन्न रूपों में क्रमश: परिवर्तन होता आया है जिसके परिणाम स्वरूप आज हमें शिक्षक शिक्षा का यह स्वरूप दिखाई दे रहा है। शिक्षक शिक्षा के विकास में विभिन्न आयोग, समिति एवं शिक्षा नीतियों ने अपने सुझावों एवं संस्तुतियों के माध्यम से इसके स्वरूप में परिवर्तन लाये हैं जिनमें कुछ प्रमुख निम्न हैं जिनको हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में स्वतंत्रतापूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात् में वर्गीकृत कर सकते हैं। स्वतंत्रतापूर्व- वुड डिस्पैच (1854), भारतीय शिक्षा आयोग (1882), सैडलर आयोग, हर्टांग समिति (1929), वर्धा शिक्षा योजना (1937), स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षक शिक्षा के विकास में क्रमिक भूमिका निभाने का कार्य राधाकृष्णन आयोग (1948), माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952), राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020)।

मुख्य बिंदु - इस शोध पत्र के अन्तर्गत मुख्य रूप से शिक्षक शिक्षा से सम्बंधित उन बिन्दुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जिन्होंने शिक्षक शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है विशेष रूप से भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् निर्मित राष्ट्रीय शिक्षा, (1968), नई शिक्षा नीति (1986) और राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020)

अध्ययन की आवश्यकता - शिक्षक शिक्षा अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की एक विधा है जिसके माध्यम से अप्रशिक्षित शिक्षकों को नवीन ज्ञान, कौशलों और तकनीकी शिक्षा प्रदान करके प्रशिक्षित किया जाता है। अप्रशिक्षित अध्यापक की तुलना में प्रशिक्षत अध्यापक अधिक प्रभावी सिद्ध होता है। सूचनाओं का प्रभावी ढंग से छात्रों तक प्रेषण कई कौशलों पर निर्भर करता है; जैसे प्रश्न पूछने का कौशल, स्पष्टीकरण, प्रदर्शन तथा व्यय विषय के एवम् उनके तर्कपूर्ण श्रृंखलाबद्ध प्रस्तुतीकरण के लिए संचार कौशल की आवश्यकता होती है।

1. ज्ञान (Knowledge)- शिक्षण दूसरों को केवल कथन अथवा विषयवस्तु का ज्ञान प्रदान करना ही नहीं है, बल्कि व्यापक अर्थ में शिक्षण का उद्देश्य छात्र के व्यक्तित्व का समग्र विकास है। उस अध्यापक में के दो और कर्तव्यों के विकास के लिए उन्हें क्रमबद्ध प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। उसके कानों एवं अभिवृत्ति की प्राप्ति के लिए प्रणालीबद्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है।

2. अभिवृत्ति (Attitude)- जब तक किसी व्यक्ति का अपने विद्यार्थियों तथा अपने व्यवसाय के प्रति दृष्टिकोण नहीं है, तब उसके लिए उपरोक्त वस्तुओं का ज्ञान पूर्णरूपेण सार्थक नहीं हो पाता जो कि अध्यापक के लिए आवश्यक है। अभिवृत्ति का ज्ञान अनुभवों से होता है। प्रशिक्षण कार्यक्रम में छात्र अध्यापकों को बहुत सुखकारी अनुभव प्रदान किए जाते हैं, जिसके द्वारा वह अपने छात्रों और अपने व्यवसाय के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति विकसित करता है।

3. कौशल (Skills)- कौशलों के लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। कुछ विशिष्ट कौशल ऐसे हैं, जो अध्यापक प्रशिक्षार्थियों में विकसित किए जाने आवश्यक होते हैं। इनका विकास अध्यापक प्रशिक्षण के क्रमबद्ध कार्यक्रम के द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। प्रशिक्षण के द्वारा अध्यापकों में तकनीकी ज्ञान तथा कौशल का विकास किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के शिक्षक के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

शिक्षक शिक्षा - भारत में अध्यापक शिक्षा का इतिहास अति प्राचीन है। यहाँ वैदिक काल से ही शिक्षक प्रशिक्षण का विकास कक्षा नायकीय पद्धति के रूप में हो चुका था। कक्षा-नायकीय पद्धति के द्वारा कुछ शिष्य अध्यापक आचार्य होने का प्रशिक्षण सहज रूप से प्राप्त कर लेते थे। वर्तमान समय में इसे छात्राध्यापक पद्धति (Pupil Teacher System) कहते हैं। प्राचीन भारत में अध्यापक शिक्षा की कोई औपचारिक व्यवस्था नहीं थी लेकिन गुरुजन आचार्य परिस्थितिजन्य बाध्य होकर अपने वरिष्ठ एवं मेघावी शिष्यों को शिक्षण का अवसर देते थे किन्तु इस आकस्मिक अवसर के उपरान्त शिष्य शिक्षण कार्य में निपुणता प्राप्त करते रहते थे। इन कक्षा नायकों को पित्ति आचार्य (Pitti-Acharya) कहा जाता था। इस सन्दर्भ में पाठक (2004) ने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि, 'इस काल में ब्राह्मण परिवारों में वंशानुक्रम से ही शिक्षण कार्य होता था।'वैदिक काल में यह अध्यापन से व्यवसाय एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होता था।'

बौद्धकाल में अध्यापन व्यवसाय के प्रति यह धारणा

बलवती हुई कि शिक्षण का व्यवसाय केवल ब्राह्मणों की धरोहर नहीं है बल्कि किसी भी वर्ग का प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरान्त शिक्षक बन सकता था। इस प्रकार बौद्धकाल में अध्यापक प्रशिक्षण की औपचारिक व्यवस्था प्रारम्भ हुई। बौद्ध श्रमण या सामनेर भिक्षु शिक्षा को प्राप्त करके शिक्षण के योग्य बन जाते थे। इस काल में भी कक्षा 'नाभिकीय पद्धति' (Class Monitonal System) प्रचलित थी। इस पद्धति में शिक्षा सिद्धांत को स्थान नहीं दिया गया था बल्कि क्रियात्मक प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया जाता था। अत: भविष्य में शिक्षण कार्य में असफल होने का प्रश्न ही नहीं उठाता था।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में शिक्षक प्रशिक्षण में सैद्धान्तिक ज्ञान का कोई स्थान नहीं था, जबकि इसके विपरीत व्यावहारिक शिक्षण पर विशेष जोर दिया जाता था। प्राचीनकाल में इसे ही शिक्षक प्रशिक्षण की अप्रत्यक्ष शुरुआत मानी जाती है।

मध्यकाल में मुस्लिम शासकों का ध्येय इस्लाम धर्म का प्रचार करना और हिन्दुओं को मुसलमान बनाना था। मुस्लिम शिक्षा मकतब एवं मदरसों में प्रदान की जाती थी। इसमें केवल मौलवी शिक्षण कार्य करते थे और अन्य शिक्षकों के लिए किसी औपचारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। इस काल में भी कक्षा-नायकीय पद्धति का बोलबाला था जिसके फलस्वरूप अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षण का प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता था। इसमें से कुछ छात्र भविष्य में अच्छे शिक्षक बन जाते थे।

भारत में आधुनिक शिक्षक प्रशिक्षण की औपचारिक व्यवस्था का प्रारम्भ यूरोपीय जातियों ने किया था। प्रारम्भिक चरण में प्राथमिक शिक्षक हेतु नॉर्मल स्कूल सर्वप्रथम डेन मिशनरियों ने सन् 1716 ई0 में ट्रानक्यूबर में स्थापित किया जाता था। उस समय शिक्षकों को केवल विषयों के शिक्षण में प्रशिक्षित किया जाता था लेकिन शिक्षा सिद्धांतों के सन्दर्भ में जानकारी नहीं दी जाती थी। कालान्तर में शिक्षक प्रशिक्षण के अन्तर्गत विषयों के शिक्षण के साथ-साथ शिक्षा सिद्धांतों का ज्ञान, शिक्षा के मूल्य आधारों, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, मनोविज्ञानिक और वैज्ञानिक आदि का ज्ञान का, शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान, शिक्षा के क्रमिक विकास तथा परिस्थितिजन्य गुण दोषों का ज्ञान आदि परिचय कराया जाता था जिससे कि एक योग्य तथा आदर्श शिक्षक तैयार किया जा सके। वर्तमान समय - शिक्षक प्रशिक्षण के स्थान पर अध्यापक शिक्षा का प्रयोग किया जाता है। प्रयोजनवादी विचारधारा के अनुयायी प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूबी के शिष्य किलपैट्रिक का विचार है कि, 'प्रशिक्षण तो सर्कस में काम करने वाले व्यक्तियों और पशु-पक्षियों को दिया जाता है, शिक्षकों को तो शिक्षा दी जाती है।' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि प्रशिक्षण केवल शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्धित होता है, जबकि शिक्षा में मानसिक एवं शारीरिक दोनों क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है। इसलिए शिक्षक प्रशिक्षण के स्थान पर शिक्षक शिक्षा संप्रत्यय को प्रयुक्त किया जाता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) एवं शिक्षक शिक्षा - राष्ट्रीय शिक्षा नीति -1986 में शिक्षक शिक्षा के उन्नयन हेतु निम्नलिखित संस्तुतियां की गयी है जिन्होंने शिक्षक शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है प्रमुख्य संस्तुतियां निम्न प्रकार से हैं -

- अध्यापकों का स्तर समाज को सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रकृति को व्यक्त करता है। यह भी कहा जाता है कि कोई व्यक्ति शिक्षा के स्तर से ऊँचा नहीं उठता है। सरकार तथा समुदाय को ऐसी दशायें उत्पन्न करनी चाहिए जो अध्यापकों को रचनात्मक तथा सर्जनात्मक दिशा में प्रेरित करने में सहायक हों। अध्यापकों को तकनीकी संचार माध्यमों के वांछित साधनों के विकास एवं सम्बन्धित समुदाय की दशाओं, योग्यता तथा आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।
- अध्यापकों के चयन की विधि को, मेरिट, वैधता, कार्य एवं योग्यता, सम्बन्धी दायित्व आदि के निर्धारण के लिए पुनर्संगठित किया जायेगा। अध्यापकों के वेतन एवं सेवा की दशाओं में उनका सामाजिक तथा व्यावसायिक दशाओं से, प्रतिभावान् छात्रों को शिक्षा व्यवसाय के प्रति आकर्षित करने के लिए जोड़ा जायेगा। समान वेतन तथा भत्ते, सेवा की दशायें एवं देश भर में उनकी कठिनाइयों को दूर करने की प्रणाली का गठन करने के प्रयास किये जायेंगे। अध्यापकों की नियुक्ति एवं स्थानान्तरण हेतु मार्गदर्शिका तैयार की जायेगी। उच्च ग्रेड हेतु मुक्त, सहयोगी एवं आँकड़ों पर आधारित अध्यापक मूल्यांकन प्रणाली विकसित की जायेगी, उत्तरदायित्व के मानकों का निर्धारण अच्छी तथा बुरी, दोनों प्रकार की निष्पत्ति से होगा। अध्यापकों की भूमिका शैक्षिक कार्यक्रमों के नियमन एवं संचालन में होगी।
- अध्यापक संघों को, व्यावसायिक निष्ठावान्, अध्यापकों की प्रतिष्ठा के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना होगा, जिससे व्यावसायिक दोष समाप्त हो सके। अध्यापकों की राष्ट्रीय स्तर की संस्था अध्यापकों के लिए आचार संहिता का निर्माण कर सकती और उसका क्रियान्वयन देख सकती है।

- शिक्षा एक सतत प्रक्रिया है। इसमें पूर्व एवं सेवाकालीन पक्षों को पृथक् नहीं किया जा सकता। पहले चरण में शिक्षण शिक्षा की व्यवस्था को पुनर्व्यवस्थित किया जायेगा। अध्यापक शिक्षा के इस नवीन कार्यक्रम में सतत शिक्षा एवं अध्यापकों की आवश्कयता पर बल दिया जायेगा, जिससे इस नीति से उद्देश्य पूर्ति हो सके।
- अध्यापक शिक्षा के इस नवीन कार्यक्रम में सतत शिक्षा एवं अध्यापकों की आवश्कयता बल दिया जायेगा, जिससे इस नीति से उद्देश्य पूर्ति हो सके।
- एलीमेन्द्रीय विद्यालय टीचर्स अनौपचारिक एवं प्रौढ़ शिक्षा में लगे व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए डिस्ट्रिक्ट इन्सटीट्यूट ऑफ एजुकेशन एण्ड ट्रेनिंग (D.I.E.T.) स्थापित किये जायेंगे। इनकी स्थापना होते ही स्तरहीन संस्थाओं को समाप्त कर दिया जायेगा, चुने हुए अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों की उन्नति- स्टेट कौसिंल ऑफ एजुकेशन रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग (S.C.E.R.T.) के रूप में किया जायेगा। एन0 सी0 ई0 आर0 टी0 के अध्यापक प्रशिक्षण संस्थानों को सक्षम बनाने, पाठ्यक्रम तथा विधियों के निर्माण हेतु मार्गदर्शन देने के लिए वांछित संसाधन प्रदान किये जायेंगे। अध्यापक शिक्षा संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभागों में पारस्परिक सम्बन्धों का प्रारूप विकसित किया जायेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं शिक्षक शिक्षा – राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में शिक्षक शिक्षा के उन्नयन एवं संवर्धन हेतु जो सुझाव दिए गए उनका विश्लेष्णात्मक विवरण निम्न प्रकार है-

- अगली पीढ़ी को आकार देने वाले शिक्षकों की एक टीम के निर्माण में अध्यापक शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण है। शिक्षकों को तैयार करना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके लिए बहु विषयक दृष्टिकोण और ज्ञान की आवश्यकता के साथ ही साथ, बेहतरीन मेंटरों के निर्देशन में मान्यताओं और मूल्यों के निर्माण के साथ ही साथ उनके अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि अध्यापक शिक्षा और शिक्षण प्रक्रियाओं से संबंधित अद्यतन प्रगति के साथ ही साथ भारतीय मूल्यों, भाषाओं, ज्ञान, लोकाचार, और परंपराओं जनजातीय परंपराओं सहित के प्रति भी जागरूक रहें।
- उच्चतम न्यायालय द्वारा गठित न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा आयोग (2012) के अनुसार, स्टैंड-अलोन टीईआई, जिनकी संख्या 10,000 से अधिक है, अध्यापक शिक्षा के प्रति लेशमात्र गंभीरता से प्रयास नहीं कर रहे हैं, बल्कि इसके स्थान पर ऊंचे दामों पर डिग्रियों को बेच रहे हैं। इस दिशा में अब तक किए गए विनियामक प्रयास न तो सिस्टम में बड़े पैमाने पर व्याप्त भ्रष्टाचार को रोक पाए हैं, और न ही गुणवत्ता के लिए निर्धारित बुनियादी मानकों को ही लागू कर पाए हैं, बल्कि इन प्रयासों का इस क्षेत्र में उत्कृष्टता और नवाचार पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। अत: इस सेक्टर और इसकी नियामक प्रणालियों में महत्वपूर्ण कार्यवाहियों के द्वारा पुनरुद्धार की तात्कालिक आवश्यकता है जिससे कि गुणवत्ता के उच्चतर मानकों को निर्धारित किया जा सके और शिक्षक शिक्षा प्रणाली में अखंडता, विश्वसनीयता प्रभाविता और उच्चतर गुणवत्ता को बहाल किया जा सके।
- शिक्षण पेशे की प्रतिष्ठा को बहाल करने के लिए आवश्यक नैतिकता और विश्वसनीयता के स्तरों में सुधार को सुनिश्चित करने और फिर इसके द्वारा एक सफल विद्यालयी प्रणाली सुनिश्चित करने के लिए, नियामक प्रणाली को उन निम्न स्तरीय और बेकार अध्यापक शिक्षा संस्थानों (टीईआई) के खिलाफ उल्लंघन के लिए एक वर्ष का समय दिये जाने के पश्चात्, कठोर कार्यवाही करने का अधिकार होगा जो बुनियादी शैक्षिक मानदंडों को पूरा नहीं कर पा रहे हैं। वर्ष 2030 तक केवल शैक्षिक रूप से शुद्ध, बहु विषयक और एकीकृत अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम ही कार्यान्वित होंगे।
- चूंकि, अध्यापक शिक्षा के लिए बहु-विषयक / बहु-विषयक इनपुट के साथ ही साथ उच्चतर गुणवत्तायुक्त विषयवस्तु और शैक्षणिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है, अत: इसे ध्यान में रखते हुए सभी अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों को समग्र बहु-विषयी संस्थानों में ही आयोजित किया जाना चाहिए। इसके लिए सभी बड़े बहु-विषयक विश्वविद्यालयों के साथ-साथ सभी सार्वजनिक विश्वविद्यालय और बड़े बहु विषयक महाविद्यालय का लक्ष्य होगा कि वे अपने यहाँ ऐसे उत्कृष्ट शिक्षा विभागों की स्थापना और विकास करें, जो कि शिक्षा में अत्याधुनिक अनुसंधानों को अंजाम देने के साथ ही साथ मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, तंत्रिकाविज्ञान, भारतीय भाषाओं, कला, संगीत, इतिहास और साहित्य के साथ-साथ विज्ञान और गणित जैसे अन्य विशिष्ट विषयों से संबंधित विभागों के सहयोग से भविष्य के शिक्षकों को शिक्षित करने के लिए बी.एड. कार्यक्रम भी संचालित करेंगे। इसके साथ ही साथ वर्ष 2030 तक सभी एकल शिक्षक शिक्षा के संस्थानों

को बहु-विषयक संस्थानों के रूप में बदलने की आवश्यकता होगी क्योंकि उन्हें भी 4 वर्षीय एकीकृत शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों को संचालित करना होगा।

- वर्ष 2030 तक बहु विषयक उच्चतर शिक्षण संस्थानों द्वारा प्रदान किया जाने वाला यह 4 वर्षीय एकीकृत बी.एड. कार्यक्रम स्कूली शिक्षकों के लिए न्यूनतम डिग्री योग्यता बन जाएगा। यह 4 वर्षीय एकीकृत बी.एड. शिक्षा और इसके साथ ही एक अन्य विशेष विषय जैसे भाषा, इतिहास, संगीत, गणित, कंप्यूटर विज्ञान, रसायनविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि में एक समग्र ड्युअल मेजर स्नातक डिग्री होगी। अत्याधुनिक शिक्षा शास्त्र के शिक्षण के साथ ही साथ शिक्षक शिक्षा में समाजशास्त्र, इतिहास, विज्ञान, मनोविज्ञान, प्रारंभिक बाल्यावस्था शिक्षा, बुनियादी साक्षरता और संख्याज्ञान, भारत से जुड़े ज्ञान और इसके मूल्यों / लोकाचार / कला / परंपराएं और भी बहुत कुछ शामिल होगा। 4 वर्षीय एकीकृत बी.एड. प्रदान करने वाला प्रत्येक उच्चतर शिक्षण संस्थान, किसी एक विषय विशेष में पहले से ही स्नातक की डिग्री हासिल कर चुके ऐसे उत्कृष्ट विद्यार्थी जो आगे चलकर शिक्षण करना चाहते हैं के लिए अपने परिसर में 2 वर्षीय बी.एड. कार्यक्रम भी डिजाइन कर सकते हैं। विशेष रूप से ऐसे उत्कृष्ट विद्यार्थी जिन्होंने किसी विशेष विषय में 4 वर्ष की स्नातक की डिग्री प्राप्त की है, के लिए 1 वर्षीय बी. एड. कार्यक्रम भी ऑफर किया जा सकता है। इन 4 वर्षीय 2 वर्षीय और 1 वर्षीय बी. एड. कार्यक्रमों के लिए उत्कृष्ट उम्मीदवारों को आकर्षित करने के उद्देश्य से मेधावी विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियों की स्थापना की जाएगी।
- अध्यापक शिक्षा प्रदान करने वाले उच्चतर शिक्षण संस्थान, शिक्षा और इससे संबंधित विषयों के साथ ही साथ विशेष विषयों में विशेषज्ञों की उपलब्धता को सुनिश्चित करेंगे। प्रत्येक उच्चतर शिक्षा संस्थान पास सघन जुड़ाव के साथ काम करने के लिए सार्वजनिक और निजी स्कूलों और स्कूल परिसरों का एक नेटवर्क होगा, जहाँ भावी शिक्षक अन्य सहायक गतिविधियों जैसे सामुदायिक सेवा वयस्क और व्यावसायिक शिक्षा, आदि में सहभागिता के साथ शिक्षण का कार्य करेंगे।
- शिक्षक शिक्षा के लिए एकसमान मानकों को बनाए रखने के लिए पूर्व सेवा शिक्षक तैयारी कार्यक्रमों में प्रवेश राष्ट्रीय परीक्षण एजेंसी द्वारा आयोजित उपयुक्त विषय और योग्यता परीक्षणों के माध्यम से होगा, और देश की भाषाई और सांस्कृतिक विविधता को ध्यान में रखते हुए मानकीकृत किया जाएगा।
- शिक्षा विभाग में संकाय सदस्यों की प्रोफ़ाइल में विविधता होना एक आवश्यक लक्ष्य होगा। लेकिन शिक्षण / फील्ड / शोध के अनुभवों को महत्ता प्रदान की जाएगी। सीधे सीधे विद्यालयी शिक्षा से जुड़ने वाले सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों (जैसे, मनोविज्ञान, बालविकास, भाषाविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान) के साथ ही साथ साथ विज्ञान शिक्षा, गणित शिक्षा, सामाजिक विज्ञान और भाषा शिक्षा जैसे कार्यक्रमों से संबंधित विषयों में प्रशिक्षण प्राप्त संकाय सदस्यों को शिक्षक शिक्षा संस्थानों आकर्षित और नियुक्त किया जाएगा, जिससे कि शिक्षकों की बहु विषयक शिक्षा को और उनके अवधारणात्मक विकास को मज़बूती प्रदान की जा सके।
- सभी नए पीएच.डी. प्रवेशकर्ताओं, चाहे वे किसी भी विषय में प्रवेश लें, से अपेक्षित होगा कि के अपनी डोक्टोरल प्रशिक्षण अवधि के दौरान उनके द्वारा चुने गए पी-एच डी. विषय से संबंधित शिक्षण/ शिक्षा/ अध्यापन/लेखन में क्रेडिट आधारित पाठ्यक्रम लें। उनकी डॉक्टरेट प्रशिक्षण अवधि के दौरान उन्हें शैक्षणिक प्रक्रियाओं, पाठ्यक्रम निर्माण, विश्वसनीय मूल्यांकन प्रणाली, और संचार जैसे क्षेत्रों का अनुभव प्रदान किया जाएगा, क्योंकि संभव है कि इनमें से कई शोध विद्वान् अपने चुने हुए विषयों के संकाय सदस्य या सार्वजनिक प्रतिनिधि / संचारक बनेंगे। पीएच.डी. छात्रों के लिए शिक्षण सहायक और अन्य साधनों के माध्यम से अर्जित किए गए वास्तविक शिक्षण अनुभव के न्यूनतम घंटे भी तय होंगे। देशभर के विश्वविद्यालयों में संचालित पीएच.डी. कार्यक्रमों का इस उद्देश्य के लिए पुनरुन्मुखीकरण किया जाएगा।
- कॉलेज और विश्वविद्यालय के शिक्षकों के लिए सेवारत सतत व्यावसायिक विकास का प्रशिक्षण मौजूदा संस्थागत व्यवस्था और जारी पहलों के माध्यम से ही जारी रहेगा; हालांकि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए आवश्यक समृद्ध शिक्षण अधिगम प्रक्रियाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इनका सुदृढ़ीकरण और विस्तार किया जाएगा। शिक्षकों के ऑनलाइन प्रशिक्षण के लिए स्वयं/दीक्षा जैसे प्रौद्योगिकी प्लेटफार्मों के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाएगा, ताकि मानकीकृत प्रशिक्षण कार्यक्रमों को कम समय के भीतर अधिक शिक्षकों को मुहैया कराया जा सके।
- सलाह (मेंटरिंग) के लिए एक राष्ट्रीय मिशन को स्थापित

किया जाएगा जिसमें बड़ी संख्या में वरिष्ठ / सेवानिवृत्त उत्कृष्ट संकाय सदस्यों को जोड़ा जाएगा, इनमें वे संकाय सदस्य भी शामिल होंगे जिनमें भारतीय भाषाओं में पढ़ाने की क्षमता है और जो विश्वविद्यालय / कॉलेज शिक्षकों को लघु और दीर्घकालिक परामर्श / व्यावसायिक सहायता प्रदान करने के लिए तैयार होंगे।

निष्कर्ष-

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार- 'अध्यापक का समाज में बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। वह उस धुरी के समान है जो बौद्धिक परम्पराओं तथा तकनीकी क्षमताओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करता है और सभ्यता की ज्योति को प्रज्वलित रखता है।' माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार- 'शिक्षा के पुनर्निर्माण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व शिक्षक उसे व्यक्तित्क गुण, उसकी शैक्षिक योग्यताएँ, उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा उसका स्कूल एवं समुदाय में स्थान, ही है। विद्यालय की प्रतिष्ठा तथा समाज के जीवन पर उसका प्रभाव नि:सन्देह रूप से उन शिक्षकों पर निर्भर है जो कि उस विद्यालय में कार्य कर रहे हैं।' एच. जी वेल्स के शब्दों में- 'इतिहास का वास्तविक निर्माता अध्यापक ही होता है।'

उपरोक्त विवरण से शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक का महत्व स्पष्ट हो जाता है। विद्यालय का भवन, साज-सज्जा तथा अन्य उपकरण कितने भी अच्छे हों, प्रधानाध्यापक कितना भी दक्ष एवं कुशल प्रशासक हो परन्तु यदि शिक्षक योग्य एवं कुशल नहीं हैं, उनमें अपने कार्य के प्रति सच्ची लगन, ईमानदारी एवं समर्पण के भाव नहीं है तो विद्यालय में शिक्षाप्रद वातावरण का निर्माण नहीं किया जा सकता। विद्यालय की व्यवस्था, उसका संचालन भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। कुछ इसी प्रकार का दिग्दर्शन राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 में अध्यापक शिक्षा को लेकर परिलक्षित होता है जिसे शिक्षा के धरातल पर सुचारू रूप से पथगमन हेतु हम सभी को बलवती भूमिका निभानी होगी।

सन्दर्भ सूची -

- सक्सेना, एन .आर. (2019). अध्यापक शिक्षा, आर . लाल बुक डिपो मेरठ
- शर्मा, आर . ए. (2018). अध्यापक शिक्षा एवं प्रशिक्षण तकनीकी. आर . लाल बुक डिपो मेरठ
- भटनागर, सुरेश (2018). भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास. आर . लाल बुक डिपो मेरठ
- गुप्ता, मंजू. (2016). भारतीय तथा वैश्विक परिपेक्ष्य में अध्यापक शिक्षा, राखी प्रकाशन , आगरा
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति -2020, से लिया गया https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_®.pdf
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति. (1986). से लिया गया https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/upload_document/npe.pdf
- माध्यमिक शिक्षा आयोग. (1952). से लिया गया https://niti.gov.in/sites/default/files/2019-9/seqi_document.pdf
- राधा कृष्णन आयोग (1948). से लिया गया http://mooc.nios.ac.in/mooc/pluginfile.php?file=/12061/course/summary.pdf
- पाठक, पी. डी. (2004). भारतीय शिक्षा का इतिहास. शारदा प्रकाशन

ISSN 2278 - 0327

भक्तिकालीन काव्य : आज के संदर्भ में

डॉ. हेमवती शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर : हिन्दी-विभाग
भगिनी निवेदिता कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

आज के आपा-धापी, भाग-दौड़ और 'मैं', 'मेरा' के समय ने सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय विसंगतियों को जन्म दिया है। पारिवारिक बिखराव, सम्बन्धों का टकराव, नैतिक अधोपतन, जीवन-मूल्यों का ह्रास, भारतीयता के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण हो रहा है। धार्मिक असहिष्णुता, धर्म के नाम पर दंगे होना, वर्ग और वर्ण 'वैषम्य' समाज को रसातल की तरफ ले जा रहा है। 'राजनीति' नीति विहीन होती जा रही है। राजनेताओं की कथनी और करनी में अंतर साफ देखा जा सकता है। भाई-भतीजावाद, परिवारवाद की राजनीति रह गई है। देश-हित, समाज-हित ताक पर रखकर अपना घर भरने में लोग लगे हुए हैं। रिश्वतखोरी, काला बाजारी, धन-लोलुपता के कारण नैतिक पतन हो रहा है। स्त्री पर अत्याचार की खबरें रोज़ सुनने को मिलती हैं। चाहे वह दहेज हत्याएं हों, स्त्री के सतीत्व व अस्तित्व रक्षा का प्रश्न हमारे चारों ओर गूँजता रहता है। *'मातृ-देवो भव, पितृ-देवो भव'* के देश में असंख्य वृद्धाश्रमों का खुलना शुभ संकेत नहीं है। ऐसे में आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे कौन से उपाय हैं जो भारतीय समाज को पुन: उच्चादर्शों की ओर ले जाएं। एक कहावत है *'जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन'* इसी तरह से साहित्य के विषय में भी कहा जाता है - सत् साहित्य के विषय में भी कहा जाता है - सत् साहित्य के पढ़ने-गुनने से मन के विकार दूर होते हैं जिससे एक सभ्य समाज में, नैतिक मूल्यों पर आधारित समाज विकसित होता है।

यूँ तो *'हितेन सह सहितम्'* के आधार पर लोक-कल्याण या लोक-मंगल साहित्य के मूल में होता ही है लेकिन हिन्दी में मध्यकालीन 'भक्तिकाव्य' को हम उच्चादर्शों से युक्त, जीवन को दिशा देने वाला, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाला काव्य कह सकते हैं। आज कदम-कदम पर कबीर, जायसी, सूर एवं तुलसी का काव्य हमारा मार्ग-दर्शन करता नज़र आता है। धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर होने वाले दंगे, धार्मिक अहिष्णुता समाज को तोड़ने का काम करती है। मंदिर-मस्जिद के नाम पर लड़ने वालों को, राम-रहीम को लेकर अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग गाने वालों को कबीर ने कड़ी फटकार लगाई है -

'कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लड़ि मुए, मरम ना काहू जाना।।'
'हिन्दू मुए राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहे कबीर जो जीवता, दुहु में कदे न जाइ।।'

संत कवि दादू का कहना है -

'हम सब देख्या सोधि करि दूजा नाहीं आन।
सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू क्या मुसलमान।।'

इसके साथ ही कबीर की आत्मचिंतन की सलाह मंदिर-मस्जिद के मसले को भी दूर करने का प्रयास करती है -

'मोको कहाँ ढूँढे रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।
न मैं मंदिर न मैं मसजिद ना काबे कैलास में।।'

कबीरदास ज्ञान को महत्त्व देते हैं न कि जाति-पाँति को -

'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवारि का, पड़ा रहन दो म्यान।।'

इसी के साथ कबीरदास जी कर्म पर भी बल देते हैं -

'पाहन पूजै हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चाकी भली, पीस खाए संसार।।'

तुलसीदास में तो जगह-जगह पर समन्वय की भावना मिलती है। समन्वय अर्थात् मध्यम मार्ग। जिसके लिए जरूरी है - सहिष्णुता। इन्होंने अपने समय में प्रचलित विभिन्न भक्ति-पद्धतियों, भक्ति के विविध स्वरूपों, भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों को स्वीकार किया है -

'अगुनहि सगुनहि नहिं कुछ भेदा' कहकर निर्गुण और सगुण भक्ति को स्वीकारते हैं तो राम और कृष्ण को लेकर लिखी इनकी रचनाएँ, शैव और शाक्त, तत्कालीन भाषा - अवधी और ब्रज, विभिन्न काव्यरूपों का ग्रहण इनकी समन्वय साधना को ही हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

सूफी कवि एकता को अधिक महत्त्व देते थे। जायसी ने

हिन्दू और मुस्लिम धर्म को एक ही बगीचे के भिन्न-भिन्न प्रकार तथा भिन्न रंग के फूलों के समान माना है। वे मानव-मन के प्रेम-भाव का, हिन्दू कथाओं द्वारा सूफी सिद्धांतों का प्रतिपादन करते थे। उनके अनुसार प्रेम ही ईश्वर से मिलने का एकमात्र मार्ग है। सूफी कवियों की इस प्रकार की भक्ति भावना आज भी प्रासंगिक है। कृष्ण भक्त कवि सूरदास भी समता, एकता की स्थापना करते दिखाई पड़ते हैं। कृष्ण-सुदामा की मित्रता - ऊँच-नीच, गरीब-अमीर में भेद को दूर करती दिखती है। उनकी सख्य-भाव की भक्ति *'खेलत में को काको गुसइंया'* - राजा और प्रजा की दूरी को खत्म करती नज़र आती है। कृष्ण द्वारा असुरों का विनाश - जन-कल्याण का ही दूसरा रूप है। कृष्ण जब उद्धव से यह कहते हैं कि -

'उधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजन की छांही।।'

तो ऐसा लगता है कि - *'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादऽपि गरीयसी'* - अर्थात् मातृभूमि के प्रति प्रेम प्रस्फुटित हो रहा है जो आज हर भारतीय का मूलमंत्र होना चाहिए। पद्मावत के संदर्भ में डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना का मत है - ''पद्मावत महाकाव्य संसार के सभी प्राणियों के हृदय में कटुता, विषमता एवं द्वेष को दूर करके उसमें सहृदयता, सरसता एवं सहानुभूति का संचार करता है, सेवा एवं परोपकार का मार्ग प्रशस्त करता है, त्याग एवं बलिदान की भावना जागृत करता है।''[1] वास्तव में हमें ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व को रास्ता दिखाने वाला है हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में रचा गया यह महाकाव्य।

आज जब *'राजनीति है नीति विहीना'* का बोलबाला चारों ओर है। 'राज' करने के लिए 'नीति' के स्थान पर अनैतिकता भाई-भतीजावाद परिवारवाद को महत्त्व दिया जा रहा है ऐसे में तुलसीदास की राम-राज्य की स्थापना राजनेताओं और जनता दोनों का मार्गदर्शन करने की सामर्थ्य रखती है। तुलसीदास की ये पंक्तियाँ -

''जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।''

प्रजा हित को महत्त्व देने की वकालत करती हैं। रामराज्य, में - *'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज्य नहिं काहुहि व्यापा'* तथा *'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना'* कहकर भी इन्होंने आदर्श राजा का धर्म बतलाया है। प्रजाहित के लिए पत्नी तक का त्याग - राजा नाम का आदर्श है। शबरी और केवट के प्रसंग के माध्यम से हर शख्स, चाहे वह अमीर हो या गरीब ऊँची-जाति का हो या निम्न वर्ग का हर व्यक्ति को समाज में बराबर महत्त्व दिया जाना चाहिए। बाली और सुग्रीव में से राम सुग्रीव का साथ देते हैं। इससे इस बात को बल मिलता है कि धन-बल, शारीरिक-बल की अपेक्षा सही का साथ देना श्रेष्ठ होता है। हम समाज में देखते हैं कि धन की शक्ति के आधार पर न्याय की तराजू डाँवा-डोल हो रही है, कमजोर का साथ देने के लिए कोई आगे नहीं आता लेकिन भक्ति साहित्य आज हमें वापिस भारतीय जीवन-मूल्यों की ओर मुड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है।

नारी के सम्मान की रक्षा आज बड़ा प्रश्न बन गया है। *'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'* वाले देश में *'नारी तुम केवल श्रद्धा हो'* को आदर्श मानने वालों के यहाँ आए दिन स्त्रियों पर अन्याय और अत्याचार की घटनाएँ देखने-सुनने को मिल रही हैं। हिन्दी का भक्ति, साहित्य सीता, अनुसूया आदि आदर्श नारियों के चरित्र हमारे समक्ष रखता है। सूफी कवियों ने तो नारी को ईश्वर का प्रतीक माना है। इनके द्वारा स्त्री की स्वतंत्रता और शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इस्लाम धर्म को मानने वाले नारी को घर के भीतर भी पर्दे में रखना पसंद करते हैं किन्तु जायसी जैसे अन्य सूफी कवियों ने भी उस समय अपना नारी सम्बन्धी आदर्श व्यक्त किया है। इसकी प्रासंगिकता आज के संदर्भ में और भी बढ़ जाती है।

राम के द्वारा बाली का वध किया जाता है। ऐसे में बाली राम से प्रश्न करते हैं कि मैं आपका शत्रु और सुग्रीव आपका मित्र क्यों और कैसे हो गया, मेरा तो आपसे कोई बैर नहीं था। राम का उत्तर -

'अनुज वधू भगिनी सुत नारी सुनु सठ कन्या सम ए चारी।।
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई, ताहि बधें कछु पाप न होइ।।'

छोटे भाई की पत्नी, बहिन, पुत्रवधु अथवा कोई भी स्त्री कन्या के समान होती हैं इन पर बुरी नजर डालने वाले का वध करना पाप की श्रेणी में नहीं आता। यहाँ वध करने से तात्पर्य कानून हाथ में लेना नहीं है किन्तु नारी के सम्मान की रक्षा होनी ही चाहिए यह आज के समाज को याद रखना ही पड़ेगा।

कबीर दास की साखियाँ कहीं-कहीं स्त्री विरोधी लगती हैं किन्तु उन्होंने भी प्रतिव्रता स्त्री को पूर्ण सम्मान की बात कही है -

'पतिव्रता मैली भली, काली कुचिल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर वारौं कोटि सरूप।।'

आज सांस्कृतिक दृष्टि से भी भक्तिकालीन साहित्य की उपादेयता बनी हुई है। भारतीय संस्कृति जीवन-मूल्यों की सर्वोच्चता, आस्तिकता, सत्य, अहिंसा, आतिथ्य भाव आदि पर आधारित है। 'भारतीय संस्कृति संसद' (कलकत्ता द्वारा प्रकाशित) के अनुसार

''भारतीय संस्कृति गंगा की तरह निरंतर प्रवाहित है, समुद्र की तरह विशाल है और गिरि शिखरों की भाँति उदात्त है।''[2]

धर्म के नाम पर की गई हिंसा का विरोध, तामसी भोजन का सेवन न करने का, संदेश कबीर की इन पंक्तियों में मिलता है –

'दिन में रोजा रखत हैं, रात हनत हैं गाय।'

दूसरे का हित सम्पादन, अकारण दूसरे को कष्ट न देना, गाँधी की अहिंसा की नीति द्वारा सामने वाले का हृदय परिवर्तन यह सब हमें भक्ति काव्य में देखने को मिलता है –

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।।' (लोक कल्याण)
'जो तो को काँटा बुवै, ता को बोव तू फूल
तोहि फूल को फूल है, वा को है तिरसूल।।'' (गाँधीवाद)
'ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करे, आपुहि सीतल होय।।'
(वाणीगत माधुर्य)

कथनी और करनी का सामंजस्य –

'जैसी मुख तैं निकसे, तैसी चाले चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहे, पल में करे निहाल।'

भारतीय संस्कृति में गुरु को भी महत्त्व दिया गया है। भक्त कवियों की कविता में गुरु का गुणगान (ईश्वर से बढ़कर ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता बताने वाला) सद्गुरु का महत्त्व-प्रतिपादन करके आज के समाज में भी गुरुओं तथा शिक्षार्थियों का मार्गदर्शन किया गया है जिसकी सार्थकता सदैव बनी रहेगी क्योंकि *'बिनु गुरु ज्ञान न होही।'*

डॉ. दर्शन लाल सेठी ने सूफी काव्य के संदर्भ में लिखा है, ''हिन्दू तथा मुसलमान एक-दूसरे की सांस्कृतिक परम्परा का आदर करते थे। उनमें परस्पर सद्भाव था। सूफी-काव्य इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान का ज्वलंत प्रतीक है।''[3]

देशकालातीत, कालजयी साहित्य सदैव प्रासंगिक रहता है। जिस साहित्य में सामाजिक मूल्यों की स्वीकृति हो, लोक-कल्याण, जन-सरोकार को महत्त्व दिया जाता है वह साहित्य अपनी प्रासंगिकता नहीं खोता। समाज की तत्कालीन समस्याओं का समाधान देने वाला साहित्य सदैव लोकप्रिय होता है। भक्तिकालीन साहित्य सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर समाज को सुधारने का कार्य कर रहा है। धर्म, सम्प्रदाय एवं मत यहाँ मनुष्य को मनुष्य से जोड़ते है, मानवता इन सबसे ऊपर है।

आज राजनीति में जाति-व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भक्ति-काव्य की प्रासंगिकता इस बात में है कि वह वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था को तोड़कर एक समतामूलक समाज का निर्माण कर रही है। भक्ति-काव्य, लोक-संस्कृति से जुड़ा काव्य है। लोक-भाषा, लोक-उत्सव, ग्रामीण-जीवन व संस्कृति से जुड़ा काव्य है। पाश्चात्य प्रभाव में रहने वाले लोगों को, उनके जनमानस को लोक-संस्कृति, भारतीय संस्कृति से जोड़ने का काम करता, भक्ति कवियों की धर्म-निरपेक्षता, धार्मिक-सद्भाव, सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा-सम्मान तथा सहानुभूति रखने का आदर्श भक्ति-काव्य सिखा रहा है।

अस्पृश्यता निवारण, अछूतोद्धार आदिवासी व निम्नजातियों के प्रति इन कवियों का सकारात्मक रुख एक आदर्श समाज का निर्माण करेगा। परस्पर प्रेम, ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त, अधिकारों के साथ कर्त्तव्य-बोध, नि:स्वार्थ सेवा-भावना का पाठ पढ़ाता यह साहित्य मानव की एकता तथा समता का आदर्श आज भी प्रासंगिक है। यह काव्य वैष्णव भक्ति का काव्य है। वैष्णव वह है जो दूसरों की पीड़ा को दूर करता हो। गाँधी का प्रेम और अहिंसा वैष्णव-भावना का ही आधुनिक रूप है – *''वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने छे।''* इस भजन में वैष्णव उसे ही कहा है जो पर-पीड़ा को जानकर उसके दु:ख निवारण में संलग्न हो जाए। गुरुवाणी में भ्रातृत्व और एकता का भाव उच्च स्वर में सुनाई पड़ता है, यह लोगों को पारस्परिक विरोध को भूलकर एक-दूसरे के लिए, परस्पर हितों की रक्षा के लिए एक होने का संदेश देती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का भक्तिकालीन काव्य राग-द्वेष रहित समाज को संगठित करके, मानवीय ऐक्य की स्थापना करने और साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना का संदेश देने में सक्षम है जिससे धर्म निरपेक्षता और धार्मिक-सहिष्णुता को बल मिलेगा। सामाजिक असंगति-विसंगति, अन्याय-अत्याचारों के स्थान पर सहजता, समता और न्याय का मार्ग प्रशस्त होगा। सामाजिक मूल्यों की स्वीकृति ने इस साहित्य को आज भी प्रासंगिक बना रखा है और आगे आने वाले समय में भी भारतीय समाज को सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राजनैतिक दृष्टियों से दिशा देने में सक्षम रहेगा।

संदर्भिका

1. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना : पद्मावत में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ. 552.
2. भारतीय संस्कृति संसद – कलकत्ता द्वारा प्रकाशित, भाग-एक, अंत:दर्शन, पृ. 2.
3. डॉ. दर्शन लाल सेठी – जायसी का काव्य-शिल्प, पृ. 55.

ISSN 2278 - 0327

ओडिशा में वसन्तोत्सव

डॉ. सोमनाथ दाश
राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
तिरुपति, आन्ध्रप्रदेश

[**सारांश** - प्रस्तुत निबन्ध में ओडिशा में होली अथवा वसन्त महोत्सव कैसे मनाया जाता है, उसका एक अनुभूत विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत में विशिष्ट त्योहारों में से होली महोत्सव अत्यन्त ही आमोद दायक है। भारत के पूर्व दिशा में बङ्गोपसागर के तट पर ओडिशा राज्य विराजमान है। वहाँ की संस्कृति देव-देव श्रीजगन्नाथ की संस्कृति से नितान्त ही प्रभावित है। श्रीजगन्नाथ विष्णु के अवतार माने जाते हैं, जो कलियुग के नायक हैं। जब वसन्त ऋतु का आगमन होता है तब परिवेश फल-फूलों से सुशोभित हो उठती है। प्रकृति के इस लोभनीय शोभनीय परिवेश में राधा-कृष्ण का रास अतीव प्रसिद्ध है। इसी समय में ही भारतवासियों के द्वारा होली नाम का यह त्योहार मनाया जाता है। रङ्गों का यह त्योहार सभी राज्यों की तरह ओडिशा में भी बड़ी धूम-धाम से खेला जाता हैं। ओडिशा का धरोहर पुरी क्षेत्र में श्रीजगन्नाथ के समीप होली महोत्सव का आयोजन कैसे किया जाता है इसका एक परिचय स्कन्दपुराण और यात्राभागवत ग्रन्थों से प्रमाण दिखाकर इस प्रबन्ध को सार्थक करने का प्रयास किया गया है।]

[**कूटशब्द** - होली, वसन्त उत्सव, चाचेरी क्रीडा, दोलपूर्णमी, दोलपूर्णिमा, फल्गुदशमी, होलिका दहन, दोलायात्रा इत्यादि।]

आकुमारी हिमालय तक विस्तृत हमारा देश भारत जाति, धर्म, वर्ण, भाषा, खाद्य, वस्त्र, आचार, व्यवहार आदि क्षेत्र में यद्यपि विविधता को दर्शाता है, फिर भी एकता के सूत्र में वे सब मल्ली, मालती, जाति, चम्पकादि फूलों की तरह गूँथे हुए अपूर्व अत्यन्त दुर्लभ और अद्भुत संस्कृति का परिचय देता हैं। इसीलिए कवि के रूप में कहना चाहता हुँ -

भाषा भिन्ना च जातिर्भवति च वसनं भिन्नमास्ते च धर्म:
भिन्नो वर्णश्च वेष: पुनरपि वदनालङ्कृतिश्चापि भिन्ना।
ख्याद्यं पेयं च भिन्नं प्रतिगृहमधुना भारतीसन्ततीनां
लक्ष्यं किन्त्वेकताया: स्रगिव सुमनसामेकसूत्राङ्कितानाम्।।

यह देश त्योहारों का देश कहा जाता है। यहाँ हर साल प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के अनेक पर्व बहुत ही वैभव के साथ मनाये जाते हैं। दिन, सप्ताह, महीने, वर्ष, ऋतु, मौसम के परिवर्तन के साथ आने वाले सारे त्योहारों को सब लोग अपने अपने तरीके से सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखते हुए मिलकर मनाते हैं। हर त्योहारों का प्रभाव धर्म, समाज, राजनीति, संस्कृति, सभ्यता के विकास पर अवश्य ही पड़ता है। हर एक त्योहार का एक विशिष्ट महत्त्व रहता है। राष्ट्र की एकता में समृद्धि, पारस्परिक प्रेम-मिलाप, साम्प्रदायिक एकता, सामाजिक समन्वय आदि में त्योहारों की भूमिका सराहनीय है। ये मानव के सात्त्विक भावनाओं को विकसित करने के साथ-साथ विश्वसनीयता, नैतिकता, विशुद्धता आदि का परिचायक है। युग परिवर्तन का त्योहारों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं रहता है। सैंकड़ो वर्षों से भारतीय संस्कृति में जो त्योहार जैसे मनाया जाता था, उनका प्रारूप आज भी वैसे ही हैं।

मानवीय मूल्यों और मानवीय आदर्शों को स्थापित करने वाले हमारे देश के त्योहार शृङ्खलाबद्ध रूप से हर साल मनाये जाते हैं। हमारे देश के प्रमुख त्योहारों में- नागपञ्चमी, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, दशहरा, दीपावली, होली, ईद, मुहर्रम, बकरीद, क्रिसमस, ओणम, वैसाखी, रथयात्रा, गुरुनायक जयन्ती, गणेश चतुर्दशी, सरस्वती पूजा, महावीर जयन्ती, बुद्ध पूर्णिमा, राम नवमी, शिवरात्री जैसे अनेक पर्व प्रसिद्ध हैं। इन सब त्योहारों में 'होली' वा 'वसन्तोत्सव' नाम का यह त्योहार अत्यन्त ही मनोरञ्जक, मैत्री प्रदायक रङ्गों का मिश्रण है; जहाँ हर एक रङ्ग जीवन में खुशहाली ही खुशहाली लाती है।

'होली' नाम से प्रसिद्ध यह त्योहार विशिष्ट रूप से भारतीय हिन्दू, नेपाली, नेपाल प्रवासियों के द्वारा ज्यादातर मनाया जाता है। भारत में भी विशेष रूप से उत्तरभारत में इस को ज्यादा महत्त्व दिया गया है। कई देशों में भी जहाँ अल्प संख्यक हिन्दू रहते हैं

वहाँ भी इस त्योहार को धूम-धाम के साथ पालन किया जाता है। विविध प्रान्तों में इस का नाम अलग-अलग रखा गया है। जैसे - फगुआ, धुलेंडी, छारंडी, फगुदसमी, वसन्तपञ्चमी, वसन्तमहोत्सव, काममहोत्सव, होलिका, होलाका, होलिका दहन, धूलिवन्दन इत्यादि। इस उत्सव में रङ्ग खेलना, गाना-बजाना और मिठाई बाँटना प्रमुख कार्य हैं। हिन्दू पञ्चाङ्ग के आधार पर यह त्योहार फाल्गुन महीने में पूर्णिमा तिथि को मनाया जाता है। वसन्त पञ्चमी तिथि से ही इस का आरम्भ हो जाता है। इस त्योहार के साथ अनेक कहानियाँ जुड़ी हुई हैं। इनमें से सबसे प्रसिद्ध कहानी है प्रह्लाद की है जिस को लेकर होलिका आग में बैठी थी और उसका शरीर जल गया था। इसके अतिरिक्त 'राक्षसी ढुँढी', 'राधाकृष्ण रास', 'कामदेव का पुनर्जन्म' आदि कथाएँ भी इस पर्व के साथ जुड़े हुए हैं। भारतीय ज्योतिष के आधार पर चैत्र शुदी प्रतिपदा के दिन से हिन्दु नववर्ष का आरम्भ होता है। और फाल्गुन माह की पूर्णिमा तिथि वर्ष का अन्तिम दिन होता है। अत: यह पर्व नव संवत्सर का आरम्भ और वसन्तागमन का प्रतीक भी माना जाता है। इसी दिन विश्व के प्रथम पुरुष मनु का जन्म भी हुआ था, इस कारण इसे 'मन्वादितिथि' भी कहते हैं। इस त्योहार के अनेक वैशिष्ट्य हैं।

ओडिशा राज्य में होली

भारत में हर राज्य की तरह ओडिशा राज्य में भी इस त्योहार को बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। ओडिशा में इस को 'दोलपूर्णिमा' के नाम से जाना जाता है। ओडिशा में मनाये जाने वाला यह त्योहार केवल रङ्गों का ही नहीं बल्कि परम्परा, संस्कृति तथा आध्यात्मिकता का एक मिश्रण है। आंग्ल कैलेण्डर के आधार पर यह पर्व फरवरी तथा मार्च के महीने मे आता है। हिन्दुओं के चन्द्र कैलेण्डर के आधार पर फाल्गुन महीने की दशमी तिथि से इस त्योहार का आरम्भ होता है। उस दिन को ओडिया भाषा में 'फगु दशमी', 'फल्गुदशमी' कहा जाता है। दशमी तिथि से आरम्भ किया गया यह त्योहार पूर्णिमा तिथि की रात्रि में समाप्त होता है। यही पूर्णिमा तिथि 'दोलपूर्णिमा' के नाम से प्रसिद्ध है। जैसे यात्राभागवत में कहा गया है -

दशमीदिनमारभ्य यावत्पंचदशी भवेत्।
फाल्गुनस्य सिते पक्षे फल्गुयात्रा हरेर्भवेत्।।

दशमीदिनमारभ्य पौर्णमीपर्यन्तं फल्गुयात्रा भवेत्। तद्विधिमाह -दशमीदिनमारभ्य चतुर्दशीपर्यन्तं प्रतिदिनं रात्रौ कृष्णस्य बहिर्भ्रमणम्। फल्गुयात्रा भवेत् - एतन्मध्ये तिथीनां क्षयवृद्धिश्चेत् तदा क्षयश्चेत् चतुर्दिनं भवति। वृद्धिश्चेत् षड्दिनं भवति। शुद्धश्चेत् पञ्चदिनं भवति। दशम्यां सायङ्काले नीत्वा श्रीराधाकृष्णाभ्यां यात्रामण्डपमेकवारं प्रदक्षिणीकार्य्य देवं दक्षिणाभिमुखं संस्थाप्य तत्र पूजयेत् महोत्सवेन। पूजारात्रिकानन्तरं देवं२ कर्पूरचन्दनचूर्णेनांजलित्रयं दद्यात्। तत: फल्गुचूर्णेनाञ्जलित्रयं दद्यात्। देवाग्रे ऊर्ध्वमञ्जलित्रयं क्षिपेत्। ततो देवं विमानमधिरोह्य तत्र पूर्ववत् फल्गुनाऽप्यञ्जलित्रयं दद्यात् तद्वत् वेद्याम् दद्यात्। तद्वत् ऊर्ध्वमञ्जलित्रयं क्षिपेत्। ततो विमानं गृहीत्वा यथोत्साहं भ्रमयित्वा भ्रमणनिवृत्तिस्थाने किञ्चिन्नैवेद्यं दत्त्वा आरत्रिकवन्दापनां कृत्वा स्वस्थानं प्रति देवमानयेत्। प्रासादद्वारदेशे आरत्रिकवन्दापनां कृत्वा सिंहासने प्रवेशयेत्। एवं चतुर्दशीपर्यन्तं कुर्यात्।

चतुर्दश्यां रात्रौ वह्निगृहपूजानन्तरं दोलामण्डपप्रतिष्ठां कुर्यात्। देवस्य बहिर्भ्रमणानन्तरं दोलामण्डपं सप्तवारान् प्रदक्षिणीकार्य स्वस्थानं नयेत्।

अथ दोलापौर्णमीदिवसकृत्यम्। पौर्णमीनिर्णयमाह भविष्योत्तरे -

फाल्गुने पौर्णमास्यां तु विदध्याद्वैष्णवै: सह।
श्रीकृष्णप्रियभक्तस्य वसन्तस्यार्च्चनोत्सवम्।।
य एवं कुरुते पार्थ शास्त्रोक्तं फाल्गुनोत्सवम्।
तत्प्रसादार्थसिद्धिश्च तस्य सर्वे मनोरथा:।। (यात्राभागवते)

ओडिशा के लोग अपनी पारम्परिक शैली में इस उत्सव को मनाते हैं। ओडिशा में इस उत्सव को मनाने की जो परम्परा है वह पश्चिमबङ्ग की परम्परा के साथ प्राय: समान है। किन्तु उस में थोड़ा सा परिवर्तन दिखाई देता है। पश्चिम बङ्ग के लोग इस अवसर पर भगवान् कृष्ण और देवी राधा की प्रतिमाओं की पूजा करते हैं। लेकिन् ओडिशा के लोग भगवान् श्रीजगन्नाथ की प्रतिमा को प्राधान्य देते हैं। ओडिशा का प्रधान इष्टदेव पुरी क्षेत्र में शङ्खक्षेत्र अथवा श्रीक्षेत्र में श्रीमन्दिर में विराजमान श्रीजगन्नाथ हैं। ओडिशा के उपकूलवर्त्ति जिलों में यह होली उत्सव बहुत ही लोकप्रिय है। इस को 'वसन्त पर्व' भी कहते हैं। जहाँ सारा भारत में या भारत से बाहर कहीं दूसरे देश में यह पर्व एक दिन के लिए मनाया जाता है, वहाँ ओडिशा में इस उत्सव को पाँच दिन तक मनाते हैं।

फाल्गुनदशमी से लोग फल्गु, अवीर, विविध रङ्गों के साथ खेल कर इस उत्सव का भरपूर मजा उठाते हैं। इसी दिन से 'भेमाना' के नाम से परिचित 'पालकी' बनाकर भगवान् मदनमोहन के प्रतिमाओं को समीपस्थ मन्दिर से लेकर गली-गली घुमाया जाता है। भगवान् मदनमोहन की इस शोभायात्रा में पालकी को हर एक व्यक्ति के घर के सामने रखा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर के तरफ से मदनमोहन को मिठाई आदि भोग लगाने के साथ साथ पुष्प एवं विविध रङ्गों को भी अर्पण करता है। यात्रा में

शामिल हर एक व्यक्ति परस्पर रङ्ग लगाकर हरि बोल, जय गोविन्दा, जय जगन्नाथ, जय श्रीराधे आदि नारा लगाते हुए नाचते कूदते हैं। घण्ट, मृदङ्ग, मार्दल, तुरी, भेरी आदि वाद्यों के गुञ्जन से एक आध्यात्मिक वातावरण तैयार हो जाता है। पालकी में स्थापित सारे मूर्त्तियाँ स्वर्ण आभूषण से सजाए जाती हैं। पालकी के ऊपर रखने से पहले श्रीमन्दिर से लाये गये मूर्त्तियाँ पहले झूले में रखे जाते हैं। पालकी विविध फूल, पत्ता, रङ्गीन कपड़ा तथा कागज से सजाया जाता है। इस को 'दोलमेलण' वा 'दोलायात्रा' कहा जाता है। श्रीराधा और कृष्ण के विग्रहों को रङ्ग और अबीर से पूजा जाता है। श्रीक्षेत्र में श्रीजगन्नाथ का 'चाचेरीलीला' फल्गुदशमी से ही आरम्भ होता है। इस दिन से लेकर दोलिका विमान (पालकी) के ऊपर मदनमोहन, श्रीलक्ष्मी, सरस्वती के विग्रहों को 'दोलवेदिका' में लिया जाता है। महाप्रभु की आज्ञामाला को लेकर मन्दिर में जो चलन्ती प्रतिमा दोलगोविन्द है, उसके साथ भूदेवी और श्रीदेवी स्वतन्त्र विमान से जगन्नाथवल्लभ उद्यान में जाते हैं, जहाँ श्रीजगन्नाथ चाचेरी क्रीड़ा करते हैं। 'चाचेरी' एक वेङ्गली शब्द है। उसका अर्थ है गीत-वाद्य के साथ हर्षोल्लास से नृत्य करना। इस शब्द का प्रयोग ओडिशा के प्रसिद्ध कवि उपेन्द्र भञ्ज ने अपने वैदेहीश विलास में उल्लेख किया है। जैसे –

वृष्टि गदा मुद्गर भल्ल शूल सङ्गर नग नगरपात ये,
व्योमपथरे रथ अचल मनोरथथरे मित्रर गात्र ये,
वसन्ते कि विरचित चर्चरी ये,
वररङ्ग अवीरे पिचिका करिमारे विला लास्य धरि ये।

(वैदेहीशविलास-43/5)

यहाँ एक रामायण का एक युद्ध का वर्णन किया जाता है, जहाँ राक्षसों के गदा, मुद्गर, भाल और शूल प्रभृति अस्त्रों की वारिस हुई और वानरों के पक्ष से पर्वत और वृक्षों को छोड़ा गया। जब युद्ध का आरम्भ हुआ तब ऐसा लगा जैसे चर्चरी क्रीडा का आरम्भ हो रहा है। यहाँ चर्चरी शब्द का उल्लेख किया गया। कवि का कहना है, जैसे वसन्त उत्सव में लोग करवीर पुष्पों की तरह एकत्रित हो कर नृत्य रस में मदमत्त हो जाते हैं, फल्गुद्वारा श्रेष्ठ रङ्गों से रञ्जित होते हैं, उसी तरह सारे योद्धा क्रीडाचातुरी छल से महायुद्ध में मत्त हुए। तो यह चाचेरी क्रीडा एक ऐसी क्रीडा है, जहाँ खिलाड़ी मदमत्त हो कर वसन्त में अबीरों के साथ रङ्गों की पिचकारी के साथ खेलता है।

इस उत्सव के दौरान दोलवेदिका में ओडिशा का सुप्रसिद्ध लोकनृत्य 'वादिपाला' का आयोजन किया जाता है। जहाँ गायक और उसके अनुकरणकारी पौराणिक कथाओं को ओडिआ भाषा के छान्दों मे रची गयी पद्यों के साथ सुनाते हैं। वस्तुत: 'दोलायात्रा' श्रीजगन्नाथ के प्रसिद्ध द्वादश यात्राओं में से एक है। जैसे स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड में कहा गया है –

दोलायात्रा दमनकमहोऽक्षय्यपुण्या तृतीया
मज्जस्नानं रथवरगति: शायनं चायने द्वे।
पार्श्ववृत्ति: शयननिवृत्ति: प्रावृत्ति: पुष्यपूजा
चैवं यात्रा विधिनिगदिता द्वादशैता: नरेन्द्र।। (स्वन्दपुराणम्)

दोलायात्रा, दमनकयात्रा, अक्षय्यतृतीया, स्नानयात्रा, श्रीगुण्डिचा, हरिशयन एकादशी, उत्तरायणम्, दक्षिणायनम्, पार्श्वपरिवर्त्तनम्, देवोत्थापनैकादशी, प्रावरणषष्ठी, पुष्यपूर्णिमापूजा – ये द्वादश यात्रा हैं। इस में दोलायात्रा का नाम पहले लिया गया है।

इस तरह फल्गुदशमी से आरम्भ किया गये इस उत्सव के अन्तिम दिवस में दूसरे गाँव से मन्दिर में विराजमान मदनमोहन वा कृष्ण, श्रीराधा या श्रीदेवी के मूर्त्तियों को विमान के माध्यम से लेकर एक प्रसिद्ध गुरुत्वपूर्ण स्थल पर रखा जाता है। यहाँ पर लोग इकट्ठा होते हैं। उस दिन वहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है। जिसको ओडिआ भाषा में 'मेलण' कहते हैं। भक्तगण मूर्त्तिओं के सामने सङ्गीत के साथ भक्तिपूत नृत्य करते हैं। सन्ध्याकाल में जो गोपालक होते हैं वे अपने कन्धे में पालकी को उठाते हैं। इस समय एक प्रसिद्ध नृत्य भी प्रदर्शित किया जाता है जिसे 'दाण्डी' कहा जाता है और इसकी और भी एक विशेषता है कि जो विमान लाया जाता है उसका साज-सज्जा के आधार पर प्रतियोगिता भी होती है। मेला में कुछ गृहोपयोगी सामान, कृषि उपकरण, खिलौने, मिठाई आदि का विक्रय होता है।

सारे देवताओं के परस्पर मिलान के बाद पञ्जिका पाठ होता है। उस साल घटित होने वाले गुरुत्वपूर्ण घटनाओं के बारे चर्चा होती है। चतुर्दशी तिथि में होलिका का दहन किया जाता है। आग लगाने के लिए धान्य भूसा में होलिका की प्रतिमा बनाई जाती है। और रात में उसमें आग लगाकर दहन किया जाता है। होलिका दहन के अगले दिन रङ्गों के साथ खेल होता है। रङ्गीन अबीरचूर्ण से तथा रङ्ग से मिले हुये जल से यह खेल अतीव रुचिर होता है। ओडिशा में श्रीजगन्नाथ मन्दिर के विषय में आगमिक प्रमाण स्कन्दपुराण, नीलाद्रिमहोदय, कपिलसंहिता, वामदेव संहिता आदि ग्रन्थों मे मिलते हैं। यहाँ आगम से चार वस्तु सम्बन्ध रखते हैं। जैसे – ज्ञान, योग, चर्या और क्रिया। चर्या का मतलब है देवालयों में देवताओं की दिनचर्या, क्रिया का मतलब है उनसे सम्बन्धित सारे मासिक, वार्षिक और ऋतुकालीन उत्सव। जिस में यह वसन्त उत्सव भी शामिल है। इस का विस्तृत विवरण स्कन्दपुराण

के उत्कलखण्ड में 42 अध्याय में यात्राभागवत में और दूसरे पुराणों मे भी मिलते हैं। आपकी जानकारी के लिए में कुछ श्लोक स्कन्दपुराण से यहां उद्धृत कर रहा हुँ –

फाल्गुने मासि कुर्वीत दोलारोहणमुत्तमम्।
यत्र क्रीडति गोविन्दो लोकानुग्रहणाय वै।।1।।
प्रत्यर्चां देवदेवस्य गोविन्दाख्यां तु कारयेत्।
प्रासादपुरतः कुर्यात्षोडशस्तम्भमुच्छ्रितम्।।2।।
चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं मण्डपं वेदिकान्वितम्।
चारुचन्द्रातपं माल्यचामरध्वजशोभितम्।।3।।
भद्रासनं वेदिकायां श्रीपर्णीकाष्ठनिर्मितम्।
फल्गूत्सवं प्रकुर्वीत पञ्चाहानि त्र्यहाणि वा।।4।।
फाल्गुन्यां पूर्वतो विप्राश्चतुर्दश्यां निशामुखे।
वह्न्युत्सवं प्रकुर्वीत दोलामण्डपपूर्वतः।।5।।
गोविन्दानुगृहीतं तु यात्राङ्गं तत्प्रकीर्त्तितम्।
आचार्यवरणं कृत्वा वह्निं निर्मथनोद्भवम्।।6।।
भूमिं संस्कृत्य विधिवत्तृणराशिं महोच्छ्रयम्।
सुसमं कारयित्वा तु वह्निं तत्र विनिक्षिपेत्।।7।।
पूजयित्वा विधानेन कूष्माण्डविधिना हुनेत्।
गोविन्दं पूजयित्वा तु भ्रमयेत्सततं विभुम्।।8।।
यत्नात्तं रक्षयेद्वह्निं यावद्यात्रा समाप्यते।
प्रातर्यामे चतुर्दश्यां गोविन्दप्रतिमां शुभाम्।।9।।
वासयित्वा हरेरग्रे पूजयेत्पुरुषोत्तमम्।
उपचारावशिष्टैस्तु प्रत्यर्चामपि पूजयेत्।।10।।
ततोऽवरोप्य वसनं मालां च द्विजसत्तमाः।
अर्चायां विन्यसेन्मन्त्री परं ज्योतिर्विभावयन्।।11।।
ततः सा प्रतिमा साक्षाज्जायते पुरुषोत्तमः।
रत्नान्दोलिकया तां वै नयेत्स्नानस्य मण्डपम्।।12।।
तत्र नानातूर्यनादैः शङ्खध्वनिपुरःसरम्।
जयशब्दैस्तथा स्तोत्रैः पुष्पवृष्टिभिरेव च।।13।।
छत्रध्वजपताकाभिश्चामरैर्व्यजनैस्तथा।
निरन्तरं दीपिकाभिस्तदा कुर्यान्महोत्सवम्।।14।।
आगच्छन्ति तदा देवाः पितामहपुरोगमाः।
द्रष्टुं चार्षगणैः सार्द्धं गोविन्दस्य महोत्सवम्।।15।।
भद्रासनेऽधिवास्यैव पूजयेदुपचारकैः।
महास्नानस्य विधिना स्नपनं तस्य कारयेत्।।16।।
पञ्चामृतैश्च सर्वैश्च तेषामन्यतमेन वा।
स्नानान्ते गन्धतोयेन श्रीसूक्तेनाभिषेचयेत्।।17।।
संप्रोक्ष्य भूषयेद्देवं वस्त्रालंकारमाल्यकैः।
नीराजयित्वा सम्पूज्य प्रासादं परिवेष्टयेत्।।18।।
सप्तकृत्वस्ततो देवं दोलामण्डपमानयेत्।
सुसंस्कृतायां रथ्यायां पताकातोरणादिभिः।।19।।
अधोदेशे मण्डपं तं सप्तशो भ्रमयेत्पुनः।
ऊर्द्ध्ववदेशे पुनः सप्त स्तम्भवेद्यां च सप्त वै।।20।।
यात्रावसाने च पुनर्भ्रमयेदेकविंशतिम्।
इयं लीला भगवतः पितामहमुखेरिता।।21।।
राजाषणेन्द्रद्युम्नेन कारिता पूर्वमेव हि।
फलपुष्पोपनम्रैश्च शाखिभिः परिकल्पिते।।22।।
वृन्दावनान्तरे रम्ये मत्तभ्रमरराविणि।
कोकिलारावमधुरे नानापक्षिगणाकुले।।23।।
नानोपशोभारचितनानागुरुसुधूपिते।
प्रफुल्लकेतकीषण्डगन्धामोदिदिगन्तरे।।24।।
मल्लिकाशोकपुन्नागचम्पकैरुपशोभिते।
तत्काननान्तर्घटिते मण्डपे चारुतोरणे।।25।।
भूषिते माल्यवसनचामरैरुपशोभिते।
रत्नखट्वान्दोलिकायां तन्मध्ये वासयेत्प्रभुम्।।26।।
सद्रत्नमुकुटं तारहारशोभितवक्षसम्।
अनर्घ्यरत्नघटितकुण्डलोद्भासितश्रुतिम्।।27।।
यथास्थानं यथाशोभं दिव्यालंकारमञ्जुलम्।
विकचाम्बुजमध्यस्थं विश्वधात्र्या श्रिया युतम्।।28।।
शङ्खचक्रगदापद्मधारिणं वनमालिनम्।
सुप्रसन्नं सुनासं तं पीनवक्षःस्थलोज्ज्वलम्।।29।।
पुरोव्योमस्थितैर्देवैर्ब्रह्माद्यैर्नतमस्तकैः।
कृताञ्जलिपुटैर्भक्त्या जयशब्दैरभिष्टुतम्।।30।।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च किन्नरैः सिद्धचारणैः।
हाहाहूहूप्रभृतिभिः सत्वरं दिव्यगायनैः।।31।।
अहं पूर्विकया नृत्यगीतवादित्रकारिभिः।
नेत्राम्बुजसहस्रैश्च पूज्यमानं मुदान्वितैः।।32।।
किरद्भिः सर्वतो दिक्षु गन्धचन्दनजं रजः।
उपवेश्याथ गोविन्दं पूजयेदुपचारकैः।।33।।
बल्लवीवृन्दमध्यस्थं कदम्बतरुमूलगम्।
हावहास्यविलासैश्च क्रीडमानं वनान्तरे।।34।।
गोपीभिश्चैव गोपालैर्लीलान्दोलितयानगम्।
चिन्तयित्वा जगन्नाथं विकिरेन्धचूर्णकैः।।35।।
सकर्पूरै रक्तपीतशुक्लैर्दिक्षु समन्ततः।
दिव्यैर्वस्त्रैर्दिव्यमाल्यैर्दिव्यैर्गन्धैः सुधूपकैः।।36।।
चामरान्दोलनैर्गीतैः स्तुतिभिश्च समर्चितम्।

आन्दोलयेद्दोलिकास्थं सप्तवारांच्छनैः शनैः।।37।।
तदा पश्यन्ति ये कृष्णं मुक्तिस्तेषां न संशयः।
ब्रह्महत्यादिपापानां पञ्चकानां क्षयो भवेत्।।38।।
त्रिरेवं दोलयेद्देवं सर्वपापापनोदनम्।
भक्त्यानुग्राहकं पुंसां भुक्तिमुक्त्येककारणम्।।39।।
लीलाविचेष्टितं यस्य कृत्रिमं सहजं तथा।
अंहः संघक्षयकरं मूलाविद्यानिवर्तकम्।।40।।
पश्यन्द्वितीयं हरति गोहत्याद्युपपातकम्।
हरत्यशेषपापानि तृतीये नात्र संशयः।।41।।
दृष्ट्वा दोलायितं देवं सर्वपापैः प्रमुच्यते।
आध्यात्मिकैराधिभौतैराधिदैवैवमुच्यते।।42।।
इमां यात्रां कारयित्वा चक्रवर्त्ती भवेन्नृपः।
ब्रह्मणस्तु चतुर्वेदी ज्ञानवाञ्जायते ध्रुवम्।
वैश्यस्तु धान्यधनवान् शूद्र शुध्येत पातकात्।।43।।

(स्कन्दरपुराणम्)

सन्दर्भसूची -

1. यात्राभागवतम्, शोधप्रबन्ध, श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालय, श्रीविहार, पुरी।
2. वामदेवसंहिता, श्रीजगन्नाथमन्दिरमुक्तिमण्डपपण्डितसभा, पुरी, 1972।
3. कपिलसंहिता, श्रीरत्नाकरगर्गवटुः, मुद्रणम् – दत्ताप्रेस, कटक, 1928।
4. नीलाद्रिमहोदयः, सम्पा. श्रीधरमहापात्रः, सुताहाट, कटक। मुद्रणम् – सप्तर्षिमुद्रणालयः, कटकम्, 1984।
5. स्कन्दपुराणम्, उत्कलखण्डम्, गीताप्रेस्, गोरखपुरम्, सं.2076।
   https://sa.wikisource.org/wiki/स्कन्दपुराणम्
6. https://or.wikipedia.org/ଦୋଳି
7. https://dot.odishatourism.gov.in/?q=node/w{}

इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्र्यां संहितायां द्वितीये वैष्णवखण्डे पुरुषोत्तमक्षेत्रमाहात्म्ये दोलारोहणं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः।
इत्यलं पर्यालोचनेन।

ISSN 2278 - 0327

अपभ्रंश की उत्पत्ति और रस सिद्धान्त की संस्कृत परम्परा

डॉ. अनीता
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्री ऑरबिंदो कॉलेज, (सांध्य)
मालवीय नगर, दिल्ली

अपभ्रंश शब्द का सामान्य अर्थ है – भ्रष्ट, अशुद्ध, विकृत, च्युत। अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ है – बिगड़ा हुआ या गिरा हुआ। जब भाषा रूप सुसंस्कृत न रहकर बोलचाल का सामान्य रूप हो जाता है तो पण्डितों की दृष्टि में वह भाषा बिगड़ी हुई मानी जाती है और तब वे उसे अपभ्रंश की संज्ञा देते हैं। आचार्य पतंजलि ने भी महाभाष्य में संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त शब्दरूपों को अपशब्द या अपभ्रंश की संज्ञा दी है। शब्दों के बिगड़े रूप को व्यापक अर्थ में अपभ्रष्ट कहा जाता है। आचार्य भरतमुनि ने ऐसे शब्दों को विभ्रष्ट की संज्ञा दी है, जो अपभ्रष्ट के समान अर्थ वाला है। आचार्य भामह ने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक महत्त्वपूर्ण रूप माना है। अपभ्रंश भाषा का अवहठ, अवहत्थ, देशभाषा, देशीभाषा, अवहट्ट आदि अनेक नामों से पुकारा गया। इसका प्रयोग 500 ई. से 1000 ई. तक हुआ। हिन्दी का विकास अपभ्रंश से हुआ। दण्डी ने अपभ्रंश को वाङ्मय की एक भाषा बताते हुए कहा है कि काव्य में अभीरादि की भाषा अपभ्रंश है और शास्त्र के अनुसार संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं।

अपभ्रंश की उत्पत्ति – अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतंजलि से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है। ढोला मारूश दूहा के सम्पादकों के अनुसार अपभ्रंश का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषा के आविर्भावकाल का निर्धारण करते हुए डॉ. उदयनारायण तिवारी का कथन है – ''मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान से अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया जाता है। अपभ्रंश मध्यभारतीय आर्य भाषाओं और आधुनिक आर्यभाषाओं तथा हिन्दी, बंग्ला, मराठी, गुजराती आदि के बीच की कड़ी है।''[1] राहुल जी प्राकृत एवं अपभ्रंश की सीमारेखा छठी सती मानने के पक्ष में है जो अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त मत प्रतीत होता है।

भरतमुनि विक्रम की तीसरी शताब्दी ने अपभ्रंश नाम न देकर लोभाषा की 'देशभाषा' कहा है। ''अपभ्रंश नाम पहले पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है, जिसमें उसने अपने पिता गृहसेन को संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है।''[2] भामह ने तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार अपभ्रंश या प्राकृतभास हिन्दी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है। संवत् 990 में देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने भी 'श्रावकाचार' नाम की एक पुस्तक दोहों में बनायी थी, जिसकी भाषा अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप लिये हुए है।

रस सिद्धांत की परम्परा

रस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में यह शब्द जल, द्रव, वीर्य, मधुर, सुरा, सोमरस, वाणी का रस, परमात्मा का रस आदि अनेक अर्थों में मिलता है। सबसे पहले ऋग्वेद ग्रन्थ में ही यह नाना प्रकार से देखा जा सकता है। रस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की जाती है ''*रस्यते आस्वाद्यते इति रस:*'' अर्थात् जिसका आस्वाद किया जाए वह रस है अथवा ''*रसरते इति रस:*'' अर्थात् बहने वाला रस है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से वर्ण-विपर्यय के द्वारा सर: से रस बन जाता है।''[3] अत: आस्वाद्यता और द्रवत्व रस की विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं के आधार पर सामान्य व्यवहार में रस का चार अर्थों में प्रयोग होता है – 1. पदार्थों का रस – अम्ल, तिक्त, कषाय आदि, 2. आयुर्वेद का रस, 3. साहित्य का रस, 4. मोक्ष या भक्ति रस। प्रथम अर्थ की पुष्टि वैशेषिक दर्शन में होती है। आयुर्वेद में रस का अर्थ पारद किया गया है। काव्यशास्त्रियों के साहित्य-रस तथा मोक्ष-रस में पर्याप्त साम्य है। इसलिए काव्य-रस ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में रस का अभिप्राय काव्यरस या साहित्य-रस ही है। काव्याध्ययन एवं नाटकदर्शन में उत्पन्न आनन्द ही यहाँ पर रस का अर्थ है।

रस को काव्य की आत्मा या प्राणतत्त्व माना गया है। रसहीन का काव्य निर्जीव है, अत: इसके बिना काव्य का अस्तित्त्व ही नहीं है। जैसे प्राण के अभाव में शरीर व्यर्थ है, उसी प्रकार रस के अभाव में कोई रचना काव्यत्व से ही रहित हो जाती है। रस ही कविता को प्राणवान बनाता है। और वही पाठक या श्रोता को आनन्दमग्न करे भाव समाधि में पहुँचा देता है। अत: रस को काव्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जा सकता है। यह काव्य का अन्तरंग तत्त्व है, बहिरंग तत्त्व नहीं। अत: निर्विवाद रूप से रस ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व है। जिन वस्तुओं और दृश्यों को हमारा मन चाहता है वे उसके लिए आकर्षक और सुन्दर होते हैं। जिस प्रकार सुन्दर पुष्प, मनोहर चित्र, सुगन्धित वायु तथा स्वादिष्ट भोजन हमें रूचिकर होते हैं, उसी प्रकार भावानुभूतियाँ भी रूचिकर और आह्लादक होती हैं। ''जैसे सब व्यंजन पदार्थ रूचिकर नहीं होते, केवल सुन्दर और स्वादिष्ट वस्तुएँ ही आनन्ददायक होती हैं उसी प्रकार सुन्दर, स्पृहणीय या उदात्त भाव ही हमें आह्लादक प्रतीत होते हैं। इनके अनुभव से हमें आनन्द मिलता है। यही सुन्दर स्पृहणीय भाव-जन्य ही काव्यरस है।''[4] अत: काव्यरस सुन्दर, स्पृहणीय, प्रेम, घृणा, हास्य, करूणा आदि भावों की मानसिक अनुभूति का आनन्द है। काव्य की इस स्पृहणीय भाव-जन्य आनन्दानुभूति (रसानुभूति) के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं - एक भावों का सुन्दर या उदात्त होना और दूसरे, हमारे मन का अनुभूति के लिए तैयार होना (व्यक्तिगत राग-द्वेष, योग-क्षेम से परे होना)। ''काव्य-रस या काव्य-आनन्द न तो सन्तरे आदि का इन्द्रियजन्य रस है, और न ही किसी लौकिक सुखानुभूति का आनन्द है। न यह शतरंज, ताश आदि खेलों का मनोरंजन है, न नाच-तमाशे का आनन्द। वस्तुत: काव्यानन्द उदात्त या स्पृहणीय भाव-जन्य मांगलिक आनन्द है जो हृदय की सत्वोद्रेक-दशा में प्राप्त होता है।''[5] स्पष्ट है कि आनन्द या रस स्थूलेन्द्रियजन्य भी होता है और सूक्ष्मेन्द्रियजन्य मानसिक भी।

जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है। रस-सिद्धान्त काव्य का लक्ष्य इसी आनन्दानुभूति को स्वीकार करता है। माया-प्लुट ब्रह्म ओझल या तिरोहित है। उस पर पड़े मायापट को तोड़कर आनन्द प्राप्ति की बात दार्शनिक कहते हैं। रस सिद्धान्त मायिक आवरण को विछिन्न कर विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापना पर बल देता है। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि - हृदय की मुक्तावस्था का नाम ही रस है। रस-सिद्धान्त जीवन के सुन्दर-असुन्दर दोनों पक्षों को काव्य में समान महत्त्व देता है। शृंगार, वीर, करूण ही नहीं वीभत्स, भयानक आदि में भी रसानुभूति की क्षमता है। इसमें गौतम गाँधी की करूणा और साम्यवादियों की घृणा एवं विरोध दोनों को स्थान दिया गया है।

जहाँ तक रस-सिद्धान्त की बात है ''यह किसी एक विद्वान् या, एक वर्ग, एक देश, एक भाषा और एक काल के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है, इसे विभिन्न देशों और विभिन्न काल-खण्डों की मान्यता प्राप्त है, और इस मान्यता का एक मात्र कारण यह है कि वह क्षण-विशेष, काल-विशेष, स्थान-विशेष या वर्ग विशेष की परिवर्तनशील प्रवृत्तियों पर आधारित न होकर उन स्थायी भावनाओं पर आधारित है जो 'यूनिवर्सल' है।''[6] अपने इस आधार की दृढ़ता या शक्ति के कारण यह जीवित ही नहीं है, अपितु दिन पर दिन विकासोन्मुख है। भारत में ही नहीं, बाहर भी जर्मन, फ्रेंच, रूसी, ब्रिटिश, अमरीकन आदि विद्वानों ने भी अपने-अपने अनुभव एवं दृष्टिकोण के अनुसार कला के संदर्भ में एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की है, जो कृति की भावात्मकता, संप्रेषणीयता, तादात्मय एवं रसात्मकता का विवेचन-विश्लेषण करता है, जिसे विभिन्न भाषाओं में विभिन्न नाम दिए गए हैं किन्तु भारतीय शब्दावली में उसे नि:संकोच रस-सिद्धान्त कहा जा सकता है।

''पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं आधुनिक काव्य-रूपों (विशेषत: उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि) की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का पुनराख्यान करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, प्रौढ़ एवं प्रामाणिक रूप प्रदान किया जा सकता है।''[7] अभिनव गुप्त रस चिन्तन की पराकाष्ठा है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवगुप्त-भारती' नामक टीका लिखकर एक ओर उन्होंने नाट्य-रस सम्बन्धी विवेचन को अन्तिम रूप देकर दूसरी ओर आनन्दवर्धन के 'धवन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका लिखकर काव्य-रस सम्बन्धी चिन्तन को पूर्णता प्रदान की। काव्यशास्त्र में रस-ध्वनि को पूर्णता प्रतिष्ठित करने का श्रेय अभिनवगुप्त को है। ''अभिनव ने काव्य-सृजन से काव्यास्वाद तक अखण्ड रसानुभूति को सुसंगत रूप देकर रस-सिद्धांत को स्वत: सम्पूर्ण और सर्वग्राही काव्य-सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया है।''[8] व्याकरणशास्त्र में जो स्थान महाभाष्यकार पतंजलि का है और वेदान्त दर्शन में 'प्रस्थानत्रयी' के महान भाष्यकार शंकराचार्य का है, वही स्थान काव्यशास्त्र में 'अभिनव भारती' एवं 'ध्वन्यालोक-लोचन' के प्रणेता अभिनव गुप्त का है। अभिनव गुप्त की दृष्टि सामाजिक होते हुए भी रस-परिकल्पना में प्रयात्मक ही थी और साम्यवाद एवं समाजवाद के कला-सिद्धान्त समाज के प्रति श्रेयात्मक दृष्टि पर ही बल देकर चलते हैं।

रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वाधिक प्राचीन है,

जिसका उल्लेख सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में अवश्य किया है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य भरतमुनि को दिया जाता है जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के एक तत्त्व के रूप में रस का विस्तृत विवेचन किया है। रस-चिन्तन के इतिहास में आनन्दवर्धन के बाद सबसे प्रतिभाशाली विचारक भटनायक हुए। इन्होंने ध्वनि का विरोध करते हुए रस-निष्पत्ति की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। भरतसूत्र के उल्लेखनीय व्याख्याताओं में कालक्रमानुसार भटनायक तीसरे स्थान पर हैं। ''भरत-सूत्र के व्याख्याताओं में से पहले हैं, जिन्होंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक सामाजिक होने वाली रसानुभूति पर विचार किया है।'' [9]

डॉ. नगेन्द्र कहते हैं कि अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त का गंभीर दार्शनिक धरातल प्रदान किया। उनके शब्दों में 'अभिनवगुप्त' के मत की सबसे बड़ी शक्ति तो यही है कि सभी आचार्यों के सिद्धान्तों की अपेक्षा उसका दार्शनिक आधार अत्यधिक गंभीर एवं प्रामाणिक है। जिस प्रकार अधिकांश दार्शनिक मतवादों का पर्यवसान अद्वैत में हो गया, उसी प्रकार रस-विषयक सभी मान्यताएँ भी आत्मास्वाद की कल्पना में अन्तर्लीन हो गई। अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त को गंभीर आधार प्रदान किया।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हुए हैं, जिन्होंने कविता, निबन्ध नाटक की ही भाँति काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी नूतन दृष्टि का परिचय देते हुए, अपने 'नाटक' शीर्षक समीक्षा शास्त्रीय ग्रन्थ में प्रतिपादित किया कि आधुनिक युग के साहित्यकारों को न तो सभी परम्परागत रीतियों व रूढ़ियों का आन्धानुकरण करना चाहिए और न ही कट्टरतापूर्वक सभी प्राचीन रीतियों का परित्याग करना चाहिए। उन्होंने अपने इसी दृष्टिकोण के अनुसार रस-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए परम्परागत रसों के अतिरिक्त माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद, आनन्द आदि नूतन रसों की स्थापना की। इसी प्रकार नाटक के उद्देश्यों में उन्होंने श्रृंगार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार एवं देश वत्सलता को भी स्थान देते हुए प्रतिपादित किया कि स्वदेशानुराग की अभिव्यक्ति करूण एवं वीर रस के रूप में की जा सकती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस-सिद्धान्त के विकास के लिए अनेक नूतन एवं महत्त्वपूर्ण संकेत दिए हैं - यह दूसरी बात है कि दुर्भाग्य से अकाल-मृत्यु के कारण वे स्वयं इन संकेतों के अनुसार रस सिद्धान्त को पल्लवित करने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाये। काव्य-सिद्धान्तों में से रस-सिद्धान्त को ही आधुनिक युग में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई।

रस का अर्थ आनन्द किया गया है - ऐसी स्थिति में रस-सिद्धान्त पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि यह सिद्धान्त जीवन की विषमताओं, कटुताओं एवं कष्टपूर्ण स्थितियों को लोकमंगल के स्थान पर लोक-रंजन की ओर अग्रसर करता है। आचार्य शुक्ल ने अपने लेख-'लोकमंगल' की साधनावस्था एवं सिद्धावस्था में प्रतिपादित किया है कि रसानुभूति का आधार मूल भाव की व्यापकता में निहित है तथा जो मूलभाव जितने बड़े व्यापक लोकहित पर आधारित है वह उतना ही अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। कटु भावों पर आधारित काव्य आनन्द की साधनावस्था की श्रेणी में आता है तथा ऐसा काव्य आनन्द की सिद्धावस्था से भी अधिक मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकता है। यदि उनके मूल में निहित स्थायी भाव अत्यधिक व्यापक हो।

वस्तुत: इस स्थापना के द्वारा उन्होंने रस-सिद्धान्त को लोक-मंगल एवं लोकहित की भावना से समन्वित करने का यत्न किया है। आचार्य शुक्ल काव्य में लोकमंगल के साधक तत्त्वों का पर्याप्त महत्त्व मानते थे। इसलिए उन्होंने रस-सिद्धान्त की लोक-मंगलवादी व्याख्या प्रस्तुत की। अस्तु, शुक्ल ने परम्परागत रस-सिद्धान्त के महत्त्व की पुनर्प्रतिष्ठा करते हुए उसे अपनी धारणाओं के अनुसार पुष्ट एवं विकसित करने का सफल प्रयास किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में अपभ्रंश व्युत्पत्ति और रस सैद्धान्तिक अध्ययन को नयी गति एवं नयी दिशा प्राप्त हुई है। आज इस बात की आवश्यकता है कि रस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जाए। जहाँ तक काव्य-रस का सम्बन्ध है, वह काव्य-सृजन से लेकर आस्वाद तक की पूर्ण प्रक्रिया के रूप में विकसित हुआ। रस-सिद्धान्त संग्रहालय में सुरक्षित कोई जड़ वस्तु नहीं बल्कि विकास की अमिट सम्भावनाओं से युक्त अनुभवसिद्ध जीवन्त विचार-प्रणाली है।

संदर्भ-सूची

1. उद्धृत डॉ. उदयनारायण तिवारी: हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ. 60
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 250
3. डॉ. जगदेव सिंह विद्यालंकार, हिन्दी काव्य शास्त्र की नूतन उपलब्धियाँ, पृ. 69
4. डॉ. कृष्णदेव झारी: काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ. 195
5. वही, पृ. 194
6. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ. 310
7. वही, पृ. 311
8. निर्मला जैन: रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 36
9. वही, पृ. 30

ISSN 2278 - 0327

आज के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शिक्षा का महत्त्व

डॉ. हृशीकेश दलाई
सहायक प्राध्यापक, शिक्षा विभाग
कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक

सारांश – 'पर्यावरण शिक्षा' अभी हाल ही का नया प्रत्यय है परन्तु इसकी जड़े अधिक प्राचीन है। ऋग्वेद चारों वेदो में अधिक प्राचीन है। इसमें पर्यावरण के घटकों, पशुओं, पक्षियों, पौधों, पृथ्वी तथा सूर्य को धर्म में सम्मिलित किया था और इनको पूजा में सम्मिलित किया था जिससे पर्यावरण संतुलन विकृत न हो सके और उसकी गुणवत्ता बनी रहे।

आज की परिस्थिति में मनुष्य और पर्यावरण एक दूसरे से सम्बन्धित माने जाते हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। मनुष्य तथा वातावरण में पारस्परिक निर्भरता भी है। मनुष्य के क्रिया–कलापों ने प्राकृतिक तथा सामाजिक पर्यावरण को बाधित किया है जैसे कि पानी पीने योग्य नहीं रहा, वायु श्वास लेने योग्य नहीं रही, परिणाम यह हो रहा है कि प्राकृतिक पर्यावरण कष्टदायक तथा दु:खदायी हो गया है। वायु, प्रकाश तथा धूल का मनुष्य जीवन पर विपरीत प्रभाव हो रहा है। अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैल रही है। इन सभी समस्याओं तथा कष्टों का कारण पर्यावरण में असन्तुलन तथा प्रदूषित होना है। पर्यावरण शिक्षा ही एक ऐसा अभिक्रम तथा प्रक्रिया है जो पर्यावरण प्रदूषण को रोक सकता है तथा पर्यावरण में संतुलन तथा गुणवत्ता बनाये रख सकता है इसलिए आज की तत्काल आवश्यकता है कि 'पयावरण शिक्षा' के क्षेत्र को विकसित किया जाये और इसे एक स्वतन्त्र अनुशासन का स्तर दिया जाये।

प्रमुख शब्दावली– शिक्षा का क्षेत्र, पर्यावरण शिक्षा, पर्यावरण की गुणवत्ता, अवधारणाएँ।

प्रस्तावना – शिक्षा के अध्ययन विषय में 'पर्यावरण शिक्षा ' एक नया क्षेत्र है जिसकी प्रकृति अन्त: अनुशासन है। अध्यापकों, शिक्षकों, प्रशिक्षकों तथा छात्रों के लिए 'पर्यावरण शिक्षा' नया विकसित क्षेत्र है। पर्यावरण विश्व का सम्पूर्ण पक्ष प्रदर्शित करता है परन्तु इसके किसी विशिष्ट समय तथा स्थान पर जो गतिविधि होती है उससे सामाजिक तथा आर्थिक प्रणाली का बोध होता है। पर्यावरण की गुणवत्ता उसके भौतिक एवं जैविक पक्षों की मौलिकता पर निर्भर होती है। भौतिक एवं जैविक पक्ष सामाजिक तथा आर्थिक विकास को प्रभावित करते है तथा कभी–कभी विपरीत प्रभाव भी होता है।

शिक्षा का अध्ययन क्षेत्र विकास है, जिसका सम्बन्ध विकास की प्रक्रिया से है, जिसमें शिक्षण अनुदेशन तथा प्रशिक्षण की प्रक्रियाएँ प्रमुख हैं। शिक्षा का लक्ष्य शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भावात्मक पक्षों का विकास करना है। शिक्षक का कार्य अध्यापन करना तथा सीखने हेतु कक्षा तथा विद्यालय में समुचित वातावरण निर्माण करना है, जिससे छात्रों में अपेक्षित व्यवहार परिवर्तन किया जा सके। छात्र विद्यालय में भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से अनुभव करता है तथा कक्षा में सामाजिक तथा भावात्मक वातावरण से अनुभव करता है जिससे उसके व्यवहार में परिवर्तन आता है।

छात्रों के विकास की दृष्टि से वातावरण तथा वंशानुक्रम दोनों का अपना अपना महत्त्व है। शिक्षक वंशानुक्रम में कुछ भी नहीं कर सकता परन्तु वातावरण का स्वरूप शिक्षक की कार्य कुशलता तथा प्रभावशीलता पर निर्भर करता है। इसलिए शिक्षा के अन्तर्गत नया क्षेत्र पर्यावरण शिक्षा का विकास हुआ है।

पर्यावरण तथा शिक्षा का सम्बन्ध

(Relationship between Environment and Education)

पर्यावरण में वातावरण की गुणवत्ता तथा शिक्षा में व्यक्ति की गुणवत्ता को प्राथमिकता दी जाती है। शिक्षा को विकास की प्रक्रिया कहते हैं तथा पर्यावरण में आन्तरिक तथा बाह्य सम्पूर्ण परिस्थितियों को सम्मलित किया जाता है। मनुष्य तथा अन्य जीवों की अभिवृद्धि तथा विकास को प्रभावित करती है। प्रत्येक जीव तथा प्राणी का अपना पर्यावरण होता है। मनुष्य का वातावरण भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक होता है। शिक्षा द्वारा इनकी गुणवत्ता में परिर्वतन तथा सुधार भी किया जाता है, जिससे बालकों के व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सके। मनुष्य तथा बालकों के व्यवहार परिवर्तन में वातावरण का विशेष महत्त्व है। वैसे तो

पर्यावरण शिक्षा की जड़े प्राचीन काल से ही मानी जाती है। प्राचीन काल से ही, गुरुकुलों, आश्रमों में प्राकृतिक जगत की सुरक्षा संबधी विषय गुरु द्वारा सिखाए जाते थे। पौराणिक कथाओं में भी नैतिक शिक्षा के साथ-साथ पर्यावरण शिक्षा का उल्लेख है। अर्थात प्राचीन काल से ही बालकों को सामाजिक, आर्थिक व पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान की शिक्षा दी जाती रही है।

पर्यावरण शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषाएँ

(Meaning and Defination of Environmental Education)

'पर्यावरण शिक्षा' वस्तुत: विश्व समुदाय को पर्यावरण संबंधी दी जाने वाली वह शिक्षा है जिससे हम उन समस्याओं से अवगत होकर उसका हल खोज सके तथा साथ ही भविष्य में आने वाली समस्याओं की रोकथाम कर सकें। 'पर्यावरण शिक्षा' दायित्वों को जानने एवं विचारों को स्पष्ट करने की वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य अपनी संस्कृति तथा जैविक तथा भौतिक परिवेश के बीच स्वयं की संबंधता को पहचानने और समझने के लिए आवश्यक कौशल और अभिवृत्ति का विकास कर सके।

परिभाषाएँ

1) 'पर्यावरण शिक्षा' के अन्तर्गत जीवन पर्यन्त चलने वाली व्यापक शिक्षा सम्मिलित करते हैं जो परिवर्तनशील संसार के प्रति अनुक्रिया करता है। इसके द्वारा व्यक्तियों को प्रशिक्षित कर के तैयार किया जाता है। जिससे पर्यावरण सम्बन्धी, भौतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं को पर्यावरण शिक्षा समझ सके।

2) ''पर्यावरण शिक्षा' अर्थात् अधिगम की वह प्रक्रिया जो पर्यावरण से जुड़ी चुनौतियों से जुड़ी जानकारी एवं जागरुकता को बढ़ावा दे सके और साथ ही उसका सामना करने के लिए आवश्यक कुशलताओं को विकासित करने में सहायक हो।''

3) ''पर्यावरण शिक्षा' का प्रमुख प्रयोजन नागरिकों के अपने उत्तरदायित्वों में पर्यावरण की सुरक्षा एवं प्रबंध के बारे में जागृति निर्माण करना।

पर्यावरण शिक्षा की विशेषताएँ

(Characteristic of Environmental Education)

वास्तव में पर्यावरण शिक्षा का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो विश्व समुदाय को पर्यावरण की समस्याओं के सम्बन्ध में सचेतन करता है। उसकी समस्याओं को समझकर उनका समाधान खोज सके तथा भावी समस्याओं को भी रोक सके, पर्यावरण शिक्षा प्राणियों को वर्तमान समस्याओं से बचाये रखने तथा भविष्य में सुरक्षित रहने की जागरुकता का प्रशिक्षण देता है।

कुक तथा हैरन (1971) ने पर्यावरण शिक्षा की अधोलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है

1) ''पर्यावरण शिक्षा' समस्या केंद्रित होती है।

2) पर्यावरण शिक्षा अन्त: अनुशासन आयाम पर आधारित है।

3) पर्यावरण शिक्षा से मूल्यों का अभिविन्यास किया जाता है।

4) पर्यावरण शिक्षा से समुदाय का भी अभिविन्यास किया जाता है।

5) पर्यावरण शिक्षा भविष्य की ओर उन्मुख होती है तथा छात्रों के स्वोपक्रम, कौशल तथा क्रियाओं को सम्मलित किया जाता है,

6) इसमें शिक्षा के विभिन्न आयामों, विधियों, प्रविधियों को प्रयुक्त किया जाता है। वास्तविक समस्या के कारण प्रभाव को पहचानना एवं औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा द्वारा समस्याओं का समाधान करना जिससे मनुष्य में गुणवत्ता लाई जा सके। इन विशेषताओं से पर्यावरण अध्ययन एवं पर्यावरण शिक्षा में अंतर साफ नजर आता है। पर्यावरण अध्ययन में प्राकृतिक, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान को सम्मलित किया जाता है। पर्यावरण अध्ययन पर्यावरण शिक्षा का एक पक्ष है जो पर्यावरण की जानकारी तथा जागरुकता तक ही सीमित है। परन्तु पर्यावरण शिक्षा सर्जनात्मक कौशल का विकास करता है, पर्यावरण अभिवृत्तियों तथा मूल्यों का विकास करता है साथ ही प्रयोगात्मक एवं व्यावसारिक कार्यों हेतु प्रशिक्षण भी देता है, जिससे स्वस्थ जीवन का आधार बनाया जा सके। यही पर्यावरण शिक्षा का मूल आधार तथा उद्देश्य है।

पर्यावरण शिक्षा के उद्देश्य

(Objectives Environmental Education)

देश में सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएँ हैं जो पर्यावरण सचेतना को जागृत कर रही है। सन् 1982 में पर्यावरण विभाग की स्थापना हुई अलग से पर्यावरण मन्त्रालय खोला गया। अहमदाबाद में पर्यावरण शिक्षा केन्द्र स्थापित किया गया लगभग दो सौ से अधिक गैर सरकारी संस्थाये पर्यावरण शिक्षा दे रही हैं। यूनेस्को के अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन तिबल्सी (1977) में पर्यावरण शिक्षा के उद्देश्यों को प्रतिपादित किया गया जिसमें सभी स्तरों तथा औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के उद्देश्यों का विशिष्टीकरण भी किया गया है।

1) पर्यावरण की जागरुकता का विकास करना तथा पर्यावरण की समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता विकसित करना।

2) पर्यावरण के घटकों एवं समस्याओं के सम्बन्ध में ज्ञान तथा अनुभव प्रदान करना।

3) पर्यावरण की समस्याओं के स्वरूप, प्रक्रियाओं का बोध कराना

तथा पर्यावरण के घटकों का पारस्परिक निर्भरता का बोध कराना।
4) पर्यावरण की समस्याओं के समाधान हेतु अपेक्षित कौशल तथा कार्यक्षमताओं का विकास करना।
5) पर्यावरण के सम्बन्ध में भावना, अभिवृत्तियों तथा मूल्यों का विकास करना तथा सक्रिय सहभाग लेने हेतू अभिप्रेरित करना जिससे पर्यावरण का संरक्षण एवं संवर्धन हो सके।
6) छात्रों को व्यावहारिक कार्यों हेतु अवसर प्रदान करना। सभी स्तरों पर सक्रिय भागीदारी को बढ़ावा देना जिससे पर्यावरणीय समास्याओं का समाधान किया जा सके।
7) शिक्षा की योजनाओं तथा कार्यक्रमों के मूल्यांकन की योग्यता का विकास करना।

पर्यावरण शिक्षा के उद्देश्यों में सचेतना, जागरूकता, कार्य कुशलता, व्यावहारिकता मूल्यों तथा अभिवृत्तियों का विकास करना है। इसमें ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तीनों प्रकार के उद्देश्यों को महत्त्व दिया है।

पर्यावरण शिक्षा की अवधारणाएँ

(Assumptions Environmental Education)

पर्यावरण शिक्षा का प्रत्यय तथा प्रक्रिया अधोलिखित अवधारणाओं पर आधारित है-

1) पर्यावरण का भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनावैज्ञानिक आर्थिक तथा राजनैतिक रूप में विचार किया जाता है।
2) पर्यावरण शिक्षा निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक शिक्षा दिया जाता है।
3) पर्यावरण शिक्षा का प्रत्यय अन्त: अनुशासन आयाम पर आधारित है।
4) पर्यावरण की समस्याओं का आकलन क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा स्थानीय दृष्टि से किया जाता है।
5) छात्रों में ऐसी योग्यता का विकास किया जाए जिससे शिक्षा योजनाओं की प्रभावशीलता का आकलन किया जा सके।
6) शैक्षिक पर्यटन का आयोजन करना चाहिए जिससे छात्रों को वास्तविक परिस्थितियों के अवलोकन का अवसर मिल सके।

पर्यावरण शिक्षा का पाठ्यक्रम

(Curriculum of Environmental Education)

पर्यावरण शिक्षा के पाठ्यक्रम पर शिक्षाविद् एकमत नहीं हैं, किन्तु अब तक देश-विदेश में इसके जो सामान्य पाठ्यक्रम तैयार किए गए, उनमें निम्नलिखित मुख्य बिन्दु हैं-

1) प्राकृतिक सम्पदा और प्राकृतिक पर्यावरण की जानकारी एवं मानव जीवन में प्राकृतिक सम्पदा और शुद्ध प्राकृतिक पर्यावरण की उपयोगिता।

2) प्राकृतिक पर्यावरण के प्रदूषित होने के दुष्परिणाम की जानकारी।
क) शुद्ध पेयजल और शुद्ध वायु की कमी।
ख) शुद्ध खाद्य पदार्थों के उत्पादन में बाधा ।
ग) उचित पोषण और स्वास्थ्य विकास में बाधा।
3) प्राकृतिक सम्पदा के दोहन के कारणों की जानकारी।
क) वैज्ञानिक आविष्कार
ख) बढ़ती हुई भौतिक आवश्यकताएँ तथा उनका अनावश्यक प्रयोग
ग) बढ़ती हुई जनसंख्या
4) प्राकृतिक पर्यावरण के प्रदूषित होने के कारणों की जानकारी।
क) वनों का काटना।
ख) औद्योगिकरण
ग) तेल से चलने वाले वाहनों की संख्या का बढ़ना।
घ) रासायनिक पदार्थों का प्रयोग।
च) बढ़ती हुई जनसंख्या के दुष्परिणाम
5) प्राकृतिक सम्पदा के संरक्षण के उपायों की जानकारी
क) वनों में जितने पेड़ काटे जाएँ, वहाँ उससे अधिक पेड़ लगाए जाए।
ख) खनिजों का प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग से किया जाए।
ग) ईधन खनिजों का कार्य सूर्य ऊर्जा से लिया जाए।
च) वर्षा के पानी को बौद्यों, झीलों और तालाबों में संग्रहित किया जाए।
छ) जल का दुरुपयोग न किया जाए।
6) प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूशित होने से बचाने के उपायों की जानकारी।
क) वनों को न काटा जाए एवं वृक्षारोपण किया जाए।
ख) उद्योगों से निकलने वाले धुएँ और विषैली गैसों को वैज्ञानिक विधियों से कम किया जाए उन्हें अप्रभावी कर वायु को प्रदूषित होने से बचाया जाए।
ग) उद्योगों से निकलने वाले जहरीले पदार्थों, ग्राम व नगरों के गन्दे पानी और कचरे तथा मरे हुए जीव जन्तुओं को नदियों में न बहाया जाए और जल प्रदूषण को रोका जाए।
घ) तेल से चलने वाले वाहनों को प्रदूषण मुक्त किया जाए और वायु प्रदूषण की रोकथाम करना चाहिए।
च) जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण किया जाए।

इत्यादि महत्त्वपूर्ण जानकारी पाठ्यक्रम के द्वारा प्राप्त करवाई जाती है।

आज के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शिक्षा का महत्त्व एवं आवश्यकता

आज विज्ञान के बढ़ते हुए चरण, औद्योगिक और बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण पूर्ण संसार भर में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हो रहा है, परिस्थिति का असन्तुलन बढ़ रहा है और प्राकृतिक

प्रदूषण भी बढ़ रहा है उसकी रोकथाम के लिए जहाँ एक ओर सरकारी नियम एवं कानून बनाए जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर लोगों को इसके प्रति जागरुक करने के लिए पर्यावरण शिक्षा का सहारा लिया जा रहा है। सच बात तो यह है कि सारे कार्य सरकारी नियम और कानूनों से सम्भव नहीं होते, उसके लिए जनजागरण भी जरुरी होता है। और इस कार्य में शिक्षा एक अहम् भूमिका निभाती है। आज के परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में पर्यावरणीय शिक्षा का महत्त्व एवं आवश्यकता बढ़ गयी है।

1) प्राकृतिक सम्पदा के संरक्षण के लिए- हम देख रहे हैं कि मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राकृतिक सम्पदा तथा जैवविविधता का बड़ी तेजी से दोहन कर रहा है, यह स्थिति और कुछ दिनों तक बरकरार रही तो हमारी भावी पीढ़ी के लिए कुछ भी प्राकृतिक सम्पदा शेष नहीं रहेगी। मनुष्यों को प्राकृतिक सम्पदा के सीमित प्रयोग की ओर अग्रसर करने और उसे भावी पीढ़ियों के लिए बचाये रखने के लिए जनजागृति निर्माण करने के लिए पर्यावरण शिक्षा का बड़ा महत्त्व है।

2) प्रकृति प्रदूषण की रोकथाम के लिए -आधुनिकता से भरे इस युग में औद्योगिक संस्थानों को चलाने के लिए आज संसार में वनों को काटा जा रहा है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारणवश गन्दगी फैलाने आदि कारणों से हमारा प्राकृतिक पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। प्राकृतिक पर्यावरण के घटक जल, वायु, ध्वनि, भूमि आदि प्रदूषित हो रहे हैं इन सब के प्रदूषण की रोकथाम के लिए पर्यावरण शिक्षा जन-जन तक पहुँचाना जरुरी है।

3) बच्चों के उचित पोषण और स्वास्थ्य विकास के लिए- मनुष्य को जीने के लिए शुद्ध हवा, पानी, प्रकाश और खाद्यान्न की आवश्यकता होती है, यह सब तभी संभव है जब हम हमारे प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण एवं सेवन वैज्ञानिक विधि से करें, क्योंकि हमारे भावी पीढ़ी के बच्चों के लिए पोषण और स्वास्थ विकास के लिए स्वस्थ पर्यावरण का होना महत्त्वपूर्ण है। इस कारणवश आज पर्यावरण शिक्षा का महत्त्व है।

4) जन-कल्याण और आर्थिक प्रणाली की रक्षा के लिए- आज अधिकतर मनुष्य केवल अपने स्वार्थ के बारे में ही सोचता है, जनहित और जन-कल्याण की नहीं। अपने स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण वह अपना तथा अपने परिवार का अहित करता है। प्राकृतिक सम्पदा का दोहन करते समय अपनी स्वार्थ की भावना को प्रकट करता है इसलिए वे नहीं सोच पाते कि उनके कारण प्राकृतिक संसाधन कम हो रहे हैं, जिससे आगे चलकर अर्थव्यवस्था के ऊपर उसका प्रभाव पड़ेगा। तब कहना न होगा कि जनकल्याण और आर्थिक प्रणाली को लम्बे समय तक बनाए रखने के लिए पर्यावरण शिक्षा का बड़ा महत्त्व है।

5) औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के फलस्वरूप सुख-सुविधाओं के उपकरणों के चारों और विविध प्रकार का प्रदूषण फैलाया है। उसे नियंत्रित करना तथा बचाव के उपाय सुझाने हेतु कायक्रम चलाने के लिए पर्यावरण शिक्षा का महत्त्व है।

निष्कर्ष :-

1) पर्यावरण शिक्षा के द्वारा पर्यावरण एवं मनुष्य के बीच के सहसंबंधों की जानकारी प्राप्त होती है।

2) पर्यावरण शिक्षा से शिक्षा तथा पर्यावरण के सहसंबंध को दृढ़ करने का विकल्प प्राप्त होता है।

3) पर्यावरण शिक्षा अधिगम की वह प्रक्रिया है जो पर्यावरण से जुड़ी चुनौतियों के बारे में जागरुकता निर्माण करती है।

4) पर्यावरण शिक्षा अन्त: अनुशासन आयाम पर आधारित है।

5) पर्यावरण शिक्षा प्राणियों को वर्तमान समस्याओं से बचाये रखने तथा भविष्य में सुरक्षित रहने की जागरुकता का प्रशिक्षण देती है।

6) पर्यावरण शिक्षा पर्यावरण की समस्याओं के समाधान हेतु अपेक्षित कौशल तथा कार्य क्षमताओं का विकास करती है।

7) पर्यावरण शिक्षा औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही प्रकार से पूर्ण होती है।

8) पर्यावरण की समस्याओं का आकलन क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा स्थानीय दृष्टि से किया जाता है।

संदर्भ :-

1) आर. ए. शर्मा, 'पर्यावरण शिक्षा', आर. लाल बुक डिपो, मेरठ
2) कित्ता पृष्ठ क्र. 14
3) कित्ता पृष्ठ क्र. 19
4) कित्ता पृष्ठ क्र. 22-23
5) कित्ता पृष्ठ क्र. 35-36
6) कित्ता पृष्ठ क्र. 327
7) डॉ. रमेश चंद कवर, स्वास्थ शिक्षा एवं पर्यावरणीय अध्ययन, अमित ब्रदर्स पब्लिकेशन, नागपूर
8) विज्ञान कक्षा 10, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, अजमेर 2016
9) इंटरनेट से प्राप्त जानकारी

- www.studyboosting.com
- www.sarkariguider.com
- Yashraj online Education Blog by Alok Verma
- https//him.wikipidia.org
- www.essayinhindi.com

ISSN 2278 - 0327

महाभारत में संगीत-विद्या के तत्त्वों की गवेषणा

डॉ. रश्मि यादव
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संस्कृत)
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
शानपुर-भदोडी, उ.प्र.

महाभारत प्राचीन भारतीय संस्कृति, धर्म, राजनीति, तत्वज्ञान तथा उपाख्यानों का आधार ग्रन्थ है। भारतीय जीवन-धारा का प्रत्येक अंग इसमें यथार्थ रूप में वर्णित है। महाभारत एक कालजयी ग्रन्थ है। इसका वर्तमान स्वरूप जो सम्प्राप्त है यह कई सतियों में परिवर्द्धित हुआ। जैसे-जैसे भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा विकसित एवं परिपक्व होती गयी वैसे-वैसे महाभारत में इन्हें संग्रहीत किया गया। इस महाकाव्य में संकीर्ण विचारधारा को प्रश्रय न देकर व्यापक एवं बहु-आयामी विचारधाराओं का पोषण हुआ है। इस ग्रन्थ में भारतीय सामाजिक व्यवस्था की सभी आधारभूत संस्थाएँ तथा संस्कृति के समस्त तत्त्व निरूपित किये गये हैं। यह जीवन-दर्शन का तर्पण है जिसमें समस्त मानवीय पक्ष प्रतिबिम्बित हुए हैं। उन्हीं में से एक महत्वपूर्ण पक्ष है 'कला'। इस महाकाव्य में गान्धर्व कला के तत्वों के मूल स्वरूप का अन्वेषण किया जा सकता है।

महाभारत में 'गान्धर्व' शब्द सङ्गीत विद्या के तत्त्वों में प्रयुक्त हुआ है गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों कलात्मक अभिव्यक्तियों के समष्टि रूप को गन्धर्व के नाम से अभिहित किया जाता है। 'आदिपर्व' में गन्धर्व कला के उद्भव तथा इसके प्रवर्तक आचार्यों के विषय में सूचना दी गई है। भारतीय परम्परा में गान्धर्व कला के प्रथम आचार्य 'गन्धर्व' स्वीकार किये जाते हैं। महाभारत में गन्धर्व को कपिला को सन्तान कहा गया है।[1] नारद को देव गन्धर्व जाति का सोलहवाँ पुत्र कहा गया है।[2] अतिबाहु, हाहा हूहू तथा तुम्बुरु इन चारों को श्रेष्ठ गन्धर्व की श्रेणी में वर्गीकृत किया गया है।[3] महाभारत के अनुसार नारद गान्धर्व विद्या के तीनों अङ्गों नृत्य, गीत और वादन में कुशल थे।[4] उन्हें 'कच्छपी' नामक वीणा अत्यन्त प्रिय थी।[5]

महाभारत युगीन समाज में गान्धर्व कला पर्याप्त लोकप्रिय तथा उन्नतावस्था में थी। तात्कालिक समाज आज की अपेक्षा गान्धर्व कला को अधिक सम्मान देता हुआ दृष्टिगत होता है। कला एक पवित्र और स्वतंत्र क्षेत्र माना जाता था जिसमें लिङ्ग या वर्ण के आधार पर कोई विभेद नहीं था। उस युग में उच्चवर्गीय स्त्रियों के साथ ही पुरुष भी नृत्य-गायन एवं पादन में अभिरुचि रखते थे। महाभारत के प्रधान पात्र एवं साक्षात् परमेश्वर के रूप में वर्णित श्रीकृष्ण स्वयं छालित्य नृत्य तथा वेणुवादन में पारङ्गत थे। उन्हें गान्धर्व कला का अधिष्ठाता माना जाता है। श्रीकृष्ण के समान ही पाण्डुपुत्र-अर्जुन भी कुशल संगीतज्ञ थे। उन्होंने देवराज इन्द्र के आदेश पर गीत, वाद्य एवं नृत्य की शिक्षा गन्धर्व चित्रसेन से प्राप्त की थी।[6] अर्जुन जब एक वर्ष के अज्ञातवास में राजा विराट के महल में छद्मवेष में निवास कर रहे थे तब उन्होंने स्वयं राजा विराट को अपना परिचय इस प्रकार दिया- 'हे राजन्! मैं गायन, वादन और नृत्य करता हूँ नृत्य कला एवं सङ्गीत कला में कुशल मुझे आप राजकुमारी उत्तरा को नृत्य की शिक्षा देने के लिए नियुक्त कर लो।'[7] तत्पश्चात् विराट द्वारा नियुक्त किये जाने पर अर्जुन उत्तरा, उसकी सखियों और सेविकाओं को गीत, वाद्य एवं नृत्यकला की शिक्षा प्रदान करते हैं।[8] विराट पर्व के उद्धरणों से स्पष्ट है कि अर्जुन जैसा धनुर्धर न केवल गान्धर्वकला में रूचि रखता था अपितु उस कला का विशेषज्ञ आचार्य भी था। महाभारत से शुक्राचार्य के शिष्य तथा बृहस्पति के पुत्र कच के भी कुशल संज्ञीतज्ञ होने की पुष्टि होती है। तात्कालिक समाज में संगीत विशेषज्ञता पुरुषों को स्त्रियों के आकर्षण का पात्र बना देती थी। कच के गायन, नृत्य और वादन से प्रसन्न होकर[9] शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी स्वयं भी गीत गाने लगती थी।[10] इससे द्योतित होता है कि गान्धर्वकला उच्चवर्गीय पुरुष समाज में समादृत थी।

महाभारतीयुगीन स्त्रियों में गान्धर्व कला के प्रति विशेष आकर्षण दिखायी देता है। उत्तरा और देवयानी जैसी राजकन्याएँ संगीत विद्या की विशेषज्ञा थीं। ययाति की कन्या माधवी को

'बहुगन्धर्व दर्शना'[11] कहा गया है इस प्रसङ्ग में अप्सराओं का उल्लेख विचारणीय है। इन्द्र की सभा में घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनि, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, सहा और मधुस्वरा- जैसी सहस्त्रों अप्सराएँ नृत्य करके देवताओं का मनोरंजन करती थीं।[12] अप्सराओं के दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि आज के समान ही महाभारत काल में भी समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जिसके लिए गान्धर्व कला व्यवसाय के रूप में जीविकोपार्जन का साधन बन गयी थी।

महाभारत काल में गान्धर्व कला का प्रदर्शन विभिन्न अवसरों पर किया जाता था। राजाओं की सभा में, यज्ञानुष्ठान के अवसर पर, युद्धभूमि में तथा विवाहादि माङ्गलिक उत्सवों में इन कलाओं की प्रस्तुति की जाती थी। द्रौपदी की स्वयंवर सभा में अनेक नट और नर्तक द्वारा नाट्यकला के अभिनय से सभा की शोभा बढ़ाने का वर्णन प्राप्त होता है।[13] वह स्वयंवर सभा दुन्दुभियों, बाँसुरी, वीणा तथा ढोल को ध्वनि से गुंजायमान थी।[14] रैवतक पर्वत के महोत्सव में गान्धर्व कला के तीनों तत्त्वों-गायन, वादन एवं नृत्य का आयोजन किया गया था।[15] राजमहलों में मनोरंजन के लिए संगीत का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था। राजागण शयनगृह में स्त्रियों द्वारा गाये गये अपने सुयश गान को सुनते हुए सोते थे तथा प्रात: काल बन्दीजनों के द्वारा की गयी स्तुति को सुनते हुए निद्रा त्यागते थे।[16] शान्तिपर्व में वर्णन है कि श्रीकृष्ण के प्रात: जगने पर सर्वप्रथम उनकी स्तुति का गान किया जाता था (शान्ति पर्व 53.3)। तत्पश्चात् गायक गीत गाने लगते थे और सहस्त्रों मनुष्य शंख एवं मृदंग बजाने लगते थे (शान्ति पर्व 53.4)। वीणा, पणव एवं वेणु (बाँसुरी) का मनोरम स्वर सुनायी देने लगता था (शान्ति पर्व 63.5) युधिष्ठिर के भवन में भी प्रात: काल मधुर एवं मङ्गलमयी वीणा तथा गीत-वाद्य की ध्वनि प्रकट होने लगती थी *(ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मंगलसंहिता:। उच्चेरुर्मधुरा वाचो गीतपादित्र नि: स्वना: ।।* (शान्ति पर्व 53.8)।

युद्धभूमि में वाद्य के उत्तम प्रबन्ध के अनेकश: प्रसङ्ग महाभारत में ग्रन्थित है। रणभूमि में वाद्ययन्त्रों का प्रयोग युद्ध उपकरण के रूप में किया जाता था जिसे 'रणवाद्य' कहा जा सकता है। इस दृष्टि से अन्य वाद्य यन्त्रों की अपेक्षा शंख की प्रधानता दिखायी देती है। कुरुक्षेत्र में युद्ध की घोषणा के लिए शंखध्वनि का प्रयोग किया गया।[17] शंख योद्धाओं को अतिप्रिय हुआ करते थे। भीष्म पर्व में अनेक योद्धाओं के शंखों का उल्लेख किया गया है। यथा- श्रीकृष्ण के शंख का नाम-पांचजन्य, धनञ्जय के शंख का नाम देवदत्त, भीम का शंख-पौण्ड्र, युधिष्ठिर का शंख-अनन्तविजय, नकुल का शंख-सुघोष, सहदेव का शंख-मणिपुष्पक इत्यादि।[18] राजा विराट, सात्यकि, द्रुपद, अभिमन्यु आदि वीरों का भी शंख से यथेष्ट लगाव था।[19] उच्च शंख ध्वनि स्वपक्षीय वीरों को उत्साहित करने के साथ ही विपक्षी योद्धाओं में भय का संचार करने में समर्थ मानी जाती थी। युद्ध में शंखध्वनि के प्रयोग का यही प्रयोजन रहा होगा। रणभूमि में शंख के अतिरिक्त अन्य रणवाद्यों का प्रयोग भी किया जाता था। कुरुक्षेत्र को युद्धभूमि प्रतिक्षण भेरी, पणव (ढोला), आनक (डंका), मृदङ्ग[20], पेशी, ककच नरसिंह[21], दुन्दुभी, पुष्कर[22], झर्झर[23], डिण्डिभ[24] जैसे वाद्ययंत्रों से गूंजती रहती थी। महाभारत में गम्भीर शंखध्वनि और ऊँची रणभेरी को भावी विजय का शुभ सूचक माना गया है।[25] युद्ध में विजयी होने पर हर्षोल्लास के लिए वाद्य का प्रयोग होता था। विराट के पुत्र उत्तर के द्वारा कोरवों को पराजित करके नगर में प्रवेश करने पर भेरी, तूर्य, शंख तथा पणव आदि मांगलिक वाद्यों के द्वारा उसका स्वागत किया गया था।[26]

महाभारत युग धर्म युग था। उस समय राजाओं के द्वारा यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के सम्पादन की गणना राजधर्म के अन्तर्गत किया जाता था। यज्ञ जैसे पवित्र कार्यों में भी संगीत का प्रबन्ध किया जाता था। यह गान्धर्व कला की श्रेष्ठ एवं उन्नतावस्था का प्रतीक है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित ब्राह्मणों के मनोरंजन के लिए नट-नर्तकों के अभिनय का प्रदर्शन किया गया था।[27] युधिष्ठिर के अश्वमेघ यज्ञ में नारद, तुम्बुरु, विश्वावसु चित्रसेनादि गान्धर्व विशारदों की मण्डली उपस्थित थी। इस अश्वमेघ यज्ञ में दिन में अनेक बार भोजन के पश्चात् दुन्दुभि बजाया जाता था। आश्वमेघिक पर्व में उल्लेख है कि प्रतिदिन ब्राह्मण के भोजन कर लेने पर वहाँ मेघ गर्जना के समान शब्द करने वाला दुन्दुभि बार-बार पीटा जाता था। इस प्रकार के डंके वहाँ दिन में कई बार पीटे जाते थे।[28] इससे ज्ञात होता है कि तात्कालिक युग में समयसूचक के रूप में डंके का प्रयोग किया जाता था।

राजाओं की सभा में संगीतज्ञों को विशेष आदर प्राप्त था। सभा में संगीतज्ञों को मंत्रियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया जाता था। सभापर्व में उद्धृत है कि युधिष्ठिर की सभा में मंत्रियों के साथ चित्रसेन आदि सत्ताईस गन्धर्व और अप्सराएं उपस्थित रहती थीं।[29]

राजा की सभा में गांधर्व विद्या के विशेषज्ञ को प्रधान संगीतज्ञ का स्थान मिलाता था। युधिष्ठिर की सभा में यह सम्मान मनस्वी किन्नर तुम्बुरु को प्राप्त था। जो न केवल गाने बजाने में

कुशल थे अपितु साम्य (संगीत में नृत्य, गीत और वाद्य की समता को साम्य या लय कहते है। अमरकोष- लाय: साम्यम्) और ताल (नृत्य एवं गीत में काल तथा क्रिया का परिमाण ताली बजाकर सूचित किया जाता है उसे ताल कहते है। अमरकोष- ताला: कालाक्रियामानाम्) के विशेषज्ञ तथा प्रमाण लय और स्थानों के जानकार भी थे। उन्हीं के निर्देशन में अन्य गन्धर्वजन दिव्य तान छेड़ते हुए गीत के द्वारा पाण्डवों तथा महर्षियों का मनोरंजन किया करते थे।[30]

संगीत मनुष्य के तुल्य ही देवताओं को भी अत्यंत प्रिय था। महाभारत में वर्णन है कि देवराज इन्द्र की नगरी अमरावतीपुरी तथा राजसभा संगीत के स्वर लहरी से आह्लादित रहती थी। अर्जुन अमरावती पुरी में प्रवेश करने पर दिव्य संगीत से गुंजायमान वन का दर्शन करते है।[31] वहाँ स्तुति के लिए गन्धर्व और अप्सराएं उपस्थित रहती थीं।[32] 'सुरवीथी' नामक विस्तृत नक्षत्रमार्ग शंख और दुन्दुभियों के गम्भीर नाद से गूँजता रहता था।[33] इन्द्र की नगरी में संगीतज्ञ विशेष सम्मान के पात्र समझे जाते थे। वहाँ तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू आदि गन्धर्व गणों को विश्वदेव इत्यादि देवताओं, ब्रह्मर्षिगण, राजर्षिगण एवं दिलीप आदि राजाओं के समकक्ष स्थान प्राप्त था।[34] इन्द्र की सभा के श्रेष्ठ संगीतज्ञ तुम्बुरु थे जो सामगान में निपुण थे।[35] इन्द्र की सभा में मनोरंजन के लिए मनोरम गीत एवं अप्सराओं के नृत्य की उत्तम व्यवस्था रहती थी।[36]

महाभारत में वाद्य-विद्या को देवविद्या एवं श्रेष्यस्करी कहा गया है। इन्द्र अर्जुन को बताते हैं कि वाद्यकला मनुष्यलोक में अब तक प्रचलित नहीं है। तुम देवताओं से इसका ज्ञान प्राप्त करो। यह विद्या तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगी।[37] तत्पश्चात् अर्जुन चित्रसेन से गीत, वाद्य एवं नृत्य की शिक्षा प्राप्त करते हैं।[38] महाभारत में उद्धृत इन प्रसंगों से अभिव्यंजित होता है कि तात्कालिक समाज संगीत प्रिय था। आधुनिक युग के समान ही महाभारतकाल में भी वाद्य कला हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम थी। विवाह इत्यादि माङ्गलिक कार्यों में वादन की विशेष व्यवस्था होती थी। अभिमन्यु तथा उत्तरा के विवाहोत्सव के अवसर पर मत्स्यनरेश विराट के महल में शंख, भेरी, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँति के वाद्ययंत्रों के बजने का वर्णन किया गया है।[39] इसी प्रकार युधिष्ठिर के अभिषेक के समय सैकड़ों मंगलकारी शंख एक साथ बजने लगे थे।[40] महाभारत में शंख रणवाद्य के साथ ही मांगलिक वाद्ययंत्र के रूप में भी प्रदर्शित किया गया है। राज्याभिषेक में समुद्रजल को शंख में लेकर अभिषेक किया जाता था।[41]

महाभारत में राजसभाओं, राजभवनों, यज्ञों, युद्धों तथा मांगलिक कृत्यों इत्यादि में संगीत के आयोजन में सम्बद्धित उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक युग में गान्धर्व कला व्यापक लोकप्रिय हो चुकी थी। तथापि यह ग्रंथ संगीत के प्रति आसक्ति का समर्थन नहीं करता है। शान्तिपर्व में स्पष्टत: निर्देश दिया गया है कि पान, द्युत, स्त्री, मृगया के समान ही संगीत का संयमपूर्वक सेवन करना चाहिए क्योंकि इनके प्रति आसक्ति अनिष्टकारी होती है।[42] नृत्य गीत एवं वाद्य को केवल गृहस्थाश्रम में उपभोग करने का निर्देश दिया गया है।[43]

वस्तुत: महाभारत में मानव चिन्तन का उच्चतम एवं श्रेष्ठतम स्तर द्रष्टव्य है। तात्कालिक समाज की अन्तर्दृष्टि संगीत की दिव्यानुभूति का साक्षात्कार करने में समर्थ हो चुकी थी। उन्हें यह भलीभांति ज्ञात था कि वास्तविक आनन्द या 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की अनुभूति का एक माध्यम संगीत भी हो सकता है। इसी कारण महाभारत में संगीत को दैवीय तत्व के रूप में निरूपित किया गया है। शान्तिपर्व में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद इन सात स्वरों को शब्द गुण का भेद स्वीकार करते हुए इन्हें आकाशजनित कहा गया है।[44] महाभारत में संगीत को व्यापक अर्थ में परिभाषित किया गया है। संगीत केवल, नृत्य, वाद्य एवं गीत ही नहीं है अपितु मृदंग, भेरी, शंख, मेघ तथा रथ की घर्घराहट आदि में जो कुछ शब्द सुना जाता है और जड़ या चेतन का जो भी कुछ शब्द श्रवणगोचर होता है, वे सब स्वर के षड्ज, ऋषभ इत्यादि इन सात भेदों के ही अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार अपने व्यापक रूप में शब्द या संगीत सर्वत्र विद्यमान है किन्तु वीणा-वेणु इत्यादि में इसकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती है। एतदर्थ कहा जा सकता है कि सृष्टि के प्रत्येक कण में विद्यमान संगीत की अनुभूति करने वाला महाभारत ग्रन्थ गान्धर्व कला की दृष्टि से एक कालजयी रचना है जो आज भी अध्येय एवं स्पृहणीय है।

सन्दर्भ सूची -

1. आदिपर्व 65.52
2. आदिपर्व 65.44 कलि: पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडश: ।
3. आदिपर्व 65.51 सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहू:। तुम्बुरुश्चेति चत्वार: स्मृता गन्धर्वसत्तमा: ।।
4. शल्यपर्व 54.20 - नृत्ये गीते च कुशलो।
5. शल्यपर्व 54.19- कच्छपी सुखशब्दां तां गृह्य वीणां मनोरमाम्।
6. वनपर्व 44.6-10 - नृत्यं गीतं च कैन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि। इत्यादि0

7. विराटपर्व 11.8
8. विराटपर्व 11.12-13-स शिक्षयामास च गीतवादितं सुता विराटस्य धनंजय: प्रभु:। सखीश्च तस्या: परिचारिकास्तथा प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डव: ।।
9. आदिपर्व 76.24- गायन् नृत्यन् वादयंश्य देवयानीमतोषयत।
10. आदिपर्व 76.26
11. उद्योगपर्व 116.3
12. वनपर्व 43.29-30
13. आदिपर्व 184.28- रत्नप्रदानबहुल: शोभितो नटनर्तकै: ।
14. आदिपर्व 186.14- महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च बभूव तत संकुलमन्तरिक्षम् ।
    विमानसम्बाधमभूत् समन्तात् सवेणुवीणापणवानुनादम् ।।
15. आदिपर्व 218.4- वादित्राणि च तत्रान्ये वादका: समवादयन्। ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायना: ।।
16. सभापर्व 58.36-37- उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवा।। जगाम तेषां सा रात्रि: पुण्या रतिविहारिणाम्। स्तूयमानाश्च विश्रान्ता: काले निद्रामथात्यजन् ।।
17. भीष्मपर्व 25.12ङ्क तस्य संजनयन् हर्ष कुरुवृद्ध: पितामह: । सिंहनादं विनद्योच्चै: शंखं दध्मौ प्रतापवान् ।।
18. भीष्मपर्व 25.15-16
19. भीष्मपर्व 25.17-18
20. 25.13, 24.6, 51.23, 58.46, 99.17-19
21. भीष्मपर्व 43.8
22. भीष्मपर्व 43.103
23. द्रोणपर्व 39.31-अथ पणवमृदङ्गदुन्दुभीनां क्रकचमहानक-भेरिझर्झराणाम् ।
24. कर्णपर्व 11.36- तत: शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक दुन्दुभि: । डिण्डिमाश्चाप्यहन्यन्त झर्झराश्च समन्तत:।
25. शान्तिपर्व 102.9- गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च शंखाश्चभेर्यश्च नदन्ति यत्र।
    युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहु:।।
26. विराटपर्व 68.27-28- भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च.....। तुर्यवाद्या: पणवास्तुर्यवाद्या: ।
27. सभापर्व 33.49ङ्क कथयन्त: कथा बह्वी: पश्यन्तो नटनर्तकान्।
28. आश्वमेधिकपर्व 85.37- दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताडयत्। विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते ।।
29. सभापर्व 4.37- चित्रसेन: सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
30. सभापर्व 4.38
31. वनपर्व 43.7- स तद् दिव्यं वनं पश्यन् दिव्य गीतनिनादितम्।
32. वनपर्व 43.9- संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिनश्च पाण्डव: ।
33. वनपर्व 43.11-12
34. वनपर्व 43.13-14
35. वनपर्व 43.28- गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठा: कुशला गीतसामसु ।
36. वनपर्व 46.27-28
37. वनपर्व 44.7- वादित्रं देवविहितं नृलोके यत्र विद्यते। तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेया वै त भविष्यति।
38. वनपर्व 8.11
39. विराटपर्व 72.27- तत: शंखाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा।
40. सभापर्व 53.17-तत्र स्म दध्मु: शतश: शंखान् मङ्गलकारकान्।
41. सभापर्व 53.15
42. शान्तिपर्व 140.26- पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम्। एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ।
43. शान्तिपर्व 191.16
44. शान्तिपर्व 184, 39-40-
    षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
    पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान् ।।
    एष सप्तविध: प्रोक्तो गुण आकाशसम्भव: ।

ISSN 2278 - 0327

शान्तामङ्गल नाटक में स्त्री पात्र

डॉ. मनोज कुमार
Near Elecricity Board,
V.P.O. Sataun, Tehsil- Paonta Sahib,
District- Sirmour, Himachal Pradesh - 173029

नाटक में पात्रों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पात्र ही नाटक को रोचक अथवा अरोचक रूप प्रदान करते हैं। पात्रों की भाव-भङ्गिमा ही दर्शकों को आकर्षित एवं आह्लादित करने का कार्य करती हैं। अतएव पात्र नाटक के पोषक तत्व होते हैं, जिसके इर्द-गिर्द वस्तु और रस रहते हैं।

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।[1]

पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य उनके क्रियाव्यापार पर निर्भर रहता है। क्रिया व्यापार का निर्धारण कथावस्तु के माध्यम से होता है। पात्रों का मुख्य एवं गौण भाव रस का स्वरूप प्रकट करता है। सभी नाटकों में प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व में भिन्नता प्रदर्शित होती है, जो विषय के आधार पर भिन्न-भिन्न स्वरूप का प्रतिपादन करती है। नाटककार यथार्थ एवं अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से प्रत्येक पात्र को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक तीनों लोकों के भावों का वर्णन करता है। इस प्रकार नाटक तीनों लोक में अवस्थित सभी वस्तुओं एवं प्राणियों के अनुकरण को उपस्थापित करता है। नाटक में पात्रों के द्वारा अभिनय के माध्यम से मानवों के भावों का प्रदर्शन किया जाता है।

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।[2]
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम्।।[3]
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यभित्यभिधीयते।।[4]

भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में प्रमुख पात्रों की रक्षा के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं का निर्धारण किया गया है, जैसे-नायक की रक्षा के लिए इन्द्र, नायिका की रक्षा के लिए सरस्वती, विदूषक की रक्षा के लिए ओङ्कार तथा शेष पात्रों की रक्षा के लिए शिव का निर्धारण किया है।

नायकं रक्षतीन्द्रस्तु नायिकां च सरस्वती।।
विदूषकमथौङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः।।[5]

नाटक का प्रमुख पात्र नायक होता है, जो नाटक का केन्द्र बिन्दु होता है। नायक ही नाटक के अनेक प्रसङ्गों को लक्ष्य तक पहुँचाता है। दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने नायक के लिए 'अधिकारी' शब्द का प्रयोग किया है। धनञ्जय के अनुसार जो फल का स्वामी होता है वही अधिकारी है और वह नायक ही होता है।

नाटक में पुरूष पात्रों के साथ-साथ स्त्री पात्रों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्त्री पात्र नाटक की नीरसता को सरसता में परिवर्तित करने का कार्य करती हैं। नाटक में स्त्री पात्रों में सर्वप्रमुख स्थान नायिका का होता है, जो नायक की प्रेमिका अथवा भार्या होती है।

श्रीरामेश्वर दयालु विरचित शान्तामङ्गल नाटक की नायिका राजा रोमपाद की पत्नी 'पृश्नि' है। पृश्नि के अतिरिक्त नाटक में राजा रोमपाद की दत्तक पुत्री शान्ता और वेश्याओं आदि स्त्री पात्रों का वर्णन है। सर्वप्रथम नाटक की नायिका पृश्नि के चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालते हैं -

पृश्नि :- यह नाटक के नायक रोमपाद की भार्या है तथा नाटक की नायिका है। यह शान्तस्वभावयुक्त स्त्री है। संपूर्ण नाटक में पृश्नि कहीं पर भी क्रोधित नहीं दिखाई देती। यह गंभीर स्वभाव को धारण किये हुए अपनी इन्द्रियों पर संयम रखती है। नाटक में कहीं पर भी इसके चरित्र पर रतिभाव प्रदर्शित नहीं हुआ है। इस प्रकार के शील गुणों से युक्त रानी पृश्नि एक मुग्धा श्रेणी की नायिका है। आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक में मुग्धा नायिका का लक्षण बताया है -

मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।[6]

नाटक में रानी पृश्नि का प्रवेश द्वितीय अङ्क में होता है। जब रानी राजा से मिलने उनके पास जाती है और कहती है कि प्रणाम आर्यपुत्र ! विलम्ब जानकर मैं स्वयं ही आपके दर्शन के

लिए आ गई।

नाटक में अनेक स्थान पर रानी पृश्नि रोमपाद की सहभागिनी के रूप में दृष्टिगोचर होती है। वह प्रत्येक संकट की घड़ी में राजा के साथ खड़ी दिखाई देती है तथा मिलकर हर संकट का सामना करती है। जब घोर विपदा आने पर राज्य का संपूर्ण राजकोष रिक्त हो जाता है और राजा कहता है कि अब राजमहल की सम्पूर्ण वस्तुएँ देकर दु:खी प्रजाजनों की सहायता करूँगा। तब रानी पृश्नि कहती है आर्यपुत्र! शरण में आये हुए की रक्षा करना प्रथम कर्तव्य होता है, तो सर्पप्रथम मैं अपने अलङ्कार देकर अपने कर्तव्य का पालन करूँगी। रानी अपने कर्तव्य पालन के लिए स्वयं तक को विक्रय करने के लिए तैयार रहती है। जब राजा रानी से कहता है कि यदि सब कुछ बेचकर भी प्रजाजनों के कष्ट का निवारण नहीं हुआ, तब क्या करेंगे ? इस पर रानी कहती है कि इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपने कर्तव्य पालन के लिए स्वयं को बेचकर प्रजा के दु:ख का निवारण करूँगी ।

धान्यं धनं कोशवलाढ्यराज्यम्,
दत्वापि तृप्तिं न यदा जगाम्।
तदा हरिश्चन्द्रनृप: प्रदातुम्,
विक्रीतवान् स्वं स्वसुतं स्वभार्याम्।।[7]

नाटक में जहाँ कहीं भी राजा कष्ट में दिखाई देते हैं, वहाँ रानी पृश्नि उनकी सहायता करती है। जब राजा को कोई सही मार्ग नहीं सुझता तो रानी एक कुशल मार्गदर्शिका के रूप में राजा का उचित मार्गदर्शन करती है। इस प्रकार रानी राजा की वास्तविक सहभागिनी के रूप में कार्य करती है।

शान्ता : -

शान्ता राजा दशरथ और रानी सुमित्रा की पुत्री है। वह चारों भाईयों में ज्येष्ठ है। शान्ता राजा रोमपाद की दत्तक पुत्री तथा ऋष्यशृङ्ग की भार्या है। राजा दशरथ ने अपने घनिष्ठ मित्र रोमपाद को अपनी पुत्री शान्ता दी। राजा रोमपाद सन्तानहीन थे। इसका वर्णन भवभूमि कृत उत्तररामचरित नाटक में भी है -

कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत्।
अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ।।[8]

नाटकार ने नाटक का नामकरण शान्ता के नाम पर ही किया है। यथा - ''शान्ताया: रोमपादस्य कन्याया: मङ्गलं विवाहरूपं कल्याणं यस्मिंस्तत् शान्तामङ्गलम्'' नाटक के अन्त शान्ता का ऋष्यशृङ्ग के साथ विवाहरूपी मङ्गल कार्य सम्पन्न होता है, इसलिए नाटक का नाम ''शान्तामङ्गलम्'' है।

रामेश्वर दयालु जी ने रामायण की गौण स्त्री पात्रा को प्रधानता प्रदान कर शान्तामङ्गल नाटक की रचना की है, जिससे इस गौण पात्रा के विषय में अधिक से अधिक लोग जान सकें। रामायण के समान महाभारत, पुराण तथा अन्य ग्रंथों में भी शान्ता विषयक वर्णन न्यून ही है। श्रीमद्भागवतपुराण के नवम स्कन्ध के तेईसवें अध्याय में शान्ताविषय के दो श्लोक प्राप्त होते हैं -

सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजा:।
रोमपाद इति ख्यातस्मै दशरथ: सखा।
शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छद्दष्यशृङ्ग उवाह ताम्।
देवेऽवर्षति यं रामा, आनिन्युर्हरिणी सुतम्।।[9]

नाटक में शान्ता का प्रवेश द्वितीय अङ्क में होता है, जब वह राजा रोमपाद से कहती है कि पिता अन्त:पुर में कब जाना है? शान्ता सरल एवं शान्त स्वभाव की स्त्री है। वह आज्ञाकारी है और माता-पिता की प्रत्येक आज्ञा का अक्षरश: पालन करती है। उसके अन्दर बड़ों के प्रति आदर और सम्मान का भाव है। वह राजमहल के सभी तौर-तरीकों से वाकिफ है। राजमहल में पालन पोषण होने के कारण भी उसका व्यवहार अहंकार और घमण्ड से रहित मनुजता के अनुकूल है। उसके आज्ञाकारिता का दर्शन तब होता है जब विवाहोत्सव के अवसर पर पिता रोमपाद उसे अलङ्कृत होने के लिए शृङ्गी ऋषि के साथ अन्त:पुर में जाने के लिए कहते हैं। वह बिना प्रश्न किये सहर्ष पिता की आज्ञा का पालन करती है और अन्त:पुर की ओर गमन करती है।

नाटक के अन्त में शान्ता का शृङ्गी ऋषि के साथ विवाहरूपी मङ्गल कार्य वर्णित कर नाटककार ने शान्ता को प्रधानता प्रदान की है।

वेश्याएं :-

शान्तामङ्गल नाटक में सरला, विमला और चपला नामक वेश्याओं का वर्णन है। ये वेश्याएं स्वभाव से चतुर हैं और छल-कपट से किसी भी कार्य को पूर्ण करने में निपुण हैं। इसी कारण राजा रोमपाद शृङ्गी ऋषि को अङ्गदेश में लाने के लिए मायापति के साथ वेश्याओं को भेजा।

नाटक में वेश्याओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। वर्षा न होने के कारण अङ्गदेश विपत्ति में संतृप्त था। इस विपत्ति का निवारण शृङ्गी ऋषि के आगमन से ही संभव था। विपत्ति के ऐसे समय में वेश्याएं मायापति के साथ भयानक घने जंगल में शृङ्गी ऋषि की खोज में निकल पड़ती हैं। उन्हें ये भी डर है कि यदि वो अपने कार्य ममें विफल हुई तो राजा उन्हें दण्डित करेगा।

यदि चम्पां गमिष्यामो, राजावश्यं हनिष्यति।

वने चेद् विचरिष्यामः, खादिष्यन्ति वनेचरः।।[10]

सरला, विमला और चपला तीनों ने जीवन को समर्पित करके अपने कर्तव्य का सम्यक् रूप से पालन किया। उन्होंने शृङ्गी ऋषि की खोज कर उन्हें अङ्गदेश में लाया, जिससे अङ्ग देश में वृष्टि हुई और अङ्गदेश को अनावृष्टि रूपी विपत्ति से मुक्ति प्राप्त हुई।

इस प्रकार से नाटककार ने नाटक में प्रत्येक स्त्री पात्र का समायोजन विषय एवं दृश्य के आधार पर सटीकता के साथ किया है। कोई भी पात्र अपने कर्तव्य से विमुख न होकर लक्ष्य प्राप्त करता है। प्रत्येक पात्र में सजीवता के दर्शन होते हैं। पात्रों के लक्ष्य की सिद्धि से ही नाटक के लक्ष्य की सिद्धि होती है। नाटक के एक-एक पात्र ने सम्यक्तया अपने कर्तव्य का निर्वहण किया है, जो नाटक को उत्कृष्ट रूप प्रदान करता है।

सन्दर्भ सूची -

1. दशरूपक - 1/11
2. नाट्यशास्त्रम् 1/108
3. नाट्यशास्त्रम् 1/113
4. नाट्यशास्त्रम् 1/122
5. नाट्यशास्त्रम् 1/98
6. दशरूपक 2/16
7. शान्तामङ्गल 5/57
8. उत्तररामचरितम् 1/4
9. श्रीमद्भागवतपुराणम् 9/7, 8
10. शान्तामङ्गल 6/65

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. अमरकोश (रामाश्री टीकोपते) हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं. 2039।
2. अलङ्कारकोशः, ब्रह्ममित्र अवस्थी इन्दुप्रकाशन, दिल्ली 1989।
3. औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र, हरिदास संस्कृत सीरीज-25
4. उत्तररामचरित, अय्यर टी.आर. रत्न, निर्णयसागर प्रेस पुणे 1995।
5. उत्तररामचरित, डॉ. पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, 1962।
6. ऋग्वेदः, चौखम्बासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1966।
7. दशरूपक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 2011।
8. नाट्य शास्त्र, भरतमुनिः, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली 199।
9. महाभारत, व्यासः, गीताप्रेस गोरखपुर, 1973
10. शान्तामङ्गल, श्री रामेश्वर दयालु, इस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली 2010
11. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2063, इकतीसवाँ पुनर्मुद्रण।

ISSN 2278 - 0327

छायावाद और महादेवी वर्मा की कविताएँ

डॉ. आशा
एस० आर० टी० परिसर बादशाहीथौल
(टिहरी गढ़वाल) उत्तराखण्ड - 249199

छायावाद को लेकर हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखकों एवं समीक्षकों में पर्याप्त मतभेद रहा है। परन्तु बाद में इसे एक महत्वपूर्ण 'वाद' के रूप में मान्यता मिली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इसका समय 1918 ई० से 1936 ई० तक मान लिया गया। आचार्य रामचन्द्र ने इस काव्यधारा का प्रयोग दो अर्थों में समझा हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार ''छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है। अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। 'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।''[1] हिन्दी साहित्य में 1920 ई० तक छायावाद संज्ञा का प्रचलन हो चुका था। लिखित रूप में 'छायावाद शब्द के प्रथम प्रयोक्ता मुकुटधर पाण्डेय माने जाते हैं। उन्होंने 1920 की जुलाई सितम्बर नवम्बर तथा दिसम्बर की 'श्रीशारदा' जबलपुर में हिन्दी में 'छायावाद' शीर्षक से चार निबन्धों की एक लेखमाला प्रकाशित करवाई थी। छायावाद को परिभाषित करते हुए डॉ० नामवर सिंह लिखते है कि ''छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से''[2] डॉ० नगेन्द्र का अभिमत है कि छायावाद तथा रहस्यवाद एक नहीं है अंश-अंशी भाव हैं वे इसे एक प्रकार कि भाव पद्धति मानते है, जो कि जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। इसमें व्यक्तिगत जीवन की श्रृंगारिक अनुभूतियों की प्रमुखता है प्रकृति उसमें प्रतीक एवं परिवेश स्वरूप व्यक्त हुई है तथा शैली में लाक्षणिकता, व्यंजना-शक्ति विशेषण-विपर्यय, ध्वनिचित्रण, मानवीकरण भाषा की चित्रमयता इत्यादि प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। पंत जी के अनुसार 'वास्तव में छायावाद स्थूल के प्रति विद्रोह न होकर न उसका संस्कार या रूपान्तर ही कर नये मूल्य की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करता है। महादेवी जी ने अनेक स्थलों पर छायावाद के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट किया है। वे इसके मूल में बाह्य बंधनों के प्रति विद्रोहजन्य स्वानुभुति प्रकृति से संपर्क स्थापित किये सहज एवं कहीं-कही लाक्षणिक रूप में व्यंजित हुई मानती हैं।

विभिन्न विद्वानों, कवियों द्वारा छायावाद की सम्यक् विश्लेषण करने के उपरान्त यह निर्विवाद कहा जा सकता है, कि 'छायावाद' नामकरण प्रचलन विशुद्ध भारतीय है, इसे विदेशी कहना या आधार लिया मानना उचित नहीं है। छायावाद तथा रहस्यवाद दो पृथक्-पृथक् वाद हैं। छायावाद विशुद्ध आधुनिकवाद है। जबकि रहस्यवाद का आरम्भ मध्यकालीन कवियों से पहले का माना जाता हैं।

छायावाद के नामकरण के सम्बन्ध में भी प्राय: विद्वानों में मतभेद रहा है। इस विषय में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं पर एक धारणा तो स्पष्ट है कि शुक्ल जी जैसे उदीयमान आलोचकों एवं इतिहासकारों ने पूर्व में छायावाद पर अनेक व्यंग्य प्रहार किये, भले ही बाद में यही नाम स्थायित्व प्राप्त कर गया। वस्तुत: छायावाद नाम का प्रचलन भी मुकुटधर पाण्डेय के 1920 के प्रकाशित लेखों से माना जाता है। आचार्य शुक्ल ने तो पाण्डेय जी से ही इस वाद का प्रारम्भ माना है। नामकरण में कुछ समीक्षक इसे रहस्यवाद रोमांटिसिज्म, स्वच्छन्दतावाद इत्यादि से मिलने की चेष्टा करते हैं। अधिकांश विद्वान् इसका विकास बंग्ला से मानते हैं। कुछ विद्वान् के अनुसार छायावाद हिंदी काव्य का अपना आत्मसात किया हुआ नाम है।

वहाँ रहस्यवाद में आत्म-परमात्मा के चिरन्तन संबंध पर बल दिया जाता है। अद्वैत भावना को अवश्य ही छायावादी कवियों ने अपनाया है। इस आधार पर दोनों कि नहीं मानी जा सकते हैं। छायावाद के आधार स्तम्भ कवियों में महादेवी वर्मा एक विलक्षण प्रतिमा सम्पन्न एवं संवेदनशील कवयित्री हैं। महादेवी का जन्म फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश के एक सुप्रतिष्ठित परिवार में 24 मार्च 1907 ई० में हुआ था। उस दिन होली का त्यौहार था इनका परिवारिक वातावरण सभी दृष्टियों से समृद्ध था। पिता गोविन्द प्रसाद वर्मा जो कि एम० ए० एल० एल० बी० तक शिक्षा प्राप्त

थे। इन्दौर के डेली कॉलेज में प्राध्यापक के रूप में कार्य करते थे इनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी एक विदूषी, कला-प्रिय एवं धर्म परायण स्त्री थीं महादेवी वर्मा ने मिडिल से लेकर बी० ए० तक की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की सन 1932 में इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की, महादेवी का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था।

महादेवी वर्मा उस समय की साहित्यकार हैं जब हमारा देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। ''महादेवी ने तुकबंदियों समस्यापूर्तियों से अपना सृजन शुरू किया था। सर्वप्रथम इन्होंने ब्रजभाषा में लिखना प्रारम्भ किया। बाद में सरस्वती पत्रिका की प्रेरणा से तथा मैथिलिशरण गुप्त के प्रभाव से वे खड़ी बोली क्षेत्र में आई, कविता से इन्होंने अपने साहित्य-सृजन का प्रारम्भ किया खड़ी बोली में लिखी इनकी प्रथम कविता 'दिया' (सन् 1918 ई०) है इन्होंने सन् 1920 ई० में एक करुण रस का खण्ड काव्य भी लिखा था जो अप्रकाशित तथा अप्राप्त है। अब तक महादेवी जी के पाँच काव्य संग्रह प्रकाशित है, जो कमश: इस प्रकार है- 'नीहार' (1930 ई०) 'रश्मि' (1932 ई०). 'नीरजा' (1935 ई०), 'साध्यगीत' (1936 ई०), तथा 'दीपशिखा' (1942 ई०)''[3]

महादेवी ने कविता नहीं लिखी है कविता ने महादेवी को लिखा है उनकी कविता में संगीत कला, चित्रकला तथा काव्यकला का अपूर्व समन्वय है। महादेवी की कविता की एक-एक पंक्ति वेद की एक-एक ऋचा है। उनकी कविता एक एक-एक वाक्य पावन है। तथा एक-एक शब्द मधुकेलि है। छायावाद की रहस्यानुभूति एक प्रवृत्ति अवश्य है। रोमांटिसिज्म तथा छायावाद की विशिष्ट प्रवृत्तियों एक होती हुई भी इनमें देश और काल का पर्याप्त अन्तर है, जो दोनों में विभाजन रेखा अंकित करता है। अत: रोमांटिसिज्म का छायावाद में रूपान्तर स्वीकार करना असंगत है। रोमांटिसिज्म के पीछे यूरोपीय आर्थिक समाजिक राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियां थी। इसके विपरीत छायावाद के उदय की प्रेरक भारतीय परिस्थितियाँ है। समान विशिष्टताओं के होते हुए भी देश-काल की दूरी से सम्पूर्ण ढांचा ही परिवर्तित है। इसलिए छायावाद को यूरोपीय रोमाण्टिक कविता की अंधानुभण नहीं माना जा सकता। वस्तुत: वह तो भारतीय संस्कृति से अनुप्राणिता भारतीय परिस्थितियों से अनुप्रेरित एवं प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् नवीन मानवतावादी आदर्शवाद पर हिन्दी की मौलिक काव्य-धारा है। साथ ही छायावादी कविता में रोमाण्टिक कविता की भांति क्रान्ति का आह्वान नहीं मिलता ।

छायावाद के प्रारम्भ के विषय में भी मतभेद है। अधिकांश समीक्षक प्रसाद जी की रचनाओं से छायावाद का प्रारम्भ मानते हैं तथा इसी आधार पर उन्हें इस वाद का प्रवर्तक भी माना जाता है। डॉ० प्रभाकर माचवे तथा आचार्य विनय मोहन शर्मा जी माखनलाल चतुर्वेदी को इस काल का प्रवर्तक मानते हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी छायावाद की सर्वप्रथम प्रौढ़ रचना निराला की सन् 1916 में रचित कविता 'जुही की कली' मान्य है। भले ही प्रवर्तक कवि उन्हें न माना जाय, परन्तु प्रस्तुत कविता का ऐतिहासिक महत्व स्थाई है। छायावादी रचनाओं में जुही की कली विवादास्पद रचना भी है क्योंकि समीक्षक इसे दार्शनिक रहस्यवादी कृति मानने की भूल करते हैं।

अत: छायावाद के सम्बन्ध में अनेक पक्षों पर मतभेद होते हुए भी आधुनिक साहित्य में छायावाद की देन अद्वितीय है। कविता में रहस्यवाद तथा छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों अत्यन्त सुन्दर तथा उभरे हुए रूप में मिलती हैं। छायावाद में पन्त, निराला तथा जयशंकर प्रसाद के बाद प्रवृष्टि हुई। पन्त और निराला की कविता में समय-समय पर नवीन मोड़ आये वे अपनी राहें बदलते गये लेकिन महादेवी छायावाद के पथ पर पूर्णवत अपना पग बढ़ाये चलती रहीं। उनके काव्य में पीड़ा, आँसू, माधुर्य, आनन्द तथा उल्लास सभी कुछ है पर मूलत: वे करूणा की कवयित्री हैं। महादेवी की करूणा शोकमूलक न होकर वेदनामूलक है। जीवन में साथी के अभाव ने करुणा को महादेवी का सहचर बना दिया। महादेवी की वेदना का उत्कृष्ठ एवं सहज ग्राह्य स्वरूप दीपक के माध्यम से व्यंजित हुआ है। इनका यहाँ दीपक अनेक रूपों में चित्रित हुआ है। लेकिन कवयित्री द्वारा वेदना के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठा इनमें निहित परोपकार एवं त्याग की भावना को भी व्यंजित करती है। अत: वे इस दीपक को व्यंजित करती है। अत: वे इस दीपक को सदैव दीप्त रूप में देखने के लिए उत्कंठित हैं।

''सीमा की लघुता का बंधन
है अनादित मत घड़ियों गिन,
मैं दृग के अक्षय, कोषों से,
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल
सरल सरल मेरे दीपक जल''[4]

दीपक के साथ ही कवयित्री के आँसूओं को जलजात (कमल) के रूप में भी देखा जा सकता है। वेदना के अश्रु में कवयित्री के आगमन की कल्पना कर वस्तुत: काव्यादर्श प्रस्तुत कर देती हैं। यथा-

''अश्रु के मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास
अश्रु की की हाट बन जाती करूण बरसात

जीवन विरह का जलजात !''[5]

स्वछंदता छायावाद की मूल प्रवृत्ति है। महादेवी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों में इसे देखा जा सकता है। वे अपने प्रिय के प्रति आत्म समर्पित हैं। तभी कहती हैं–

''जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करूणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग
गाता प्राणों का तार–तार
अनुराग भरा अन्माद राग
आँसू लेते वे पथ पखार''[6]

प्रेम की वास्तविकता उसके (प्रेयसी) के तपने, जलने तथा उत्सर्ग करने महादेवी स्वयं को दीप के समान जलकर प्रिय पथ को नित आलोकित करना चाहती हैं। इनके जीवन में वेदना या पीड़ा का मानों साम्राज्य बस चुका हो। विरहानुभूति इतनी तीव्र है कि कवयित्री को अपनी सूझ–बूझ ही नहीं रह जाती। तभी वे पीड़ा में प्रिय को तथा प्रिय में पीड़ा को ढूँढने का उपक्रम करती रहती हैं। वे लिखना कुछ चाहती है पर लिखा कुछ और जाता है। यही है प्रेम और प्रिय में अनन्य अस्था। एकनिष्ठ भाव। महादेवी स्वयं को बदली संबोधित करती हुई कहती हैं–

''नीर भरी दु:ख की बदली
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते,
पलकों में निर्झरिणी मचली''[7]

महादेवी के प्रेम को शुद्ध आध्यात्मिक मानने वालों में शिवनन्दन प्रसाद का कथन है कि ''महादेवी जी की वाणी इस बात का प्रमाण है कि वह आध्यात्मिकता की सुधा से पूर्णत ओत प्रोत हैं।''[8] महादेवी के काव्य में प्रेम धारा मूलत: एक होते हुए भी अनेक रूपों में प्रवाहित हुई है। सुगमता के लिए उसे हम चार कोटियों में रख सकते हैं एक वह जो किसी लौकिक आलम्बन को लेकर चलती है, जहाँ संकल्पनात्मक संयोग और वियोग के अवसर आते हैं। प्रेम की द्वितीय अवस्था अलौकिक है जहाँ प्रेम भावना का प्रांजल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इस क्षेत्र में आकर विष भी अमृत का कार्य करता है। यथा–

''जहाँ विष देता है अमरत्व
जहाँ पीड़ा है प्यारी मीत,
अश्रु हैं नयनों का श्रृंगार
जहाँ ज्वाला बनती नवनीत
मृत्यु बन जाती नवजीवन''[9]

पीड़ा ही सर्वस्व बन जाती है। आँसू ही नेत्रों का श्रृंगार करते हैं, प्रतीक्षा नयनों का अंजन बन जाती है। वेदना संजीवन हो जाती है। पीड़ा ही प्रेम प्रथिक का पाथेय बनती है। यही रहस्यवाद का योग होता है। स्थल पर महादेवी की विरही आत्मा को पीर भी प्रिय से कम मादक प्रतीत नहीं होता। उनका प्रेम चातक और चकोर की तरह विशुद्ध है। उनके प्रिय तारिकाओं की टकटकी और उच्छवास बनकर आते हैं। प्रिय से मानसिक मिलन भी होता है किन्तु इस मानसिक संयोग के अवसर क्षणिक हैं। उनका जीवन तो फिर 'बिरह का जलजात' ही बन जाता है। पीड़ा के आधिक्य के कारण अपने को 'नीर भरी दु:ख की बदली' ही कह उठती हैं, जो अद्यतन सार्थक उक्ति है। महादेवी के प्रेम की तीसरी कोटी रागानुगाभाक्ति है इस भक्ति में मंदिर भी है और प्रतिमा भी साधक है, और साध्य भी। पूजा के सभी उपकरण हैं, किन्तु विशेषता यही है कि ये उपकरण अभौतिक है। कवयित्री का जीवन शरीर ही प्रियतम का मंदिर है उनके गीले नयन प्रिय की आरती उतारते है पीड़ा और मात्रा पुलकित रोम चंदन एवं अक्षत बन जाते हैं स्पंदन स्वांस ही धूपबत्ती बनकर जला करते है। प्रेम की चतुर्थ कोटि सामान्य है। यहाँ उनका प्रेम परिवार परिजनों के सूत्र से आबद्ध होता हुआ भी अपनी इस परिधि में मानव मात्र के प्रेम को समाहित कर लेता है। यह प्रकृति प्रेम का ही निदर्शन है कि महादेवी प्रकृति को आलम्बन, उदीयन मानवीकरण, सहचरी अभिस्मरिका आदि रूपों में चित्रित किया है। कवयित्री का प्रेम देशानुराग के प्रेम में भी व्यक्त हुआ है।

प्रत्येक छायावादी कवि ने प्रकृति चित्रण का आरोपण किया है। इसके माध्यम से उन्होंने कभी सूक्ष्म अलौकिक सन्तों के दर्शन किये हैं, तो कभी नारी का सौन्दर्य देखा है। महादेवी के काव्य में प्रकृति विभिन्न रूपों में चित्रित हुई है। प्रकृति का सुन्दर सहज एवं स्वाभाविक चित्रण अनेक गीतों में हुआ है।

''धीरे–धीरे उतर क्षितिज से
आ बसन्त रजनी
तारकमय नव वेणीबंधन,
शीश फूल कर शशि के नूतन,
रश्मि वलय सित धन–अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी
पुलकती आ बसन्त रजनी''[10]

महादेवी जी ने प्रकृति के मनोहरी चित्र ही अधिक दिये है,

उन्होंने प्रकृति के सुन्दर पहलू को के ही अपनी कविता में अधिक स्थान दिया है उनके हृदय में जो सुन्दर भाव जगत बसा हुआ था। उसी को प्रकृति से उपमान लेकर काव्य में साकार रूप देने की चेष्ठा की दिन और रात का वर्णन करने के लिए महादेवी जी ने जो चित्र खींचा है वह अद्वितीय है।

''कनक से दिन मोती सी रात
सुनहली सांझ गुलाबी प्रातः
मिटाता रंगता बारम्बार
कौन जग का यह चित्राधार''[11]

महादेवी जी ने दिन को स्वर्ण-सा रात्रि को मोती सी तथा संध्या और उषा को सुनहली और गुलाबी सी कहकर अपनी कोमल कल्पनाशीलता के साथ-साथ सुन्दर और संगत उपमानप्रियता का भी परिचय दिया है। महादेवी जी ने प्रकृति के जो स्वतन्त्र चित्र अपनी कविताओं में उकेरा है उनमें उषा, सूर्योदय, संध्या, निशा आदि प्रमुख हैं। आधुनिक युग में प्रकृति-चित्रण की जितनी भी प्रमुख प्रवृत्तियों प्रचलित हैं, वे सभी महादेवी जी के काव्य में उपलब्ध तो होती ही हैं साथ ही भाषा की सुकुमारता भावों की मनोरमता, कल्पना की कोमलता, शब्द चयन की समीचीनता, उनकी ध्वन्यात्मकता और चित्रात्मकता तथा अलंकारों की योजना ने प्रकृति-वर्णन को सुन्दर सरस और सजीव-सा बना दिया है।

महादेवी के काव्य में छायावादी भाव की सभी प्रवृत्तियों देखी जा सकती हैं। समर्थ भावों को व्यक्त करने के लिए सशक्त भाषा लाक्षणिकता का प्रयोग अपेक्षित है। महादेवी जी की लेखनी में भावाभिव्यक्ति की शक्ति है गीत लिखने में इन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। प्रतीक तथा बिम्ब भी अनेक रूपों में प्रस्तुत हुए हैं। इनकी शिल्प साधना का उत्कर्ष निम्न पक्तियों में-

''कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती
दृग जल की सित मासि है अक्षय,
मसि प्याली, झरते तारक-द्वय,
पल-पल के उड़ते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर
में अपने ही बेसुधपन में
कहती हूँ कुछ कुछ लिख जाती''[12]

महादेवी जी की काव्य-कृतियों का सम्यक् विश्लेषण के पश्चात् हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि उनकी कविताएँ किसी एक विषय पर न होकर विभिन्न विषयों पर हैं। एक तरफ उनकी कविलाओं में प्रेम की व्यंजना की गयी है तो दूसरी तरफ विरह का उनके काव्य में प्रेम अनेक रूपों में व्यंजित हुआ है। प्रकृति चित्रण और रहस्यवादी भावना का भी प्रेम में ही समाहार हो जाता है। क्योंकि उनके प्रेम की ही एक लघुधारा इन क्षेत्रों में प्रवाहित होती है। उनके काव्य से प्रेम को निकाल देने पर काव्य कंकाल ही शेष रह जाता है जो प्रेम-प्राण के बिना निस्सार हैं। इसके अलावा महादेवी वर्मा को विरह से विशेष लगाव रहा है। जो उनकी कविताओं में दृष्टिगोचर हुआ है। छायावादी कवियों में महादेवी दुःख, वेदना, विरह तथा करुण की कवयित्री हैं। इनके गीतों में ये सब तीव्र अनुभूति रूप में संयोजित हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है, कि छायावादी कवियों में महादेवी का स्थान अग्रिम है। उनकी कविताओं में प्रणयानुभूति रहस्यानुभूति, सौन्दर्यानुभूति प्रकृति-चित्रण, सामाजिकता एवं शिल्प पक्ष आदि प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

सन्दर्भ सूची

(01) हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्करणः 2013 ई०, पृष्ठ 430

(02) छायावाद - नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ग्यारहवीं आवृत्ति 2011, 2017

(03) हिन्दी साहित्य का वास्तुनिष्ठ इतिहास (खण्ड-3) डॉ० कुसुम राय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय संशोधित संस्करण 2016 ई०

(04) मधुर मधुर मेरे दीपक जल (नीरजा) महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपरबैक संस्करण 2008, पृ0 2.

(05) यामा- महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद तीसरा पेपरबैक संस्करण 2012, पृष्ठ 24

(06) यामा- महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद तीसरा पेपरबैक संस्करण 2012. पृ024

(07) सांध्यगीत- महादेवी वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपरबैक संस्करण 2008, पृष्ठ 45

(08) हिन्दी साहित्य प्रेरणा और प्रवृत्तियों शिवनन्दन, पृष्ठ 183

(09) यामा महादेवी वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद पहला पेपरबैक संस्करण 2008, पृष्ठ 20

(10) नीरजा महादेवी वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपरबैक संस्करण 2008, पृष्ठ 02

(11) यामा महादेवी वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद पहला पेपरबैक संस्करण 2008. पृष्ठ 79

(12) नीरजा महादेवी वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपरबैक संस्करण 2008. पृष्ठ 36

ISSN 2278 - 0327

पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित विभूतियों की उपादेयता

श्रीमती रेणु
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
हिन्दू गर्ल्स कॉलेज, सोनीपत, हरियाणा

An Abstract

The paper proposes to elucidate significance and relevance of vibhuti-s as illustrated in PatañjalaYoga philosophy. Ancient Indian culture and its thought holds that the attainment of moksha is the ultimate aim of life. All theist philosophies describe several ways to achieve the final destination of human life. In this connection Patañjala Yoga philosophy in its four padas explicate samadhi, sadhana, vibhuti and kaivalya. These four padas or chapters are basically organised path to reach the ultimate goal. In which the third pada, i.e.vibhuti is about controlling and getting triumph upon all worldy objects including sense organs. These vibhuties play an important role in yoga-sadhan to reach at final fulfilment of human life.In short, Each and every vibhuti as its own noteworthy importance, which will be highlighted in this paper.

कूट शब्द (Keywords)- योग, विभूति, बहिरङ्ग साधन-साध्य विभूति, अन्तरङ्ग साधन-साध्य विभूति, समाधिजा विभूति आदि।

भारतीय विचारधारा के मूल में विद्यमान वेद, दर्शन, उपनिषद् और ब्राह्मणादि ग्रन्थ ज्ञान-विज्ञान के अजस्रस्रोत के रूप में विद्यमान हैं। इसी क्रम में दार्शनिक चिन्तनधारा में योगदर्शन का स्थान अन्यतम है। योगदर्शन की परम्परा में पातञ्जल योगदर्शन एक महत्वपूर्ण सोपान है। यह चार पादों में विभक्त है- समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य। इसमें ईश्वर,जीवात्मा और प्रकृति के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है। योग क्या है? जीव के बन्धन के क्या कारण हैं? योग-साधक की विभिन्न स्थितियाँ एवं विभूतियाँ कौन-कौन सी हैं? मन की वृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं? मन को एकाग्र करने के क्या-क्या उपाय हैं? मानव-जीवन का परम लक्ष्य 'मोक्ष' क्या है? इत्यादि आध्यात्मिक विषयों का व्यापक वर्णन पातञ्जल योगदर्शन में मिलता है।

पातञ्जल योगदर्शन के तृतीय पाद का नाम है-विभूति। इसमें योगबल के द्वारा प्राप्त होने वाली विभिन्न विभूतियों का वर्णन किया गया है, जो न केवल साधक के योगमार्ग को सुगम बनाती हैं, अपितु योगमार्ग के परमध्येय मोक्ष की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। प्रस्तुत शोधपत्र का मुख्य प्रतिपाद्य योगदर्शन के विभूति नामक तृतीय पाद के आधार विभूतियों तथा उनकी उपादेयता का वर्णन किया जाना है। उल्लेखनीय है कि तत्तत् विभूतियों के परिचय के साथ ही उनकी उपादेयता को भी बताया जा रहा है। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार इन्हीं विविध विभूतियों की उपादेयता को प्रतिपादित करना ही प्रस्तुत शोधपत्र का मुख्य लक्ष्य है।

II

विभूति शब्द वि +√भू+क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - बल, शक्ति, समृद्धि एवं कल्याण।[1] योग का निरन्तर अभ्यास करने पर साधक में शक्ति अथवा सामर्थ्य स्वत: ही उत्पन्न हो जाती है। विभूति के कतिपय अन्य पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं- सिद्धि, महाभूति आदि। योगदर्शन में प्रतिपादित इन सिद्धियों या विभूतियों का अनेकधा विभाजन प्राप्त होता है-

विभूतियों का वर्गीकरण- पातञ्जल योगदर्शन के तृतीय पाद के अतिरिक्त अन्य पादों में भी यत्र-तत्र विभूतियों का उल्लेख किया गया है। योगदर्शन में योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं,[2] जिनमें प्रथम पाँच बहिरङ्ग हैं तथा अन्तिम तीन अन्तरङ्ग हैं।[3] इन्हें योगसाधन के रूप में भी जाना जाता है। इन योगाङ्गों के आधार पर विभूतियों को भी दो भागों में विभाजितकिया जा सकता है-

- **बहिरङ्ग -साधन-साध्य विभूतियाँ**
- **अन्तरङ्ग-साधन-साध्यविभूतियाँ**

समाधिजविभूतियाँ

बहिरङ्ग-साधन-साध्यविभूतियाँ -अष्ट-योगाङ्गों में प्रथम पाँच-यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार-बहिरङ्ग साधन हैं। इनके संयम से प्राप्त होने वाली विभूतियाँ तद्विषयक संयम की द्योतक होती हैं।

यम-साध्य विभूतियाँ- *अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:*[4]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इन यमों के पालन से सिद्ध होने वाली विभूतियों का एवं उनकी उपादेयता का वर्णन क्रमश: द्रष्टव्य है-

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:[5]

अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर अर्थात् मैं किसी भी काल में, किसी भी रूप में किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा। इस प्रकार

के दृढ़ विचार हो जाने पर साधक को हिंसक प्राणियों की हिंसावृत्ति शान्त करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, जिनसे मनुष्यों का शाश्वतिक विरोध होता है। ऐसे प्राणी यथा- सर्प, नकुल, मार्जार, व्याघ्र, मूषक आदि का भी अहिंसा प्रतिष्ठित साधक के निकट आने पर पारस्परिक वैर भाव शान्त हो जाता है।[6] साधक को हिंसक प्राणियों की हिंसावृत्ति को शान्त करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाना एवं उस साधक के समीप आने पर उन हिंसक प्राणियों का पारस्परिक वैरभाव शान्त हो जाना ही इस अहिंसा साध्य विभूति की उपादेयता है तथा यही इस विभूति का प्रमुख प्रयोजन है।

■ *सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्*[7] – सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रिया में फलाश्रयरूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है, जिससे यदि योगी किसी पापी मनुष्य को कहे- *धार्मिकोभूया इतिभवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति। अमोघाऽस्य वाग्भवति।*[8]

अर्थात् 'तुम धार्मिक बन जाओ' तो वह मानव उस साधक के प्रभाव से धार्मिक बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति को कह दे कि 'स्वर्ग को प्राप्त करो' तो वह व्यक्ति स्वर्ग को स्वर्ग प्राप्त करता है। इस प्रकार योगी की वाणी अमोघ अर्थात् व्यर्थ नहीं जाती है। इस प्रकार अमोघ वाणी को प्राप्त करना ही सत्यसाध्य विभूति का प्रयोजन है। अथवा इस सत्यरूप यम के पालन करने से होने वाला लाभ है।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में लिखा है-'जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्यु-पर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। ....इसलिए सदा सत्यभाषण और सत्य प्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिए।'

■ *अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्*[9]- अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर सभी रत्नों की उपस्थिति हो जाती है। इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है- *सर्वादिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि।* अर्थात् सभी दिशाओं में विद्यमान रत्न इस साधक के पास उपस्थित हो जाते हैं। रत्न शब्द के टीकाकारों ने विभिन्न अर्थ किये हैं-

रमतेऽत्र -√रम् +न् -मणि, आभूषण, हीरा।[10]

■ *जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते*[11] – अर्थात् प्रत्येक जाति के पदार्थों में जो श्रेष्ठवस्तु है, वही रत्न कहलाती है। यदि व्यासभाष्य पर दृष्टिपात करें तो यही अर्थ उचित प्रतीत होता है- अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर समस्त दिशाओं के समस्त उत्तम पदार्थ उपस्थित हो जाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण दिशाओं के समस्त श्रेष्ठ पदार्थ का उपस्थित हो जाना ही अस्तेय साध्य विभूति का प्रयोजन है।

■ *ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः*[12] – ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिष्ठा हो जाने पर वीर्यलाभ अर्थात् अपार शक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाने पर प्राप्त हुए सामर्थ्य विशेष से साधक अप्रतिघ अर्थात् अपराजित गुणों का उत्कर्ष प्राप्त करता है और वह साधक अपने शिष्यों में ज्ञान धारण कराने में समर्थ हो जाता है।[13]

प्रतिहत गुणों का उत्कर्ष प्राप्त होना एवं शिष्यों में ज्ञान धारण कराने का सामर्थ्य प्राप्त कराना ही ब्रह्मचर्य साध्य विभूति की उपादेयता है।

■ *अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः*[14] –अपरिग्रहव्रत के स्थिर हो जाने पर साधक को अपने वर्तमान, अतीत एवं अनागत जन्मों का बोध हो जाता है। व्यासभाष्य में कहा गया है कि अप्रिग्रह के प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को जन्मकथन्तासंबोध हो जाता है। मैं कौन था? मैं किस प्रकार से था? यह जन्म क्या है? इस जन्म का कारण क्या है? हम जन्मान्तर में क्या बनेंगे? किस प्रकार के हो जायेंगे? इस प्रकार साधक को पूर्वान्त, परान्त एवं मध्य अर्थात् भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकाल में अपने स्वरूप की जिज्ञासा स्वत: शान्त हो जाती है।[15]

इस प्रकार अतीत एवं अनागत एवं वर्तमान जन्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाना ही अपरिग्रह साध्य विभूति का प्रयोजन है।

नियम-साध्य विभूतियाँ -नियम पाँच हैं- *शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः*[16] – शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान। जिस प्रकार यमों के पालन से विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार नियम-पालन से भीअनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनका वर्णन क्रमश: निम्न प्रकार से है-

नियमों में प्रथम नियम है-शौच। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से शौच द्विविध होता है।[17] दोनों से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं, जिनका क्रमश: वर्णन निम्न प्रकार से है-

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः[18]

बाह्य शौच के प्रतिष्ठित होने से अपने तथा दूसरों के शरीर के प्रति जुगुप्सा अर्थात् का भाव उत्पन्न हो जाता है-

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च[19]

आभ्यन्तर शौच के प्रतिष्ठित होने पर साधक में बुद्धिशुद्धि मन की प्रसन्नता एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आ जाती है। बुद्धिशुद्धि अर्थात् चित्त की कलुषता नष्ट होने से चित्त निर्मल हो जाता है।

इस प्रकार जलादि से नित्य ही स्वच्छ न होने वाले अपने और दूसरों के शरीर के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होना तथा बुद्धिशुद्धि, एकाग्रता, आत्मसाक्षात्कार आदि की योग्यता प्राप्त हो जाना ही शौचसाध्य विभूति की उपादेयता का कारण है।

■ *सन्तोषादनुत्तममसुखलाभः*[20] – सन्तोष के स्थिर होने से मिलने वाला सुख सर्वोत्तम है। इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि संसार में जो भी दिव्य एवं महान् सुख है। ये दोनों सुख तृष्णा के नाश से प्राप्त होने वाले सुख के सोलहवें अंश के भी समान नहीं हो

सकते।[21] सन्तोष से योगी की तृष्णा शान्त हो जाती है, जिससे तृष्णामूलक समस्त दु:खों के नाश से योगी परम सुख को प्राप्त करता है। अनुत्तम अर्थात् न *विद्यते उत्तमं सुखं यस्मात्* (बहुव्रीहि समास) जिससे उत्तम सुख अन्य नहीं है। अनुत्तम सुख की प्राप्ति हो जाना ही सन्तोष साध्य विभूति का प्रयोजन है।

■ *कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस:*[22] – तप के स्थिर होने से शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय हो जाता है। अशुद्धि क्षय से शरीर के बल और इन्द्रियों के सामर्थ्य का बढ़ जाना ही तप साध्य विभूति का प्रयोजन है।

■ *स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग:*[23] – स्वाध्याय के स्थिर होने से साधक को इष्ट देवताओं अर्थात् इष्ट देवताओं अर्थात् विद्वान्, ऋषि तथा सिद्ध पुरुषों का दर्शन हो जाता है साथ ही ये सभी योगी के कार्य में सहायक हो जाते हैं।[24]

साधक को इष्ट देवताओं का दर्शन हो जाना ही स्वाध्याय साध्य विभूति की उपादेयता का कारण हैं।

■ *समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्*[25] – ईश्वरप्रणिधान के स्थिर होने से साधक सुगमता से समाधि को प्राप्त करता है। ईश्वर चिन्तन में संलग्न योगी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। सुगमता से समाधि को प्राप्त कर लेना ही ईश्वरप्रणिधान साध्य विभूति का प्रयोजन है।

आसन-साध्य विभूति –

■ *ततो द्वन्दानभिधात:*[26] – तत: अर्थात् आसन की स्थिरता आ जाने से योगी के अन्दर दो द्वन्दों को सहने का सामर्थ्य आ जाता है। सर्दी-गर्मी भूख-प्यासादि द्वन्द योगी को पीड़ित नहीं करते हैं।[27] इस प्रकार सर्दी-गर्मी आदि द्वन्दों को सहने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेना ही आसन साध्य विभूति का प्रयोजन है।

प्राणायाम साध्य विभूति – *तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्*[28]
धारणासु च योग्यतामनस:[29]

प्राणायाम के स्थिर होने से प्रकाश के आवरक अविद्यादि क्लेश दुर्बल हो जाते हैं। प्राणायाम से चित्त के दुर्बल दोषों की निवृत्ति और ज्ञान की दीप्ति होती है और प्राणायाम के अभ्यास से धारणा में अर्थात् परमेश्वर में मन की धारणा होने से मन की योग्यता बढ़ जाती है।

ज्ञान के आवरक अविद्यादि क्लेशों का दुर्बल हो जाना तथा ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना एवं मन की योग्यता बढ़ जाना ही प्राणायाम साध्य विभूति की उपादेयता का कारण है।

प्रत्याहार साध्य विभूति– *तत: परमा वश्येतन्द्रियाणाम्*[30]

तत: अर्थात् प्रत्याहार के प्रतिष्ठित होने से इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यमादि के पालन से भी इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं परन्तु प्रत्याहार के स्थिर होने से उन पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। साधक जहाँ अपनी इन्द्रियों को ले जाना चाहे या रोकना चाहे तो वह वहीं ले जा सकता है या रोक सकता है। इस प्रकार इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण का सामर्थ्य प्राप्त होना ही प्रत्याहार साध्य विभूति का प्रयोजन है।

III

अन्तरङ्गसाधन साध्य विभूतियाँ-

बहिरङ्ग साधन साध्य विभूतियाँ यमादि साधनों का साक्षात् परिणाम होने से इनकी संख्या निश्चित है। जितने यम-नियमादि साधन हैं, उतनी ही उनसे प्राप्त होने वाली विभूतियाँ हैं। किन्तु अन्तरङ्ग विभूतियाँ साक्षात् अन्तरङ्ग साधनों से प्राप्त नहीं होती हैं अपितु अन्तरङ्ग साधनों से सम्बद्ध विषयों के सिद्ध हो जाने पर प्राप्त होती हैं। इन विषयों की संख्या अनिश्चित होने से अन्तरङ्ग विभूतियों की संख्या भी निश्चित नहीं है। ये अन्तरङ्ग विभूतियाँ बहिरङ्ग विभूतियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती हैं।

धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये तीन इन अन्तरङ्ग विभूतियों के साधन हैं। योगदर्शनकार ने कहा है- *त्रयमेकत्र संयम:*।[31] अर्थात् धारणा, ध्यान एवं समाधि का सम्मिलित रूप ही संयम है। चित्त को संयमित करने का सर्वोत्तम साधन होने के कारण इन तीनों को संयम कहा है। चित्त के संयमित होने पर विषय स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं विषयों के स्पष्ट दर्शन से भी योगी उन विषयों के अशेष एवं विशेष का सम्यक् ज्ञान हो जाता है, जिससे योगी को अनेक विभूतियों की प्राप्ति हो जाती है। अत: अन्तरङ्ग विभूतियों का संयम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

संयम-साध्यविभूति- महर्षि पतञ्जलि ने धारणा ध्यान एवं समाधि के सम्मिलित रूप को संयम कहा है। तत्पश्चात् संयम से प्राप्त होने वाली विभूति का वर्णन करते हुए कहते हैं – *तज्जयात्प्रज्ञालोक:*[32]

अर्थात् संयम के सम्यक् अभ्यास से (निरन्तर अनुष्ठान से) विवेक स्वरूप प्रज्ञा का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि पूर्णरूप से विकसित हो जाती है। योग के जटिल मार्ग पर चलने के लिए प्रज्ञालोक प्राप्त करना ही संयम साध्यविभूति का प्रयोजन है।

धर्म लक्षण एवं अवस्था परिणाम विषयक संयम-साध्यविभूति- *परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्*[33]

सम्पूर्ण जड़ पदार्थों के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं- धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम एवं अवस्था-परिणाम। जब योगी इन पदार्थों के परिणाम त्रय में संयम करता है तो योगी को उन पदार्थों के अतीत एवं अनागत अर्थात् भविष्य से सम्बन्धित परिणामों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जड़ पदार्थों के अतीत एवं अनागत परिणामों का ज्ञान प्राप्त करना ही परिणाम त्रय संयम साध्य विभूति की उपादेयता का प्रमुख कारण है।

शब्द अर्थ एवं प्रत्यय के विभागविषयक संयम-साध्यविभूति- *शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्*[34]

शब्द अर्थ एवं प्रत्यय अर्थात् ज्ञान से इतरेतराध्यासात् अर्थात् एक के धर्म दूसरे में देखने से परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। शब्दादि तीनों के प्रविभाग में संयम करने से योगी को गौ आदि सभी प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है। कौन सा प्राणी किस अर्थ के लिए किस शब्द का प्रयोग करता है? यह ज्ञान योगी को हो जाता है। सभी प्राणियों के शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना है, शब्दादि के प्रविभागविषयक संयम साध्य विभूति का प्रयोजन है।

संस्कारविषयक संयम-साध्यविभूति-

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्[35]

संयम के द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगी को पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। संस्कार चित्त में रहते हैं। यदि योगी संयम करके संस्कारों का साक्षात्कार कर लेता है तो उसे अपने पूर्वजन्मों का प्रत्यक्ष करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। भाष्यकार जैगीषव्य-आवट्य संवाद से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है।[36]

पूर्वजन्म को जानने की शक्ति प्राप्त कर लेना ही संस्कार विषयक संयमसाध्यविभूति की उपादेयता है।

परज्ञानविषयकसंयम-साध्यविभूति- *प्रत्ययस्यपरचित्तज्ञानम्*[37]

प्रत्यय अर्थात् दूसरे के ज्ञान में संयम करने से योगी को दूसरे के चित्त में स्थित ज्ञान का अनुभव हो जाता है अर्थात् योगी दूसरे के मन की बात को जान लेता है। दूसरे के मन की बात को जान लेना ही इस विभूति की उपादेयता है।

कायरूपविशेषसंयम-साध्यविभूति- सांख्यदर्शन में शरीर को पाँच भौतिक तत्त्वों वाला कहा गया है। इस देह में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के पाँच गुण विद्यमान हैं। जब योगी शरीर के रूपादि किसी भी गुण का संयम-अभ्यास कर लेता है तो गुणों की ग्राह्य-शक्ति उसके वश में हो जाती है, जिससे साधक को अन्तर्धान नामक सिद्धि प्राप्त हो जाती है- *कायरूपसंयमात्तद्रूपग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुष्प्रकाशा-संयोगेऽन्तर्धानम्*[38]

इस सिद्धि के प्राप्त होने से योगी के सामने स्थित होने पर भी दर्शक समूह उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता। रूपस्तम्भन के समान ही रसस्तम्भन, गन्धस्तम्भन एवं शब्दस्तम्भन के कारण शब्दादि का भी अन्तर्धान जाना चाहिए।[39] यही इस विभूति की उपादेयता है।

सोपक्रम एवं निरूपक्रम कर्मविषयक संयमसाध्यविभूति-

सोपक्रम और निरूपक्रम के भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं।[40] सोपक्रम कर्म शीघ्र फलदाई होता है तथा निरूपक्रम विलम्ब से फल देने वाला होता है। योगसूत्रकार कहते हैं- *सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्मतत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्योवा*[41]

सोपक्रम एवं निरूपक्रम में संयम करने से अपरान्तज्ञान अर्थात् मृत्यु का ज्ञान हो जाता है अथवा अरिष्टो में अर्थात् मृत्युसूचक चिह्नों से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक भेद से अरिष्ट भी तीन प्रकार के होते हैं। आध्यात्मिक अरिष्ट- यथा कानों को अंगुलि से बन्द कर देने पर यदि शरीर की आन्तरिक ध्वनि सुनाई न दे तो समझ लेना चाहिए कि उसकी मृत्यु समीप है। आध्यात्मिक अरिष्ट जैसे- यथा यम दूत का दर्शन करना या मरे हुए पितृजनों का दर्शन भी मृत्यु के सन्निकट होने का सूचक है। आधिदैविक अरिष्ट यथा- अकारण ही स्वर्ग का अथवा सिद्धपुरुषों का दर्शन यह सब कुछ विपरीत दिखाई देना भी सन्निकट मृत्यु का सूचक है।[42] मृत्यु का पूर्वज्ञान होना ही द्विविध कर्मविषयक संयम साध्यविभूति की उपादेयता है।

त्रिविधभावना विषयकसंयम-साध्यविभूति-

मैत्र्यादिषु बलानि[43] मैत्र्यादि भावनाओं में संयम करने से तत्सम्बन्धी बल की प्राप्ति होती है। मैत्री करुणा और मुदिता यह तीन प्रकार की भावनाएँ हैं। सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री भावना करके मैत्री बल प्राप्त करता है। दु:खी जीवों के प्रति करुणा की भावना करके योगी करुणा बल प्राप्त करता है तथा पुण्यशील मनुष्यों के प्रतिमुदिता की भावना करके साधक मुदिता बल प्राप्त करता है।[44] उक्त भावनाओं का निरन्तर चित्त में प्रवाहित होना बहुत कठिन है। अत: इस विभूति को संयम साध्य कहा गया है। मैत्र्यादि बलों को प्राप्त करना ही त्रिविध भावना विषयक संयम साध्यविभूति की उपादेयता का कारण है।

हस्त्यादिविषयक संयम-साध्यविभूति- *बलेषु हस्तिबलादीनि*[45]

हस्ति आदि के बल में संयम करने से योगी को उनके सदृश बल की प्राप्ति हो जाती है। हस्ति, सिंह आदि सदृश बल प्राप्त करना ही उक्त विभूति की उपादेयता का कारण है।

प्रवृत्यालोकविषयक संयम-साध्यविभूति-

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्[46]

योगदर्शन के प्रथमपाद में मन को स्थिर करने वाली दो प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है- विषयवती और ज्योतिष्मती।[47] मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से उत्पन्न आलोक में संयम का अभ्यास करने योगी को सूक्ष्म, व्यवधान तथा दूरस्थ वस्तु का ज्ञान हो जाता है और यही इस विभूति की उपादेयता है।

सूर्यविषयक संयम-साध्यविभूति - *भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्*[48]

एक व्याख्याकार इस सूत्र का अर्थ करते हैं कि सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है।[49] एक अन्यभाष्यकार इसका अर्थ करते हैं- योगी शरीरस्थ नाड़ी में संयम करके समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[50] यही इस विभूति की उपादेयता का कारण है।

चन्द्रविषयक संयम-साध्य - *चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्*[51]

चन्द्रमा में संयम करने से योगी को तारक-समूह का ज्ञान हो जाता है। तारक-समूह का ज्ञान प्राप्त करना ही इस विभूति की उपादेयता है।

ध्रुवनक्षत्रविषयक संयम-साध्यविभूति- *ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्*[52]

ध्रुव नक्षत्र में संयम करने से योगी को नक्षत्रों की गति का ज्ञान हो जाता है। चन्द्रमा में संयम करने से नक्षत्रों का सामान्यज्ञान होता है। उसके पश्चात् ध्रुव नक्षत्र में संयम करने से उनकी गति का ज्ञान हो जाता है।[53] नक्षत्रों की गति का ज्ञान प्राप्त करना-ही इस विभूति की उपादेयता है।

नाभिविषयक संयम-साध्यविभूति- *नाभिचक्रेकायव्यूहज्ञानम्*[54]

नाभिचक्र में संयम का अभ्यास करने पर योगी को अपने शरीर में विद्यमान तीन दोषों एवं सप्तधातुओं की स्थिति का समुचित ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान ही इस विभूति की उपादेयता है। वात, पित्त एवं कफ- ये तीन दोष हैं। त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र (वीर्य) ये सप्त धातुएं हैं। व्यासभाष्य में धातुओं के क्रमिक विन्यास को प्रस्तुत किया गया है।[55]

कण्ठकूपविषयक संयम-साध्यविभूति- *कण्ठकूपेक्षुत्पिपासानिवृत्तिः*[56]

भूख प्यास आदि द्वन्द्वों से मुक्त होने के लिए योगी के द्वारा कण्ठ कूप में संयम का अभ्यास किया जाता है। जिह्वा के नीचे सूत की भाँति नस है, उसके नीचे कण्ठ है और कण्ठ के नीचे गर्त विशेष है, जिसे कण्ठ कूप कहते हैं।[57] यहीं से होकर अन्न-जलादि उदर में पहुँचते हैं। जब साधक इस कण्ठकूप में संयम का अभ्यास कर लेता है तो उसे भूख प्यास का अनुभव नहीं होता। भूख एवं प्यास से मुक्त होना ही इस विभूति को ग्रहण करने का मुख्य कारण है।

कूर्मनाड़ीविषयक संयम-साध्यविभूति- *कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्*[58]

कूर्मनाड़ी में संयम का अभ्यास करने पर योगी को स्थिरता प्राप्त होती है। यह स्थिरता प्राप्त करना ही इस सिद्धि की उपादेयता है। कण्ठकूप के नीचे उर:स्थल में कछुए के आकार की नाड़ीहोतीहै, उसमें संयम करने वाला योगी स्थिरता प्राप्त करता है। जैसे-साँप या गोह स्थिर हो जाते हैं।

मूर्धाज्योतिविषयक संयम-साध्यविभूति- *मूर्द्धज्योतिषिसिद्धदर्शनम्*[59]

मूर्धा में स्थित ज्योति में संयम करने से योगी को सिद्धों का दर्शन हो जाता है। सिर की खोपड़ी के अन्दर अवकाश में अत्यन्त चमकीला प्रकाश है, उसमें किए गए संयम से अन्तरिक्ष और पृथ्वी के बीच में चलने वाले सिद्धों का दर्शन होता है।[60] अन्तरिक्ष और पृथ्वी के बीच घूमने वाले अदृश्य सिद्धों का दर्शन योगी को हो जाता है। अदृश्य सिद्धों का दर्शन करना ही इस विभूति की उपादेयता है।

हृदयविषयक संयम-साध्यविभूति - *हृदयेचित्तसंवित्*[61]

हृदय में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार हो जाता है। जीव आत्मा एवं परमात्मा का निवास स्थान होने से शरीर को ब्रह्मपुर कहा जाता है। इस ब्रह्मपुर शरीर में एक कमलाकार गर्त है,जिसे हृदय कहा जाता है। उसमें चित्त का निवास है। अत: हृदय में संयम का अभ्यास होने पर योगी को चित्त का दर्शन हो जाता है,[62] यही इसकी उपादेयता है।

स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम-साध्यविभूति- *सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्*[63]

परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले बुद्धि एवं पुरुष में अभिन्नता का ज्ञान होना भोग है। यह ज्ञान बुद्धि की परार्थता के कारण होता है। इस भोग रूपी ज्ञान से भिन्न स्वार्थ में अर्थात् केवल मात्र पुरुष प्रत्यय में संयम करने से योगी को पुरुष का साक्षात्कार हो जाता है। पुरुष का साक्षात्कार करना ही इस विभूति का मुख्य प्रयोजन है। पुरुषसाक्षात्कार से योगी को छह सिद्धियों की प्राप्ति होती है -

ततःप्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताजायन्ते।[64]

तत: अर्थात् पुरुष साक्षात्कार से योगी को प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता- ये छह सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं।

बन्धकारण तथा प्रचार विषयक संयम-साध्यविभूति-

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्चचित्तस्यपरशरीरावेशः[65]

मन चंचल है, वह लम्बे समय तक एक स्थान पर स्थित हो कर नहीं रह सकता। शरीर में कर्माशय के कारण बन्धन में रहता है, क्योंकि शरीर की स्थिति कर्मभोग के कारण ही है। समाधि के द्वारा शरीर के निरपेक्ष होने से शरीर और चित्त का बन्धन शिथिल हो जाता है, जिससे योगी को चित्त की गति का ज्ञान हो जाता है और वह अपने चित्त को अपने शरीर से निकालकर दूसरे के शरीर में निक्षिप्त कर सकता है। इन्द्रियाँ चित्त का अनुगमन करती हैं। जहाँ चित्त जाता है, इन्द्रियाँ भी वही जाती हैं। भाष्यकार ने इस बात को मधुमक्खियों के उदाहरण से समझाया है।[66] इस विभूति की उपादेयता का यही कारण है- पर शरीर में चित्त के प्रविष्ट होने का सामर्थ्य प्राप्त करना।

उदानवायुविषयक संयम-साध्यविभूति-

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गउत्क्रान्तिश्च[67]

जब साधक उदानवायु में संयम का अभ्यास कर लेता है तो वह जल, कीचड़ और काँटे वाले स्थानों में सङ्गरहित अर्थात् जल में डूबता नहीं है, कीचड़ में धस्ता नहीं है और काँटों में फंसता नहीं है और इसी वायु में संयम करके योगी मृत्यु के पश्चात् ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। जल, कीचड़ और काँटे वाले स्थानों में असंग रहना तथा मृत्यु के पश्चात् ऊर्ध्वगति को प्राप्त करना ही इस विभूति की उपादेयता है।

समानवायुविषयक संयम-साध्यविभूति *-समानजयाज्ज्वलनम्*[68]

समान वायु में संयम का अभ्यास करके साधक का देह दीप्तिमान हो जाता है। योगी द्वारा स्वयं को दीप्तिमान करने का सामर्थ्य प्राप्त करना ही समान वायु विषयक संयम साध्यविभूति की उपादेयता है। उदरस्थ जठराग्नि समानवायु से घिरा रहता है, जिसके कारण जठराग्नि रोमकूपों से बाहर नहीं आ पाती। जठराग्नि के बाहर न आने से शरीर तेजरहित दृष्टिगोचर होता है। यदि इस विभूति का अभ्यास किया

जाए तो साधक सामान वायु के आवरण को हटाने में समर्थ हो जाता है, जिससे रोमकूपों से जठराग्नि का प्रकाश दिखाई देने से योगी का देह अग्नि के समान कान्तिमान दिखलाई पड़ता है।

श्रोत्राकाशसम्बन्धविषय कसंयम-साध्यविभूति-

श्रोत्राकाशयो: सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् [69]

आचार्यों ने श्रोत्रेन्द्रिय तथा आकाश का आधार-आधेय सम्बन्ध स्वीकार किया है।[70] इन दोनों के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दूरस्थ शब्दों के सुनने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। यही इस विभूति की उपादेयता है।

कायाकाशसम्बन्धविषयक अथवा तूलादिविषयक संयम-साध्यविभूति-

कायाकाशयो: सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् [71]

काय और आकाश का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है और लघु तूलादि पदार्थों तथा आकाश का भी व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध ही है। योगी यदि कायाकाश अथवा लघुतूलादि के सम्बन्ध में संयम का अभ्यास कर लेता है तो वह आकाशगमन करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने आकाशगमन के दो साधन बताएं हैं- कायाकाश सम्बन्धविषयक संयम और लघुतुलादिविषयक संयम। इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि इस सम्बन्ध में संयम करने से योगी का शरीर हल्का हो जाता है। हल्का होने से साधक जल पर भी पृथ्वी के समान विचरण करने में समर्थ हो जाता है। तत्पश्चात् मकड़ी के जाले के तन्तुओं में विचरण कर सकता है। उसके बाद सूर्य की किरणों में स्वेच्छा से विहार कर सकता है तथा सबसे अन्त में आकाश में स्वच्छन्दता से घूमने में समर्थ हो जाता है।[72] यही इस विभूति की उपादेयता है।

IV

महाविदेहाख्यवृत्तिविषयक संयम-साध्यविभूति-

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहातत:प्रकाशावरणक्षय: [73]

शरीर के बाहर चित्त की अकल्पित वृद्धि महाविदेहा कहलाती है। इस महाविदेहा वृत्ति को संयम द्वारा सिद्ध करने पर बुद्धि के आवरक अविद्यादि क्लेश, कर्माशय और विपाक का नाश हो जाता है। यह दो प्रकार की होती है। विदेहा या कल्पिता तथा अकल्पिता या महाविदेहा। भाष्यकार कहते हैं कि शरीर के बाहर मन की वृत्ति का होना भी विदेहा नाम की धारणा है। वह यदि केवल वृत्ति के द्वारा शरीर में ही स्थित रहने वाले मन की होती है तो वह कल्पिता कही जाती है किन्तु जो शरीर निरपेक्ष होकर परमात्मा की उपासना में ही स्थित मन की बाह्यवृत्ति होती है, वह अकल्पिता कहलाती है। साधक पुरुष कल्पितावृत्ति के द्वारा अकल्पितावृत्ति की साधना करते हैं, जो कि महाविदेहा कही जाती है। उसी महाविदेहा से साधक परशरीर में प्रवेश करते हैं और उस धारणा से प्रकाश स्वरूप बुद्धि सत्व के आवरक अविद्यादि क्लेश, कर्माशय तथा तत्विपाक (फल) नष्ट हो जाता है।[74] यही इस विभूति की उपादेयता है।

पञ्चभूतों के स्थूलादि पञ्चस्वरूपविषयक संयम-साध्यविभूति-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजय: [75]

पञ्चभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की शास्त्र में पाँच अवस्थाएं कही गई हैं- स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्ता। यदि साधक पृथ्वी आदिभूतों की पाँच अवस्थाओं में संयम कर लेता है तो वह भूतजयी हो जाता है। भूतजयी हो ना ही इस विभूति की उपादेयता है। भूतजयी होने पर योगी को अणिमादि आठसिद्धियों की प्राप्ति, शरीर सम्पत्ति और उन भूतों के धर्मों से अबाधि तत्व सिद्ध होता है-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव:कायसम्पत्तद्धर्मनिभिघातश्च [76]

इन्द्रियों के ग्रहणादि स्वरूपविषयक संयम-साध्यविभूति -

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजय: [77]

यदि योगी इन्द्रियों के ग्रहणस्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्वरूपों में संयम करता है तो उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं। अर्थात् वह इन्द्रियजयी हो जाता है। इन्द्रियजय का फल बताते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं-

ततोमनोजवित्वं विकरणभाव:प्रधानजयश्च [78]

इन्द्रियजयी होने पर योगी मनोजवित्व अर्थात् मन के समान ही शरीर भी द्रुतगति वाला हो जाता है। विकरणभाव अर्थात् साधक शरीर से अपनी इन्द्रियों को बाहर निकाल कर अभीष्टदेश-काल तथा सूक्ष्मविषयों तक पहुँचाकर उनका ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य योगी में आ जाता है। प्रधान जय अर्थात् प्रकृति के सम्पूर्ण विकारों अर्थात् अहंकार से लेकर प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का स्वामित्व प्राप्त होना।[79] इस प्रकार इन्द्रियों के पञ्चरूपों में संयम करने से इन्द्रियजयी होना ही इन्द्रिय ग्रहणादि रूप विषयक संयम साध्यविभूति की उपादेयता है।

सत्वपुरुषान्यताख्याति विषयक संयम-साध्यविभूति-

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्यसर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च [80]

जब साधक सत्व पुरुषान्यता ख्याति में संयम करके प्रकृति और पुरुष के भेद को जान लेता है तब वह सम्पूर्ण पदार्थों का अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है, यही इस विभूति की उपादेयता है।जितने भी ज्ञानात्मक और ज्ञेयात्मक पदार्थ हैं, वे सब विवेक ख्यातिनिष्ठ योगी के समक्ष भोग्य और दृश्यरूप में उपस्थित हो जाते हैं। उस योगी को भूत, भविष्य और वर्तमान का युगपत्प्रत्यक्ष हो जाता है। विवेक-ज्ञान से योगी के सभी क्लेश और धर्माधर्म बन्धन क्षीण हो जाते हैं और वह स्वामी होकर सर्वत्र विचरण करने में समर्थ हो जाता है।[81]

क्षण और उसके क्रमविषयक संयम-साध्यविभूति-

तद् वैराग्यादपि दोषबीगक्षये कैवल्यम् [82]

सत्त्वपुरुषान्यताख्याति का साधन है वशीकार संज्ञक वैराग्य। परवैराग्य के द्वारा दोषबीजों क नाश होने पर चरमलक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अन्तिम लक्ष्य कैवल्य प्राप्त कराने के कारण यह विभूतिउपादेय है। महर्षि पतञ्जलि ने सत्त्वपुरुषान्यताख्याति विषयक संयम के अतिरिक्त क्षण और उसके क्रमविषयक संयम को विवेक ज्ञान को साधन स्वीकार किया है–

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्[83]

इस प्रकार प्रस्तुत शोधपत्र में पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित विविध प्रकार की विभूतियों एवं उनकी उपादेयता का विवेचन किया गया है। उक्त विभूतियों को प्राप्त करके साधक को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह कैवल्यप्राप्ति के मार्ग का सम्यक् अनुसरण कर रहा है। अन्त में, कैवल्यप्राप्ति के लिए साधक को इन विभूतियों से भी आसक्ति को हटाना पड़ता है, क्योंकि इन विभूतियों की प्राप्ति साधक के चित्त में आत्मविश्वास जाग्रत करती हैं तथा योगसाधना के प्रति आस्था को बढ़ाती हैं। यदि साधक इन विभूतियों को प्राप्त करके उन्हीं में रममाण हो जाता है तो वह अग्रिम तथा योगसाधना के चरमलक्ष्य से विरत हो जाता है और अन्तिम तथा परमलक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता है। अतः मुमुक्षु को विभूतियों के प्रयोजन को भली–भाँति समझकर योगमार्ग का अनुसरण करना चाहिए, यही विभूतियों की वास्तविक उपादेयता है।

सन्दर्भ सूची –

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.945
2. योगसूत्र, 2.20
3. योगसूत्र, 3.7
4. योगसूत्र, 2.30
5. योगसूत्र, 2.35
6. वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्ववैशारदी, पृ.260
7. योगसूत्र, 2.35
8. योगसूत्र, 2.36 पर व्यासभाष्य
9. योगसूत्र, 2.37
10. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.846
11. रघुवंशम्, मल्लिनाथकृत सञ्जीवनी टीका–16.1 से उद्धृत
12. योगसूत्र, 2.38
13. यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति।
    सिद्धश्च विनयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।
14. योगसूत्र, 2.39
15. (यस्य जन्मकथन्तासंबोधः) अस्य भवति । कोऽहमासं कथं वा भविष्यामः–इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तत।
16. योगसूत्र, 2.32
17. तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्,आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।
18. योगसूत्र, 2.40
19. योगसूत्र, 2.41
20. योगसूत्र, 2.42
21. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
    तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् इति
22. योगसूत्र, 2.43
23. योगसूत्र, 2.44
24. योगसूत्र 2.44 पर व्यासभाष्य
25. योगसूत्र, 2.45
26. योगसूत्र, 2.48
27. योगसूत्र 2.44 पर व्यासभाष्य
28. योगसूत्र, 2.52
29. योगसूत्र, 2.53
30. योगसूत्र 2.52 पर व्यासभाष्य
31. योगसूत्र, 3.4
32. योगसूत्र, 3.5
33. योगसूत्र, 3.16
34. योगसूत्र, 3.17
35. योगसूत्र, 3.18
36. योगसूत्र, 3.18 पर व्यासभाष्य
37. योगसूत्र, 3.19
38. योगसूत्र, 3.21
39. योगसूत्र, 3.21 पर व्यासभाष्य
40. योगसूत्र, 3.22 पर व्यासभाष्य
41. योगसूत्र, 3.22
42. योगसूत्र, 3.22 पर व्यासभाष्य
43. योगसूत्र, 3.23
44. योगसूत्र, 3.23 पर व्यासभाष्य
45. योगसूत्र, 3.24
46. योगसूत्र, 3.25
47. योगसूत्र, 1.35–36
48. योगसूत्र, 3.26
49. पातञ्जलयोगदर्शनम्, पृ.404
50. पातञ्जलयोगदर्शनभाष्यम्,
    व्याख्या.आ.राजवीर शास्त्री,
    आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 393
51. योगसूत्र, 3.27
52. योगसूत्र, 3.28
53. योगसूत्र, 3.28 पर व्यासभाष्य
54. योगसूत्र, 3.29
55. योगसूत्र, 3.29
    पर व्यासभाष्य
56. योगसूत्र, 3.30
57. जिह्वाया अधस्तात्तन्तुस्तन्तोरधस्तात्कण्ठ-
    स्ततोऽधस्तात्कुपस्तत्र संयमात्क्षुत्पिपासेन बोधेते।
58. योगसूत्र, 3.31
59. योगसूत्र, 3.32
60. योगसूत्र, 3.32
    पर व्यासभाष्य
61. योगसूत्र, 3.34
62. योगसूत्र, 3.34
    पर व्यासभाष्य
63. योगसूत्र, 3.35
64. योगसूत्र, 3.36
65. योगसूत्र, 3.38
66. योगसूत्र, 3.38
    पर व्यासभाष्य
67. योगसूत्र, 3.39
68. योगसूत्र, 3.40
69. योगसूत्र, 3.41
70. वाचस्पतिमिश्रकृत,
    तत्त्ववैशारदी, पृ.358
71. योगसूत्र, 3.41
72. योगसूत्र, 3.42
73. योगसूत्र, 3.43
74. योगसूत्र, 3.44
    पर व्यासभाष्य
75. योगसूत्र, 3.44
76. योगसूत्र, 3.45
77. योगसूत्र, 3.47
78. योगसूत्र, 3.48
79. योगसूत्र, 3.48
    पर व्यासभाष्य
80. योगसूत्र, 3.49
81. योगसूत्र 3.49
    पर व्यासभाष्य
82. योगसूत्र, 3.50
83. योगसूत्र, 3.52

ISSN 2278 - 0327

जम्मू-कश्मीर विवाद एवं अंत

डॉ. अर्चना चौहान
व्याख्याता (राजनीतिशास्त्र)
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

जम्मू कश्मीर समस्या और वर्तमान संस्कृत साहित्य में कश्मीर सुषमा का अनेक प्रकार से मनोहरी वर्णन किया गया है। प्रकृति की प्यार भरी गोद में पला हुआ कश्मीर आज तक अनेक भारतीय नरेशों की क्रीड़ा तथा विहार भूमि रहा है। महाराज अशोक ने इस भू-भाग को अपनी कलाप्रियता के कारण उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था। बाद में मुगलों ने इसे अधिकार में ले लिया, उनसे महाराज रणजीत सिंह ने छीन लिया, तब से आज तक इस प्रकृति के हरे-भरे प्रांगण पर डोंगरा नरेशों का आधिपत्य रहता आया। भारत की वही स्वर्ण भूमि आज राजनैतिक दुर्दशा के कारण त्राहि-त्राहि कर रही है। यद्यपि उसने आज तक ऐसे अनेक उत्थान पतन देखे हैं परन्तु आज भी उसका छिन्न-भिन्न शरीर असीम वेदना से चित्कार कर उठा है। अंग्रेज यहाँ से गये तो सही, परन्तु विष के ऐसे बीज बो गये, जिनके कटुफल आज भी मनुष्य को मृत्यु के मुँह में धकेल रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जहां भारत के सामने अन्य समस्यायें थीं। लेकिन लौह पुरूष सरदार पटेल की कुशाग्र बुद्धि ने इस समस्या को बहुत जल्दी सुलझा दिया था।

15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। एक देश दो देशों में विभक्त हुआ। स्वतंत्र देशी रियासतों को छूट दी गई कि वे जिधर चाहें उधर मिल सकती हैं, चाहे हिन्दुस्तान की ओर चाहे पाकिस्तान की ओर, जो देशी रियासतें भारत या पाकिस्तान के बीच पढ़ती थी उनके ऊपर तो इस बात का कोई विशेष प्रभाव नहीं था, क्योंकि वे तो बीच में होने के कारण किसी दूसरे के साथ गठबंधन कर ही नहीं सकती थीं, परन्तु कश्मीर ऐसा राज्य था, जिसकी सीमायें एक और भारत को तथा दूसरी ओर पाकिस्तान को छू रही थीं। समस्या इसलिए कुछ गंभीर थी कि कश्मीर की बहुत बड़ी जनसंख्या मुसलमान थी तथा राजा हिन्दू था। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम के अनुसार राजा को यह चुनने का अधिकार था कि वह भारत या पाकिस्तान किसी के भी साथ मिल सकता है। कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने अपनी तटस्थ नीति की घोषणा की अर्थात् वे पाकिस्तान से मिलना चाहते थे और न हिन्दुस्तान में। इधर हैदराबाद के सामने, जहां की 90 प्रतिशत जनता हिन्दू थी, परन्तु राजा मुसलमान था और भारत के बीच में फंस जाने के कारण उसके पास भारत वर्ष में मिलने के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं था। लेकिन पाकिस्तान कश्मीर को अपने कब्जे में रखना चाहता था। इसलिए उसने कश्मीर को कब्जे में करने की योजना बनाई।

भारत विभाजन से जो अनेक समस्याएं खड़ी हुई हैं, कश्मीर की समस्या भी उनमें से एक है। कश्मीर की समस्या न केवल भारत एवं पाकिस्तान के बीच सीमा विवाद की समस्या है। बल्कि यह भारत और पाकिस्तान के विभाजन के मूल आधार और तर्क-धर्म के आधार पर हिन्दू राष्ट्र को फिर से जीवित बनाए रखने का आधार भी है। कश्मीर की समस्या केवल भारत और पाकिस्तान के बीच की नहीं है। बल्कि पश्चिम के साम्राज्यवादी राष्ट्रों को उन दुष्ट चालों का भी साधन है, जो भारतीय जनमानस को 1947 से पूर्व तक भी कमजोर और विवादग्रस्त बनाकर उसका शोषण करते रहे और इतने वर्षों में भारत और पाकिस्तान को राजनीतिक, स्वतंत्रता देकर भी आर्थिक-दृष्टि से शोषण करते रहे हैं, और आगे भी ऐसा ही करते रहना चाहते हैं। इस प्रकार कश्मीर समस्या केवल राजनीतिक समस्या ही नहीं है बल्कि यह राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक दृष्टि से साम्राज्यवादी शोषण का प्रतीक रूप है। दुर्भाग्य यह है कि भारत और पाकिस्तान के राजनीतिज्ञ अपने हितों को पूरी तरह से न समझ पाने और एक-दूसरे का पक्ष नहीं समझ पाने के कारण आपस में बराबर टकराते रहे हैं तथा इसमें 1947 की मुठभेड़ के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच बल्कि दक्षिण एशिया यहाँ तक कि भारत और पाकिस्तान से जुड़ी हुई समस्या विश्व राजनीति और संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए भी येन-केन प्रकारेण विचारणीय मुद्दा बना हुआ है।

कश्मीर समस्या का इतिहास - भारत का जम्मू कश्मीर राज्य तीन भागों से मिलकर बना हुआ है। जम्मू, कश्मीर और लद्दाख।

यह राज्य ब्रिटिश शासन के समय ही एक राजनीतिक इकाई के रूप में गठित हो गया था। शेख अब्दुल्ला ने 1939 में नेशनल कांग्रेस पार्टी का गठन किया और 1946 में कश्मीर छोड़ो, आन्दोलन चलाया जो कश्मीर के महाराज के लिए चुनौती थी। भारतीय कांग्रेस पार्टी ने शेख अब्दुल्ला को पूर्ण समर्थन दिया। 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ तो कश्मीर के महाराजा भारत या पाकिस्तान में कश्मीर विलय को लेकर कोई निर्णय नहीं ले पाय। 22 अक्टूबर 1947 को उत्तरी सीमा प्रांत के कबाइलियों के साथ मिलकर पाकिस्तानियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। 26 अक्टूबर 1947 को तत्कालीन महाराजा ने भारत सरकार से सैनिक सहायता की मांग की तथा कश्मीर को भारत विलय करने की प्रार्थना की। भारत सरकार ने कश्मीर को भारत में मिला लिया और सैनिक सहायता पहुंचाकर कबाइलियों को खदेड़ दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव पर 01 मई 1949 की मध्य रात्रि को युद्ध विराम लागू हो गया। फलस्वरूप कश्मीर का 32 हजार वर्गमील क्षेत्र पाकिस्तान के पास रह गया जिसे पाकिस्तान आजाद कश्मीर कहा जाता है तथा 53 हजार वर्गमील क्षेत्र भारत के पास रहा जो भारत में जम्मू एवं कश्मीर है। महाराजा ने इस संबंध को हल करने हेतु शेख अब्दुल्ला को मार्च 1948 में कश्मीर का प्रधानमंत्री नियुक्त किया तथा कश्मीर राज्य के लिए संविधान बनाने के लिए संविधान सभा के निर्माण की घोषणा की। 20 जनवरी 1951 को सभा ने एक अंतरिम संविधान स्वीकार किया जिसमें महाराज की शक्तियों को समाप्त कर दिया गया। फरवरी 1954 में संविधान सभा ने कश्मीर के भारत विलय की पुष्टि कर दी। 26 जनवरी 1957 को जम्मू कश्मीर का संविधान लागू हो गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 के अंतर्गत जम्मू कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा दिया गया। जम्मू कश्मीर एकमात्र ऐसा राज्य है जिसका अपना एक संविधान है। इस संविधान की प्रस्तावना में जम्मू कश्मीर के विलय की बात की गई। यह भी कहा गया है कि जम्मू कश्मीर भारत संघ का अखण्ड भाग है और रहेगा तथा अनुच्छेद 370 के द्वारा कश्मीर में स्थाई रूप से रहने वालों को विशेष स्थिति प्रदान की गई है। इस स्थिति के अनुसार वहाँ के निवासी भारत के किसी भी प्रांत में निवास कर सकते हैं, सेवा कर सकते हैं, संपत्ति खरीद सकते हैं किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों के नागरिक कश्मीर में न स्थाई रूप से रह सकते हैं न कश्मीर शासन की सेवा में शामिल हो सकते हैं और न वहाँ जमीन खरीद सकते हैं।

पाकिस्तान का विरोध– कश्मीर का भारत में यह विलय पाकिस्तान सरकार को प्रारंभ से ही अखरता रहा है। 1947 के बाद की पाकिस्तान की सरकारें भारत के अधीन कश्मीर पर भी अपना दावा प्रस्तुत करती रही हैं तथा उन्होंने 1947, 1965, 1971 एवं 1999 में भारत के साथ युद्ध किया है, हालाँकि उसे हर बार पराजित होना पड़ा है। पाकिस्तान सरकार अब सीधे युद्ध को बंद कर कश्मीर के युवकों को गुमराह कर अपनी सेना को उग्रवादी एवं आतंकवादी बनाकर अपने यहां के प्रशिक्षण शिविरों में उन्हें प्रशिक्षण देकर तथा उन्हें हथियारों से लैसकर न केवल जम्मू कश्मीर सीमा में बल्कि अन्य राज्यों की सीमाओं में भी प्रवेश कराकर उग्रवाद का संचालन कर रही है। पाकिस्तान कश्मीर के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर जनमत संग्रह की मांग करता रहा है। भारत का पक्ष यह रहा है कि 1947 में जिन स्वतंत्र रियासतों के शासकों ने भारत में अपने आपको विलय करने का प्रस्ताव भेजा उनको भारत संघ में स्वीकार कर लिया गया। आजादी से पूर्व भारत और पाकिस्तान के विभाजन से संबंधित कानून की यह स्थिति थी और उसी के अनुसार कश्मीर के शासक के अनुरोध पर कश्मीर को भी भारत में शामिल कर लिया गया, अत: अन्य राज्यों की तरह कश्मीर भी भारत का अंग है तथा पाकिस्तान द्वारा दबाया गया कश्मीर भी भारत को मिलना चाहिए।

शिमला समझौता – भारत और पाकिस्तान के बीच जब तीन युद्धों से ही स्थिति नहीं सुलझ पाई तो भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री जुल्फीकार अली भुट्टो के बीच शिमला में सन् 1972 में एक ऐतिहासिक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत निर्णय यह लिया गया कि कश्मीर समस्या को भारत और पाकिस्तान आपस में मिलकर ही सुलझाऐंगे तथा इस समस्या को न अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उठाया जाएगा, न संयुक्त राष्ट्र में किसी अन्य राष्ट्र को इसके समाधान हेतु शामिल किया जाएगा। पिछले लगभग 48 वर्षों में शिमला समझौते के अन्तर्गत भारत और पाकिस्तान के बीच प्रधानमंत्रियों से लेकर अधिकारी स्तर पर बराबर बातचीत होती रही है। भारत और पाकिस्तान के बीच नागरिकों के आने–जाने तथा व्यापारिक संबंधों को लेकर समस्याएं सुलझीं भी हैं, किन्तु पाकिस्तान में भारत विरोध को अपनी आंतरिक राजनीतिक समस्या बनाकर इसे अपने चुनावों में और चुनावों के बाद भी पाकिस्तानी राजनेताओं द्वारा उठाया जाता रहा है। इस प्रकार पाकिस्तान के बहुत से आम चुनाव स्थानीय नागरिकों के मत प्राप्त करने के उद्देश्य से कश्मीर समस्या से जूझते रहे हैं। आज स्थिति यह भी है कि पाकिस्तान की अपनी राजनीति में और अंतर्राष्ट्रीय

राजनीति में वहाँ का कोई भी राजनेता कश्मीर समस्या को उठाने से नहीं चूकता।

कश्मीर समस्या के विविध पक्ष - कश्मीर की समस्या के मुख्य रूप से तीन पक्ष हैं, भारतीय पक्ष, दूसरा पाकिस्तानी और तीसरा अंतर्राष्ट्रीय। भारत के लिए यह एक घरेलू मामला है किन्तु पाकिस्तान के लिए यह घरेलू राजनीति का विषय होने के साथ-साथ इसे अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप देने का प्रयास करने के कारण यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का भी विषय है। भारत का दावा है कि न केवल भारत के अधीन कश्मीर का भू-भाग भारत का अपना है बल्कि 1947 में पाकिस्तानी सेना के सहयोग से कबाइलियों के द्वारा अधिग्रहित 32 हजार वर्गमील का क्षेत्र भी उनका अपना ही है जो दरअसल भारत को प्राप्त होना चाहिए। 1947 में भारत और पाकिस्तान के बीच भारतीय सेना के विभाजित होने के जो विधि संबंधी मानदंड थे उनके अनुसार सारा कश्मीरी क्षेत्र भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए था क्योंकि तत्कालीन कश्मीर के राज्य ने भारत में सम्मिलित होने पर सहमति व्यक्त की थी। भारत का दूसरा पक्ष यह है कि 1971 में भारत और पाकिस्तान के बीच जो शिमला समझौता हुआ है उसके अनुसार दोनों देश को आपास में मिल बैठकर इस मसले को सुलझा सकते हैं किसी भी देश द्वारा इसको अंतर्राष्ट्रीय विवाद के रूप में जाना जाता है। भारत का इस समस्या के संबंध में तीसरा पक्ष यह भी है कि इसे भारत के संविधान की धारा 370 के अंतर्गत जो एक विशेष प्रदेश का दर्जा दिया गया है उसे अब बदला जाए तथा इसे अन्य प्रदेशों की तरह ही भारत संघ का पूर्ण सम्बद्ध प्रदेश बना लिया जाये। धारा 370 के संबंध में भी भारत के राजनीतिक दलों में विवाद है।

कश्मीर की समस्या पाकिस्तान के लिए घरेलू है क्योंकि वहां के प्रमुख विपक्षी दल तथा अन्य मुस्लिम एवं कट्टर पंथी राजनीति एवं गैर-राजनीतिक संगठन भारत के पक्ष को लेकर भारत विरोधी एवं हिन्दू विरोधी राजनीति को हवा देते रहते हैं तथा उसके आधार पर वोट प्राप्त करने की राजनीति करते हैं। इस प्रकार वहां की संसद में समाचार पत्रों में एवं राजनीतिक तथा धार्मिक सभाओं में प्राय: यह मुद्दा उठता ही रहता है। पाकिस्तान का नेतृत्व अपने देश की अन्य आधारभूत सामाजिक आर्धिक समस्याओं से जनता का ध्यान हटाकर कश्मीर समस्या की ओर ध्यान खींचते हुए वे इस समस्या को हरा ही बनाए रखना चाहते हैं। वहां के राजनीतिक दलों पर बराबर यह दबाव रहता है कि वो कश्मीर समस्या को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कितना उठा सकते हैं।

पाकिस्तान के लिए कश्मीर एक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति करने का भी माध्यम है क्योंकि वे साम्राज्यवादी शक्तियाँ जो दक्षिण एशिया को अविकसित रखकर उसका दोहन करते रहना चाहती हैं तथा भारत और पाकिस्तान को मित्र राष्ट्र के रूप में देखना ही नहीं चाहती वे सुलगती हुई कश्मीर समस्या को लेकर दोनों देशों को लड़ाए रखना चाहती हैं। विगत में तीन युद्धों में पाकिस्तान को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग मिलता रहा है तथा पाकिस्तान बहुत से हथियार विकसित देशों से खरीदता रहा है। इस प्रकार पाकिस्तान कुछ विकसित देशों का मोहरा बनकर कश्मीर समस्या के माध्यम से उनका एवं विश्व के अन्य देशों का ध्यान आकृष्ट करता रहता है। पाकिस्तान कश्मीर समस्या को हिन्दू और मुस्लिम समस्या के रूप में भी प्रस्तुत कर मुस्लिम राष्ट्रों तथा उनके संघ का ध्यान आकर्षित करता रहता है तथा मुस्लिमों को भारत के विरोध में एवं अपने पक्ष में करता रहता है। कुछ मुस्लिम राष्ट्र पाकिस्तान का सहयोग करते हैं तो कुछ उदारवादी देश तटस्थ रहते हैं या भारत का समर्थन भी करते हैं।

कश्मीर समस्या का तीसरा संबंध अंतर्राष्ट्रीय भी है जो भारत और पाकिस्तान को आपस में भिड़ाकर इन दोनों देशों को सामरिक साम्रगी और वस्तुओं का निर्यात कर अपने व्यापार को बढ़ाना चाहते हैं अथवा दक्षिण एशिया की राजनीति में चौधराहट करना चाहते हैं। इस प्रकार बहुत से देश कश्मीर समस्या का समाधान चाहते ही नहीं क्योंकि इससे उनके आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति की संभावना समाप्त हो जाती है।

भारत और पाकिस्तान कश्मीर को लेकर पिछली शताब्दी से आपस में उलझे हुए थे बल्कि सामरिक तनाव को बढ़ाते हुए वे विदेशी शक्तियों के युद्ध व्यापार एवं अन्य राजनीतिक सौदेबाजी के भी चंगुल में थे। भारत सरकार पाकिस्तान की राह से पहले तो पंजाब में चल रहे आतंकवाद से परेशान रही। वाजपेयी सरकार ने यह स्पष्ट किया कि पाकिस्तान भारत का महत्वपूर्ण पड़ोसी देश है इसलिये उसके साथ पहल करके ही सही तनाव को समाप्त कर मधुर संबंध बनाने चाहिए। इसलिए पिछले कई वर्षों से दोनों देशों के बीच टूट पड़े संवाद के सिलसिले को फिर से शुरू किया गया है। इसी प्रक्रिया में भारत पाकिस्तान की जनता के बीच सहज आवागमन के लिए दिल्ली और लाहौर के बीच बस व्यवस्था प्रारंभ करने की योजना तय हुई और उसमें पहली बस यात्रा के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी पाकिस्तान गए तथा पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने उनकी आगवानी की। इसके बाद दोनों देशों के बीच संबंधों को सामान्य बनाने के लिये लाहौर में एक समझौता हुआ जिसे लाहौर घोषणा पत्र नाम दिया

गया। 1971 में दोनों देशों के बीच शिमला में हुए शिखर सम्मेलन के बाद यह दूसरा महत्वपूर्ण कदम था।

लाहौर घोषणा पत्र में यह तय किया गया कि दोनों देशों की सरकारें सभी मुद्दों को सुलझाने के लिए प्रयास तेज करेंगी। हर तरह के आतंकवाद के मामले में एक दूसरे पर दोषारोपण करने के बजाय विश्वास का वातावरण बनाने की दिशा में काम करने का संकल्प व्यक्त किया तथा दोनों देशों ने शांति और सुरक्षा को ही अपना सर्वोच्च राष्ट्रीय हित संयुक्त रूप से स्वीकार किया।

कश्मीर में लड़ा गया चौथा युद्ध - कारगिल लाहौर घोषणा पत्र की स्याही सूखी भी नहीं थी कि कश्मीर की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर खन्दकों में बारूद बिछाने लगा। पाकिस्तान सेना ने आतंकवादियों को साथ लेकर कश्मीर की भारतीय सीमा में श्रीनगर कारगिल-लेह राजमार्ग के आसपास की पहाड़ियों में मोर्चा ले लिया तथा आपस में विश्वास को एक बार फिर बारूद के गोलों से ध्वस्त कर दिया, इस प्रकार शांति के स्थान पर भारत पर चौथा कश्मीर युद्ध थोप दिया, कहां तो सोचा था कि भारत और पाकिस्तान आपसी सहयोग से अपनी-अपनी गरीब जनता के दुख दर्द को कम करने की कोशिश करेंगे तथा विकसित राष्ट्रों के आर्थिक राजनीतिक दबाबों से अपने आपको मुक्त करेंगे और कहाँ इस अप्रत्याशित युद्ध ने आपसी विश्वास के बीच बारूद की सुरंगें बिछा दीं। इस युद्ध में पाकिस्तान फिर पराजित हुआ। जानमाल की काफी क्षति होने तथा अंतर्राष्ट्रीय दबावों के कारण पाकिस्तान की पराजित सेना को भारत सीमा छोड़नी पड़ी। किन्तु कारगिल युद्ध को लेकर पाकिस्तान की राजनीति एवं सेना के बीच गहरा मतभेद रहा जिसके परिणामस्वरूप प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने सेना के प्रमुख जनरल परवेज मुशर्रफ को बर्खास्त कर दिया तो मुशर्रफ ने नवाज शरीफ की सरकार का तख्ता पलट दिया मुशर्रफ के शासनकाल में ही भारतीय संसद पर आतंकवादी हमला हुआ तथा करीब छह माह तक भारत और पाकिस्तान की सेनाएं आमने-सामने डटी रहीं किन्तु अब पाकिस्तान में जनरल मुशर्रफ द्वारा इस प्रकार से राजनीतिक वैधता प्राप्त कर लेने के बाद वहाँ राजनीतिक संघर्ष का तनाव कम हो गया है। इसलिए दक्षेस के इस्लामाबाद सम्मेलन (2004) के बाद भारत-पाक रिश्तों में तनाव शिथिल करने की शुरूआत हुई है तथा कश्मीर के मुद्दे को गौणता प्रदान की गई। मुशर्रफ शासन के बाद जरदारी शासन में ताज हमले के बाद भारत-पाक रिश्तों में तनाव शिथिल करने की शुरूआत हुई है तथा कश्मीर के मुद्दे को गौणता प्रदान की गई। मुशर्रफ शासन के बाद जरदारी शासन में मुंबई में ताज हमले के बाद भारत-पाक संबंधों में तनाव तो रहा किन्तु कश्मीर मुद्दा अपेक्षाकृत शांत रहा तथा भारत और पाकिस्तान के बीच आर्थिक सांस्कृतिक संबंधों को बढ़ावा दिया गया दोनों देशों के बीच बाड़मेर से रेलगाड़ी पुन: शुरू की गई।

अनुच्छेद 370 क्या है- यह जम्मू कश्मीर और उनके नागरिकों को विशेष दर्जा और व्यवहार प्रदान करता था। भारत में विलय के छ: वर्ष बाद अनुच्छेद 370 को भारतीय संविधान ने 1949 में शामिल किया गया था। इस अनुच्छेद के अनुसार रक्षा, विदेश, वित्त और संचार मामलों को छोड़कर किसी भी मामले में कानून बनाने के लिए जम्मू-कश्मीर सरकार की सहमति जरूरी हो गई थी। अनुच्छेद 360 केन्द्र सरकार को राज्य में वित्तीय आपातकाल घोषित करने का अधिकार देता था, लेकिन अनुच्छेद 370 कश्मीर में ऐसा करने से रोकता था। केन्द्र सरकार यहाँ केवल युद्ध की सूरत में वित्तीय आपातकाल लगा सकती थी। यह अनुच्छेद राज्य को अलग संविधान और झंडा रखने के अलावा भी कई रियायतें देता था।

अनुच्छेद 35-ए क्या है ? - अनुच्छेद 35-ए पर पंडित नेहरू और राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री शेख अब्दुल्ला ने 1954 में हस्ताक्षर किये थे। इसके तहत राज्य सरकार को यह तय करने का अधिकार मिल गया कि किसे राज्य में रहने का अधिकार है। वही लोग नागरिक कहलाए जो यहाँ 10 वर्षों से रह रहे थे। अगर कोई राज्य का नागरिक नहीं था तो वह यहां संपत्ति या जमीन नहीं खरीद सकता था, जो लोग लोकसभा चुनाव में मतदान कर सकते थे, वे नगर पालिका और राज्य चुनाव में नहीं कर सकते थे। कश्मीरी महिला किसी गैर कश्मीरी से विवाह कर ले तो संपत्ति उत्तराधिकार के भारतीय कानून यहां लागू नहीं होते थे। इसके अलावा 377 भी जिसे सुप्रीम कोर्ट ने रद्द कर दिया है, जम्मू कश्मीर में लागू नहीं होता।

अनुच्छेद 370 के अंत से क्या होगा ? - सरकार ने अनुच्छेद 370 को खत्म किया है, तो इसके साथ ही अनुच्छेद 35 ए का भी समापन हो गया है। इसके अर्थ है, भारत का कोई भी नागरिक अब जम्मू कश्मीर में बसने में समर्थ होगा वहां जमीन या संपत्ति खरीद सकेगा और भारत के अन्य सभी राज्यों की तरह यहां भी संपत्ति पर उत्तराधिकार के कानून लागू होंगे। केन्द्र सरकार अनुच्छेद 370 के खात्मे से भी एक कदम आगे बढ़ गई है। राज्य को दो भागों में बाँटने का निर्णय लिया गया ये दोनों ही भाग केन्द्र शासित प्रदेश होंगे। जम्मू कश्मीर अपनी विधानसभा के साथ एक केंद्र शासित प्रदेश होगा, जबकि केंद्र शासित प्रदेश लद्दाख में विधान

सभा नहीं होगी। जम्मू कश्मीर में शासन दिल्ली के स्थानीय शासन की तरह चलेगा। यहाँ सत्ता भारत-पाक रिश्तों में तनाव शिथिल करने की शुरूआत थी। शक्ति लेफ्टिनेंट गवर्नर और मुख्यमंत्री के बीच बंटी हुई होगी, जबकि लद्दाख का संचालन चंडीगढ़ की तरह होगा यहाँ लेफ्टिनेंट गवर्नर शासन के मुखिया होंगे।

कश्मीर समस्या कोई जमीन का झगड़ा नहीं है, पाकिस्तान हमसे कश्मीर पर इसलिए नहीं लड़ रहा कि उसे कश्मीर मिलने की उम्मीद है, पाकिस्तान इसलिए लड़ रहा है कि वह चाहता है कि भारत के माथे पर कश्मीर का घाव कभी सूखने न पाए और भारत अपने संसाधनों और अपनी ऊर्जा का बड़ा हिस्सा इस पर खर्च करता रहे। परमाणु शक्ति हासिल करने के बाद से पाकिस्तान यह भी मानता है कि भारत के साथ उसके पारंपरिक युद्ध की संभावनाएं खत्म हो चुकी हैं।

कश्मीर समस्या मूलत: राष्ट्रवाद के जहर से जन्मी है। यह दुर्भाग्य है कि भारत और पाकिस्तान का विभाजन होने के बाद भी ये दोनों देश मित्र भाव से नहीं रह सके और बराबर तनाव से ग्रस्त रहे। दरअसल दोनों ही राष्ट्रों के शासकों और दोनों ही देशों की जनता को आपस में भिड़ाकर अंतर्राष्ट्रीय शक्तियाँ अपनी राजनीति करती रही हैं अर्थात् इस समस्या को अनेक स्तरों पर उलझाती रही हैं। अब इन शक्तियों के स्वार्थ इस समस्या से अनेक दृष्टियों से जुड़ गए हैं। भारत और पाकिस्तान में पहले से ही सांप्रदायिक समस्याएं मौजूद रही हैं। भारत में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई संप्रदायों में तथा कुछ मसलों पर तो हिन्दुओं और मुसलमानों के भी अलग-अलग पेशों में टकराहटें दिखाई देती हैं। इसी तरह पाकिस्तान में शिया सुन्नी और मूल मुस्लिम तथा मुहाजिदों के बीच विवाद जारी है। इन आंतरिक कलहों से दोनों देशों की अर्थव्यवस्थाओं राजनीतिक और सामाजिक जीवन में समस्या बनी रहती है। अत: दोनों देशों को अपनी जनता के विकास के हित में अपने उस काले इतिहास को हटाना होगा जो ब्रिटिश शासकों की चाल से सांप्रदायिक भेदभाव के रूप में खड़ा किया गया था। इसके साथ ही दोनों देशों को उन नव साम्राज्यवादी शक्तियों को भी समझना होगा जो येन-केन प्रकारेण दोनों देशों को अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु भड़काती रहती हैं।

दरअसल भारत और पाकिस्तान की आर्थिक सामाजिक समस्याएं इतनी जुड़ी हुई हैं कि दोनों देशों की राजनीति को आपस में मिल-बैठकर संकल्पित मानस से कश्मीर जैसे मसले को तो सुलझाना ही चाहिए बल्कि दो पड़ोसी विकासशील देशों के बीच आर्थिक-सामाजिक, सांस्कृतिक आदान-प्रदान के रिश्ते अधिक मजबूत करने चाहिए। दोनों देशों की गरीब जनता के लिए यही हितकर है। दक्षिण एशिया में इससे बड़ा कोई सौभाग्य नहीं हो सकता। दोनों देशों द्वारा परमाणु परीक्षण कर लेने के बाद अब टकराहट एवं युद्ध की मानसिकता को लेकर उठने वाली सोच एकदम बंद कर देना चाहिए। संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर ही कश्मीर समस्या का समाधान हो सकता है और इसमें भारत और पाकिस्तान के राजनीतिक नेतृत्व के साथ-साथ अन्य जनप्रतिनिधियों, पत्रकारों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों एवं गैर सरकारी जन-संगठनों को इस दिशा में अपनी विशेष भूमिका अदा करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. पाण्डेय, अशोक कुमार, कश्मीरनामा इतिहास और समकाल, राजपाल एण्ड संस।
2. नैथानी दायमा, डॉ. आशा, प्रभात पब्लिकेशन।
3. अग्निहोत्री, कुलदीप चंद, प्रभात पब्लिकेशन।
4. http://m.economictimes.com
5. http://hindividya.com

ISSN 2278 - 0327

पार्वती का जीवन : एक दर्शन

डॉ. प्रवीण बाला
सहायक प्रवक्ता
भारती महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

पर्वती को नारी शक्ति का केन्द्र बिन्दु माना जाता है, अत: पार्वती को आधारभूत मानते हुए भारतीय संस्कृति में अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिसमें माँ पर्वती को एक ऊर्जा, शक्ति, प्रकृति, नित्य आनंद प्रदान करने वाली आनन्दरूपा, प्राणियों की बुद्धि, नित्यानित्य तन्मात्राओं से पाँच तत्त्वों को संयुक्त करने वाली प्रकृति, चन्द्रमा की आह्लाद शक्ति, श्रीहरि की माया आदि नामों से जाना जाता है। केनोपनिषद में उमा हेमवती संवाद में ब्रह्मविद्या– *'बहुशोभमानामुमाहेमवतीं तां'* यहाँ उमा को पार्वती रूपणी ब्रह्मविद्या कहा गया है।[1] तप करने के कारण पार्वती को उमा के नाम से जाना जाता है–

'उमेति नाम तेनाख्या भुवनेषु भविष्यति'[2]

पर्वतराज हिमालय की पुत्री के कारण पार्वती कहलाई। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड से लेकर तृण पर्यन्त तक सभी की पुष्टि करने वाली परमात्मा की शक्ति को अलग–अलग स्थान पर विभिन्न नामों से अभिव्यक्त किया गया है। इसी भाव को ऋग्वेद में इस प्रकार कहा गया है [3]–

'एकं सह विप्रा बहुधा वदन्ति'

पाशुपत सूत्र में पार्वती को महादेव की इच्छशक्ति बताया गया है–

'इच्छाशक्ति रूपकुमारी'

अर्थात् महादेव की 'इच्छा' पार्वती हैं, स्कन्ध पुराण में इच्छा को प्रकृति कहा है, प्रकृति महादेव की पत्नी कही गई हैं।[5]

'शिवस्य गृहमेधिनी गृहिणी प्रकृतिर्दिव्या प्रजाश्च महदादय:'

पाशुपत सूत्र में पार्वती के चरित के प्रसंग में कहा है कि पार्वती में विशिष्ट रूप से तीन गुणों का समावेश है, वे तीन गुण ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया है, इन तीनों शक्तियों का सम्मिलित रूप शिव में विद्यमान अहंता शक्ति है। यह अहंता शक्ति जब स्पन्दित होती है तब वह पार्वती कहलाती है।

पार्वती के जन्म का उद्देश्य – जब भी किसी दिव्य आत्मा का मानव के रूप में पृथ्वी पर अवतार होता है, उस आत्मा के अवतार लेने के मूलभूत कारण होते हैं वे निम्नलिखित हैं:–

1. जिस वंश में दिव्य का अवतार होता है उस स्थान एवं वंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि करना।
2. दैवीय कार्यों की सिद्धि करना अर्थात् संसार में व्याप्त भय अराजकता को समाप्त करना तथा समाज को अच्छा वातावरण प्रदान करना।
3. सुप्त मानवीय चेतना का उत्थान करना अर्थात् सम्पूर्ण मानव जाति को अज्ञान के अन्धकार से निकाल कर ज्ञान के मार्ग पर ले जाना।
4. अधर्म को समाप्त करके धर्म की स्थापना करना।
5. समाज में कल्याणकारी कार्यों को बढ़ावा देना।

उपरोक्त जितने भी उद्देश्य एक दिव्य अवतार के होते हैं वे सभी माँ पार्वती के चरित में देखे जाते हैं, उदाहरणस्वरूप –

1. पार्वती के जन्म से राजा हिमालय के वंश एवं स्थान की प्रतिष्ठा में वृद्धि होना।
2. दैवीय कार्यों की सिद्धि अर्थात् पार्वती के जन्म का प्रमुख कारण तारकासुर रूपी देवताओं के प्रधान शत्रु का वध था।
3. सुप्त मानवीय चेतना के उत्थान पार्वती एवं शिव का दार्शनिक संवाद जो सम्पूर्ण मानव जाति को उसके तम: रूप अज्ञान का विनाश करके ज्ञान की ज्योति लाने में प्रमुख भूमिका निभाता है।
4. कामदेव का दहन और पार्वती की तपस्या के द्वारा शिव को वर रूप में पाने का उद्देश्य अधर्म को समाप्त कर धर्म की स्थापना में सहयोग करना।
5. पार्वती के द्वारा किये जाने वाले कल्याणकारी कार्य, समाज के लिये प्रेरणा स्रोत के रूप में देखे जाते हैं, जिससे आज भी मानव कल्याणकारी कार्य पुण्यों की अभिवृद्धि हेतु करता है।

1. पार्वती के जन्म के हिमालय के वंश एवं स्थान की प्रतिष्ठा में वृद्धि होना – पार्वती का जन्म माँ मैना और पिता हिमालय की सत्ताईस वर्ष की तपस्या के उपरान्त देवी दुर्गा के अवतार वसन्त ऋतु, चैत्रमास की नवमी तिथि को प्रात: काल ब्रह्म मुहूर्त में हुआ था। इनका जन्म हुआ तब हिमालय की भूमि जगमगा उठी, चांद तारों का तेज बढ़ा, क्रूर स्वभाव वाले प्राणी स्वत: शान्त हो उठे, औषधियों, सरिताएँ, देवताओं की उन्नति हुई, शास्त्र पुन: अविस्कृत हो गए। मुनियों की तपस्या फलीभूत हुई।[6]–

अभवत् क्रूरसत्वानां चेत शान्त .....वनाश्चिताश्चौन्धय .....
तपांसिदीर्घ चीर्णानि मुनीनां ..... विस्मृततानि च शास्त्राणि
प्रार्दूभाव ..... (म.पु. श्लोक 198, 199, 102, 104)

अर्थात् पार्वती के जन्म से हिमालय की भूमि प्राणवान् हो उठी, प्राय: आज माँ पार्वती की ऊर्जा तपस्वियों के तप को सार्थक कर रही है, हिमालय की भूमि का स्मरण करते ही प्राणियों सत्व गुण का उत्कर्ष हो जाता है। इससे भी अधिक यह उल्लेख करना आवश्यक है कि पार्वती का जब –जब नाम लिया जाता है तब –तब उन्हें हिमगिरि सुता, हिमारी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है अर्थात् माँ पार्वती के सुमिरन के साथ उनके पिता का भी सुमिरन होता है यह एक पिता के लिए उस वंश के लिए अत्यन्त गौरव का विषय है। सौन्दर्यलहरी का श्लोक दृष्टव्य है –

''तथाप्येक: सर्व हिमगिरि सुते: कामपि कृपाम्''[7]

पार्वती की शिक्षा – पार्वती की शिक्षा एवं दीक्षा ऐसे सम्पन्न हुई जैसे शरद काल में हंस की पंक्ति स्वत: गंगा के तट पर आ जाती है। अर्थात् पार्वती ने अपनी शिक्षा से देव गन्धर्व नगेन्द्र पर्वत, पृथिवी सहित तीनों लोकों को विजित कर लिया था। [8]

देवगधन्धर्व नागेन्द्रशैल शीलावनी गुणै:
हिमशैलसुता ..... ।
क्रमेण वृद्धि ..... प्रबोधैर्भुवनत्रयम्।

2. दैवीय कार्यों की सिद्धि – पार्वती के जन्म से पूर्व तीनों लोक तारकासुर रूपी राक्षस के भय से त्रस्त था उसके संहार के लिए पार्वती का अवतार पृथ्वी पर हुआ था। प्रभुता से अजेयता का वरदान पाकर वह तारकासुर इतना प्रबल हो चुका था कि वह देवद्रोही हो गया था। वह प्रभुता के मद में इतना अहंकारी हो गया कि वह स्वयं कहता है तीनों लोक मेरे अधिकार में हैं अत: अब देवताओं को बंदी बनाने से कोई लाभ नहीं।[9]

''यथेष्ट स्वीयतामोभिगृहं मे भुवनत्रयम्''

जब देव समूह तारकासुर के अत्याचारों से त्रस्त हो उठा तब वे वर प्रदाता ब्रह्मा जी के पास पहुँचे और तारकासुर के वध का उपाय बताने का आग्रह किया तब ब्रह्म जी ने उस दुराचारी देवताओं से दुराग्रह रखने वाले तारकासुर के वध के विषय में बताया है कि वह दैत्यराज इतना शक्तिशाली है कि वह देव तथा राक्षसों से भी अवध्य है, उस दैत्य का वध, भगवान् शंकर से उत्पन्न सूर्य के समान तेजस्वी, सात दिन का बालक करेगा किन्तु इस समय शिव पत्नी से विहीन वीतरागी है।[10]

तारकस्य निहन्ता स भास्करामो भविष्यति।
साम्प्रतं चाप्यपत्नीक: शंकरोभगवान प्रभु:।।

ब्रह्मा जी कहते हैं कि जिस देवी से यह पुत्र उत्पन्न होगा वे देवी 'उत्तानहस्ता'' राजा हिमालय की पुत्री होगी। उस देवी का वरदायक हाथ सदा उत्तान ही रहेगा। [11]

उत्तानो वरद: पाणिरेष देव्या सदैवतु:। (म.पु. श्लोक–57)

जब भगवान् शंकर उस देवी के सम्पर्क में आऐंगे तब शंकर जी अरणी में अग्नि के समान जिस पुत्र को उत्पन्न करेंगे उसके सम्मुख आते ही तारकासुर पराजित हो जायेगा।[12]

तस्या: सकाशादय: शर्वस्तवख्यां पादको यथा।
जनयिष्याति तं प्राप्य तारकोऽभि भविष्यति।।

अत: कहा जा सकता है कि पार्वती के जन्म से पूर्व उनके पृथ्वी पर अवतरण का कार्य निश्चित था इस विषय पर गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है – ''प्रारब्ध पहले रचा पाछे रचा शरीर'' अर्थात्– आत्मा पृथ्वी पर मानव जन्म लेती है, उसका उद्देश्य निश्चित होता है, इसलिए मनुष्य का धर्म केवल कर्म है।

नारद द्वारा हिमालय को देवी के विवाह का संज्ञान देना –

जब पार्वती की शिक्षा एवं दीक्षा सम्पन्न हुई तब देवताओं ने नारद जी को बुलाकर राजा हिमालय को बताने के लिए भेजा। राजा हिमालय ने देवर्षि का उचित आदर सत्कार करके देवी पार्वती के भविष्य जानने की जिज्ञासा प्रकट की, तब नारद मुनि ने राजा हिमालय को देवी पार्वती के विवाह तथा उनका भविष्य बताते हुए कहा[13] –

1. आपकी पुत्री का विवाह जिससे होना है, उसका तो जगत् में जन्म ही नहीं हुआ–

न जातोऽस्या पतिर्भद्रेलक्षणेश्च विवार्जिता।।

2. ये शुभलक्षणों से रहित और उत्तान हस्ता है, इनके चरण शुभ लक्षणों से रहित, अपनी छाया के साथ ये अकेली रहेंगी। [14]

''उत्तान हस्ता सततं ..... चरणैर्व्यभिचारिभि:।।

नारद मुनि से अपनी पुत्री के भविष्य को जानकर शोकाकुल

हिमालय कुछ इस प्रकार कहते हैं ''जो कन्या पति पुत्र अन्य ऐश्वर्यों से युक्त होती है वे भी पिता के दु:ख का कारण होती है तो कन्या पति पुत्र आदि से रहित हो, ऐसा सोचकर मेरा शरीर सूखा जा रहा है मन में ग्लानि हो रही है। राजा हिमालय की इस प्रकार की व्याकुलता को देखकर नारदमुनि कहते हैं आप मेरी रहस्यपूर्ण वाणी की गंभीरता को नहीं समझ सके अत: अब मैं इस विषय को विस्तार से कहता हूँ –

1. मैंने आपकी पुत्री के विषय में जो कहा कि इनके पति का संसार में जन्म नहीं हुआ है इसके विषय में सुनिये इनका विवाह तीनों कालों में वर्तमान रहने वाले अजन्मा शंकर से होगा। [15]

न स जातो महादेवो भूतभव्य भवोद्भव:।
शरण्य शाश्वतशाखा शंकर: परमेश्वर:।।

2. जो मैंने कहा कि आपकी पुत्री शुभ लक्षणों से रहित है उसके विषय में है महानुभाव आप सुनें शरीर पर मिलने वाले सौभाग्य सूचक चिन्ह सामान्य प्राणियों में देखे जाते हैं, किन्तु देवी अनन्त सौभाग्य से युक्त है, इनको किसी लक्षणाकार चिन्हों की आवश्यकता नहीं है। [16]

अनन्तस्याप्रमेयस्य सौभाग्यस्यास्य भूधर:।
नेवाङ्गे लक्षणाकार: शरीरे संविधीयते।।

3. अब ''उत्तान हस्ता'' का सही स्वरूप सुनिये, देवी की हथेली उत्थान हस्ता इसलिए है कि उनके हाथ सुर-मुनियों के लिए वरदायक है [17]–

उत्तानो वरद: पाणिरेषदेव्या: सदैवतु।
सुरासुरमुनि व्रातवरदेयं भविष्यति।।

4. इनके चरण अपनी छाया में रहने के पीछे का तात्पर्य है कि देवी के कमलसदृश चरणों में जब सुर मुनियों के मुकुटों से जटिल सिर झुकेंगे तब वे इसकी छाया से प्रतिबिम्बित कहलाएंगे। आपकी पुत्री जगद्गुरू की भार्या, लोक धर्म की जननी, प्रणियों को जन्म देने वाली, अग्नि के समान कान्तिमती तुम्हारे क्षेत्र को और तुमको पावन करने के लिए प्रकट हुई है। [18]

विचित्र वर्णे भासन्तौ स्वच्छाया प्रतिबिम्बितौ।
भार्या जगद्गुरो ह्येषा वृषाङ्कस्य महीधर:।
जननी लोकधर्मस्य सम्भूता भूतभावनी।
शिवेयं पावनायैवं त्वत्क्षेत्रे पावकद्युति।।

पार्वती एवं शिव का दार्शनिक संवाद – पार्वती एवं शिव के बीच दार्शनिक संवाद सुप्तमानवीय चेतना के उत्थान में सहयोगी प्रतीत होता है। मनुष्य को जब तक 'स्व' का ज्ञान नहीं होता तब तक वह अपनी जीवन की सम्भावनाओं को जीने में असमर्थ होता है जो उसे होना चाहिए वह नहीं हो पाता। यह दार्शनिक संवाद समस्त मानव जाति को यह बता रहा है जिस देह को हम अपना मानते हैं, वह महज प्रकृति है, जिसकी इच्छा से ही सब क्रियायें संचालित होती हैं, जिन क्रियाओं का कर्ता महज एक भ्रम में हम स्वयं को मानकर संचालित करते हैं, जब मानव को स्व अस्तित्व की जानकारी होती है या कहें कि जब उसका अनुभव बनती है तब वह भय रहित जीवन को जीने में समर्थ होता हुआ, जीवन प्रक्रिया के निर्माण में सहयोगी होता है, उससे पूर्व की क्रियायें अज्ञानता है। अज्ञानता दूर तप के उपरान्त ही होती है, ऐसा इस संवाद के माध्यम से ज्ञात हो रहा है – इस प्रकार शिवपुराण के 12 वें अध्याय में शिव हिमालय की भूमि पर तपस्या करने की आज्ञा राजा हिमालय से मांगते हैं तब हिमालय इसको अपना सौभाग्य समझते हुए शिव से कहते हैं कि आप यहाँ तपस्या कीजिए, पर मैं और मेरी पुत्री आपके दर्शन तथा सेवा के लिए प्रतिदिन उपस्थित होना चाहते हैं। तब राजा हिमालय के अभिप्राय को समझने वाले महादेव हिमालय को तो आज्ञा देते हैं पर उनकी पुत्री के लिये यह कहते हुए मना करते हैं कि आपकी कन्या अविवाहित है, विशेषकर युवति तपस्वियों के तप में विघ्न डालने वाली होती है।[19]

शिवपुराण के बाहरवें अध्याय में शिव के द्वारा कहे गये वाक्यों को सुनकर गंभीरता युक्त वाणी में कहती हैं [20]–

1. हे प्रभु! आप तप: शक्ति से सम्पन्न होकर ही तप करते हैं, इस शक्ति के कारण ही आप जैसे महात्मा को तप करने का विचार आता है, सभी कर्मों को करने वाली शक्ति को प्रकृति जानना चाहिए। प्रकृति ही सबका, सृजन, पालन एवं संहार करने वाली है।

2. हे भगवान्! आप कौन हैं ? सूक्ष्म प्रकृति क्या है ? इस विषय में विचार कीजिए। प्रकृति के बिना लिङ्ग माहेश्वर कैसे हो सकते हैं। आप यदि प्राणियों के द्वारा अर्चनीय हैं तो वो भी प्रकृति के ही कारण हैं। आप जो भी कहें हृदय में विचार कर करें।

तब पार्वती के इस प्रकार के वचनों को सुनकर शिव कहते हैं कि मैं उत्कट तपस्या के द्वारा ही प्रकृति का नाश करता हूँ तत्वत! प्रकृति रहित शम्भु के रूप में स्थित होता हूँ। अत: सत्पुरूषों को प्रकृति का संग्रह नहीं करना चाहिए।

शिव के उत्तर को सुनकर पार्वती पुन: कहती है, हे कल्याणकारी प्रभो। क्या वाणी प्रकृति नहीं है, तत्वत! इसी से सब बंधा हुआ है, आप जो सुनते हैं, बोलते हैं, खाते हैं पीते हैं, करते हैं वह सब प्रकृति के कार्य हैं, अत: झूठा विवाद ठीक नहीं। अगर

आप प्रकृति से परे हैं तो हिमालय पर्वत पर तपस्या क्यों कर रहे हैं, यदि आप अपने स्वरूप को जानते हैं तो किसलिए तप कर रहे हैं। अब आप मेरी बात सुनिये मैं प्रकृति हूँ। आप पुरूष हैं, यही सत्य है मेरे अनुग्रह से ही आप सगुण एवं साकार माने गए हैं मेरे बिना आप निरीह हैं आप कुछ नहीं हैं। पार्वती के संवाद को सुनकर शिव वेदान्त में स्थित होकर पार्वती को अपनी सेवा का अवसर प्रदान करते हैं और आपकी सेवा शास्त्र संवत होना चाहिए। इस प्रकार पार्वती प्रतिदिन शिव की सेवा करती रहीं उनकी सेवा को देखकर कर एक दिन महादेव कहते हैं कि यह काली जब तपश्च व्रत करेगी और इसमें गर्व का बीज नहीं रह जाएगा तभी इसके साथ पाणिग्रहण करूँगा।

उपरोक्त संवाद से स्पष्ट हो रहा है कि प्रत्येक मनुष्य की उत्पत्ति प्रकृति एवं पुरूष के भोग से होती है। परमात्मा चेतन है, निर्गुण हैं प्रकृति परमात्मा की शक्ति है, जिस प्रकृति के कारण ही प्रत्येक मनुष्य में इच्छा जाग्रत होती है, इच्छा ही क्रिया का कारण है, किन्तु जब यह इच्छा तप के बिना उत्पन्न होती है तब उन इच्छाओं में अहंकार का बीज होता है जैसे यहाँ पार्वती के माध्यम से यह दिखाया गया है कि पार्वती अभी तप:पूत ज्ञान नहीं यद्यपि शिक्षा एवं पूर्णजन्म के संस्कार से उन्हें यह ज्ञान है कि मैं प्रकृति हूँ मेरे द्वारा ही सभी क्रियाएं सम्पादित हो रही है किन्तु जब तप एवं ध्यान की प्रक्रिया से अहंकार नष्ट होता है, अस्तित्व का बोध होता है, तब सभी क्रियाएं परमात्मामय हो जाती है।

कामदेव का दहन पार्वती का तपस्या के द्वारा शिव को वर रूप में पाने का संकल्प:-(म.पु.) जब राजा हिमालय को नारद जी के द्वारा यह ज्ञात होता है कि पार्वती का विवाह शिव के साथ होगा तो वे स्वयं ही शिव के समीप पार्वती को छोड़ने जाते हैं। इधर देवता कामदेव से शिव की तपस्या भंग करने के लिए कहते हैं तब कामदेव शिव के सम्मुख जाने से पूर्व कहते हैं कि जो लोग महान् लक्ष्य से युक्त अटल निश्चय वाले होते हैं उनके मन को जीतना अत्यन्त कठिन होता है। [21]

महार्थी ये हि निष्कम्पा मनस्तेष्मं सुदेर्जयम्।।(म.पु 220)

अत: देवताओं के आदेश से अपने मित्र वसन्त के साथ कामदेव पांच वाणों का प्रहार शिव पर करते हैं तब शिव की तपस्या खुल जाती है किन्तु वे योगबल से समझ जाते हैं कि यह कामदेव का कार्य है वे अपने तीसरे नेत्र से कामदेव को भस्म कर देते हैं। यहाँ यह कहना अनिवार्य है यदि यहाँ पर कामदेव विषयी होते तो काम से उत्पन्न सृष्टि का स्वरूप भिन्न होता। सौन्दर्य लहरी के पूर्वपाद में स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रभव के लिये मैथुनिक सृष्टि की आवश्यकता होती है।

अत: काम के बिना सृष्टि संभव नहीं है अत: भगवान् कहते हैं कि [22]-

''धर्मा: विरूद्धो: भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ:''

जब काम धर्म संगत होता है वहाँ पर काम मेरा ही रूप होता है किन्तु जब काम रजोगुणी होता है, तब वह काम सौन्दर्य का देवता कहा जाता है, तब वह बड़े-बड़े मुनियों के चित्त को क्षुब्ध कर देता है। काम का दहन इस बात का द्योतक है काम से उत्पन्न सृष्टि में अन्य विकार स्वत: आ जाते हैं भगवत गीता के द्वितीय अध्याय में कहा गया है [23]-

कामोतक्रोधोऽभिजायते .....

अत: क्रोध काम का ही रूपान्तरण है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। इसका पेट इतना बड़ा है कि वह कभी तृप्त नहीं होता वह भगवती का ध्यान करने से ही शांत होता है।[24]

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।

मत्स्यपुराण में पार्वती अपने पिता के साथ शिव के समीप जा रही थी तब रास्ते में पति वियोग में विलखती हुई स्त्री रति से पूँछती है तुम कौन हो और क्यों रो रही हो तब वे बताती हैं कि कामदेव की पत्नी रति हूँ, शिव के द्वारा मेरे पति को जला दिया गया है, तब मैंने शिव की स्तुति की तो प्रसन्न होकर उन्होंने कहा कि अब कामदेव तुमको अनङ्ग रूप में प्राप्त होंगे। मैं इसी कारण से रो रही हूँ। इस घटना को सुनकर पार्वती अपने अभीष्ट की सिद्धि तपस्या के द्वारा करने का दृढ़ संकल्प करती है और कहती है कि न जाने संसार में लोग दुर्भाग्य की मार को क्यों सहन करते हैं ? तपस्या न करके भाग्यहीन जीवन से तो मर जाना अच्छा है।

तप द्वारा संकल्प की सिद्धि - काम दहन ने पार्वती को अपने जीवन का महत्वपूर्ण निर्णय लेने का अवसर दिया। उन्होंने तप के द्वारा शिव को पाने का संकल्प लिया। उनकी दृढ़ता को देखकर राजा हिमालय कहते हैं कि चञ्चल उमा उसे मत करो अर्थात् तुम्हारा कोमल शरीर तपस्या के कष्ट को सहन करने में समर्थ नहीं है। [25]

उमेति चपले पुत्रि न क्षमं तावकं वपु:।
सोढु क्लेश स्वरूपस्य तपस: सौम्यदर्शने।।

राजा हिमालय के द्वारा पार्वती को तप करने के लिए मना किया जा रहा था उसी समय आकाशवाणी होती है उसे तप से मत रोको तपस्या के कारण ही आपकी पुत्री संसार में उमा के नाम से प्रसिद्ध होगी।

प्राय: उपरोक्त घटना से यह अभिव्यक्त होता कि सामान्यत: ऐसा देखा जाता है कि जीवन के विषय में तब कोई विशेष निर्णय लेने का अवसर होता है उसी समय बहुत सारे अवरोध सामने होते हैं, जितनी बड़ी बाधा होती है उतनी ही बड़ी जीवन की सम्भावना होती है। यदि यहाँ पार्वती राजा हिमालय की बात मानकर तप नहीं करती तो पार्वती उमा के नाम से वंचित होती ही, साथ ही जगद्गुरू भगवान् शंकर जो समस्त ऐश्वर्यों के प्रदाता हैं उनसे संभव है विरक्त रहती।

तपस्या के निमित्त तपोजन्य वस्त्रों का धारण करना – पार्वती ने जब तप करने का निश्चय किया तब तदनुरूप वस्त्रों को भी धारण किया। उन्होंने ब्रह्मचारी के द्वारा धारण की जाने वाली मूँज की मेखला एवं दिव्य वल्कल वस्त्रों का धारण किया तदोपरान्त तीन सौ वर्षों तक तपश्च नियमों का पालन किया [26]–

त्रिस्नाता पाटलाहारा बभूव शरदांशतम्।
शतमेकेन शीर्णेन पर्णेन वर्तयत: तदा।
निराहारा शतं साभूतसमाना तापसंनिधि:।

पार्वती के चरित से स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि वे जो कार्य करने जा रहे हैं, उसके विषय में उन्हें पूरी जानकारी है, इसलिए उन्होंने तप करने के लिये तपोजन्य वस्त्र को धारण किया। दूसरी बात तीन सौ वर्षों तक उन्होंने तपस्या की किन्तु वे परिणाम न मिलने पर व्याकुल नहीं हुई अपितु उनकी तपस्या के नियमों में बढ़ोत्तरी हुई। क्योंकि जितनी वे संकल्प करने में दृढ़ थी उतनी ही संकल्प की सिद्धि के लिये उत्साही भी दिखाई दे रही हैं। क्योंकि उत्साह के बिना निराशा मनुष्य में थकान देता है जबकि साधारणतया यदि हम देखें तो मनुष्य को यदि किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती तो वह उस कार्य को छोड़ देता है या फिर निराश हो जाता है, अपनी क्षमताओं को नहीं बढ़ाता, चाहिए यही कि क्षमताओं को और अधिक बढ़ाने पर सफलता अवश्य मिलती है।

सप्तऋषियों द्वारा पार्वती की तपस्या की परीक्षा – पार्वती तप की निधि हो गई थी तब इन्द्रदेव द्वारा निर्देशित सप्तऋषि पार्वती के तप की परीक्षा हेतु उस आश्रम में पहुँचे जहाँ पर पार्वती तपस्या कर रही थीं। तब सप्तऋषियों में उनके तप का अभिप्राय पूंछा तब पार्वती अहंकार रहित निर्मल मन से कहती हैं कि मैं भगवान् शंकर को पतिरूप में चाहती हूँ किन्तु उनका स्वरूप एवं स्वभाव मेरे लिये दुर्बोध्य है मेरे जैसी अबला उनकी अराधना कैसे कर सकती है कामदेव को भस्म कर अभी वीतरागी है [27] –

साम्प्रतंचापि निर्दग्धमदने वीतरागिणम्।
कथं मासध्येदीशं मादृशी सदृशं शिवम्।

यहाँ पर पार्वती तप से इतनी पावन हो चुकी है कि उनके शब्दों ज्ञानजन्य विनम्रता झलक रही है यहाँ वह स्वयं को अबला कह रही है साथ शिव के स्वरूप को दुर्बोध्य बता रही हैं। स्वाभाविक जब ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है सहजता स्वत: प्रकट हो जाती है शक्ति बढ़ जाने पर ही व्यक्ति स्वयं को बल रहित दिखाता है, अर्थात् वह शक्ति एवं ज्योति से बलयुक्त थी। उनका शिव के स्वरूप के विषय में यह कहना कि उनका स्वरूप दुर्बोध है अर्थात् वे उनके स्वरूप को जान चुकी थी तभी वे इन शब्दों का प्रयोग कर रही है केनोपनिषद् में इस भाव को कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है [28]–

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च । (2/2 मंत्र)

अर्थात् जो वह कहता है कि मैं उसे नहीं जानता हूँ वही जानता है। पार्वती के अभिप्राय को जानकर सप्तऋषि उनसे कहते हैं संसार में दो प्रकार के सुख कहे गये हैं शिव से तुम्हें दोनों ही प्रकार के सुख प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि वे श्मशान भूमि पर रहते हैं, चिता की भस्म तथा घृणित वस्तुओं को अपने अंगों पर धारण करते हैं, अनर्थ की साक्षात् मूर्ति है अत: उनसे तुमको कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता [29]–

यदि ह्यस्य शरीरस्य भोगमिच्छसि साम्प्रतम्।
तत्कथं ते महादेवाद्भयभाष्मे जुगुप्सितात्।
स्त्रवद्रक्त ..... भूषणं भीषणात्
श्मशान वासिनो .....प्रमथानुगतात्।।

शिव को छोड़कर किसी अन्य देव का विचार कीजिए। विष्णु आदि देवों में प्रमुख हैं, अनुपम शोभा को धारण करते हैं, शत्रुओं का संहार करने वाले अथवा अग्नि, वायु, कुबेर आदि देवों को वर रूप में प्राप्त कर सकती हो तब सप्तऋषियों के अभिप्राय: को समझने वाली पार्वती प्रति उत्तर में कहती है-शिव के विपरीत अर्थ को जानने वाले मुनियों आपको किसने सन्मार्ग पर नियुक्त कर दिया है। यदि आप मुझे दुष्ट बुद्धि वाली मानते हैं तो मेरे मन में अहंकार स्वरूप मान उत्पन्न हो गया है [30]–

एवं मां वेत्य दुष्प्रज्ञा ह्यस्थाना सद्ग्रहप्रियम्।
न मां प्रति विचारोऽस्ति ततोऽहङ्कारमानिनी।

सप्तऋषियों आपको नहीं मालूम शिव से सभी प्राणी चैतन्य हैं [31]–

प्रकटं सर्वभूतानां तदप्यत्र न वेदथ किम्। (म.पु. 347)

आकाश अग्नि वायु, पृथवी वरूण, सूर्य, चन्द्रमा आदि पृथक्-पृथक् रूप में किसकी मूर्ति है। उन शिव से ही मरीचि,

अदिति, प्रजापति आदि का प्रादूर्भाव हुआ है। रही बात विष्णु की तो वो भी युगानुसार विभिन्न प्रकार के शरीर को धारण करके उत्तम मध्यम तथा अधर्म कर्मों का सम्पादन करते हैं, विष्णु आत्मरूप होने से अनादि कहे जाते हैं, किन्तु उनका किसी भी देह में दीर्घ जीवन नहीं देखा गया है।[32]

विदुर्विष्णुवादयोयच्च स्वमहिम्ना सदैवहि।

कृतवान्यं देहमन्यादृकतादृक् कृत्वा पुनर्हरि:। (350 म.पु.)

हे भद्र पुरूषों में पिनाकधारी शंकर के अतिरिक्त स्वल्प विभूति वाले देवताओं से विवाह नहीं करना चाहती। [33]

नाहं भद्रा: किलंच्छामि ऋतेशवति पिनकिन:।

पार्वती की दृढ़ता को देखकर सप्तऋषियों ने उन्हें अपने हृदय से लगाया और कहा शंकरजी के भाव से भाषित तुम्हारा भाव हम लोगों को आनन्दित कर रहा है।[34]

प्रसादयति नो भावं भवभावप्रतिश्रयात्।

पार्वती को सप्तऋषियों के द्वारा आश्वासन दिया गया कि शीघ्र ही तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा, रत्नों की कान्ति रत्नों से पृथक् होकर नहीं रह सकती, अक्षर समूहों से प्रकट होने वाला अर्थ अक्षरों से अलग नहीं रह सकता। मुनियों ने पार्वती की तपस्या के विषय में भगवान् शिव को बताया। तब शिव ने कहा कि उचित रीति से विवाह सम्पन्न कराया जाए तब सप्तऋषि कहते हैं तप का फल सदैव सत्य ही होता है। [35]

इत्युक्ता वपस: सत्यं फलमस्तीति चिन्त्य सा।

इस प्रकार भगवान शंकर का विवाह पार्वती के साथ निश्चित होने से पार्वती के जन्म का फल प्राप्त हो गया।[36]

शंकर संश्रय वादिगिरिजाया जन्म फलं परमं त्विति चो चु:।

पार्वती और शिव के विवाह में अग्नि साक्षी, हिमालयदाता, देवादिदेव ब्रह्मा होता, साक्षात् शिव व विश्व की अरणीभूता पार्वती कन्या है। [37]

शर्वेण पाणिग्रहणमग्निसाक्षिकमक्षतम्।

तारकासुर का वध अर्धम पर धर्म का विषय:- अधर्म कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो जब उस अधर्म के समक्ष सत्व प्रधान शक्ति आती है, तब उसे पराजित होना पड़ता है। पार्वती ने जब कार्तिकेय को जन्म दिया तब अग्नि के वीर्य के प्रभाव से बांए कन्धे को फाड़कर एक बालक प्रकट हुआ उसे कृतिकाओं के द्वारा संधि एवं शाखाओं में मिला दिया गया तभी उनका नाम विशाखा, षड्मुख, स्कन्द और कार्तिकेय पड़ा। चैत्र शुक्ल पञ्चमी के दिन दो बालकों को एक कर दिया गया उसी माह की षष्ठी तिथि को ब्रह्म आदि देवताओं ने तारकासुर के वध के लिए कार्तिकेय को सेनापति नियुक्ति किया। घोर संग्राम हुआ कुमार कार्तिकेय ने तारकासुर का वध इस प्रकार किया जैसे प्रलयकाल में पर्वत धराशाही हो जाते हैं [38]-

विभेददैत्य हृदयं वज्र शैलेन्द्र कर्कशम्।।

इस प्रकार अधर्म कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो एक न एक दिन उसका विनाश अवश्य होता है। इसीलिए कलयुग का समय कम और सतयुग लम्बा होता है। इसी प्रकार अधर्म को अगर अध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो हर मनुष्य के भीतर तारकासुर नामक छ: शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य विद्यमान है। जब तक मनुष्य की प्रकृति रजस एवं तम: प्रधान होती है तब ये शत्रु प्रबल होते हैं जब मनुष्य की प्रकृति सत्व प्रधान होती है यह स्वत: शांत हो जाते हैं। कार्तिकेय सत्वप्रधान शक्ति थी इनके समक्ष तारकासुर का विनाश स्वाभाविक था।

पार्वती के द्वारा किये गए कल्याणकारी कार्य- पार्वती का जब भगवान् शिव के साथ विवाह हुआ तब उनके मन में पुत्र प्राप्ति की कामना हुई तब उन्होंने मिट्टी के हाथी के मुख वाला एक पुत्र बनाया जिसे उन्होंने गङ्गा में प्रवाहित किया वैसे ही वह विशालकाय शरीर से युक्त गङ्गेय नाम से प्रसिद्ध हुआ। पुन: पुत्र प्राप्ति की जिज्ञासा होने पर उन्होंने अशोक के पत्ता से एक पुत्र बनाया। पार्वती के इस प्रकार के कार्यों को देखकर मुनियों ने उनसे कहा कि आपका जन्म लोक कल्याण के लिये हुआ है। प्राय: संसार पुत्र रूप फल का प्रेमी है वह फल पुत्र पौत्रों से ही संभव है।[39]

भवानि भवति भव्या सम्भूता लोकभूतये।।

प्राय: सुतफलो लोक: पुत्र पौत्रैश्च लभ्यते।

अपुत्रौ च प्रणा: प्रायोदृश्यते दैवहेतुत:।।

मुनियों के अभिप्राय को सुनकर पार्वती कहती हैं - जो जल रहित प्रदेश में कुआं बनाता है वह कुएं के जल की बूंद के बराबर वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है, जो दस कुएं और एक बावली, जो दस बावली एक सरोवर, दस सरोवर की तुलना एक पुत्र के बराबर की गई है, दस पुत्र एक वृक्ष समान माने गये हैं, यही लोक के कल्याण करने वाली मर्यादा में उसे पालन कर ही हूँ।[40]

एवं निरूदके देशेय: कूपं कारयेद बुध:।

बिन्दौ बिन्दौ च तोयस्य वसेत संवत्सरंदिवि।।

दशकूपससमा वापी दशवापी समोह्रद:।

दशह्रदसम: पुत्रो दशपुत्रसमोद्रुम:।

एषैव मम मर्यादा नियता लोकभावनी।।

इस प्रकार पार्वती के जीवन दर्शन से स्पष्ट है कि पार्वती

ज्ञान इच्छा, क्रिया की साक्षात्मूर्ति है। उनका पृथ्वी पर अवतरण दैवीय कार्यों की सिद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण संसार का उत्थान करना था। उनके जीवन में यही स्पष्ट मनुष्य का जीवन विधि का विधान है। किन्तु जब भी कोई जीवात्मा पृथ्वी पर आती है उसका आने का उद्देश्य निश्चित होता है, किन्तु संसार की अपनी मर्यादा है उस मर्यादा का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। यद्यपि जीवन विधि का विधान है। हमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता पर कर्म हर मुनष्य के अधीन होता है जब कर्म तप एवं ध्यान से युक्त होते हैं तब वे सभी कर्म ईश्वरीय हो जाते हैं। माँ पार्वती ने शिव की प्राप्ति के लिए जो तप किया ध्यान किया वे उनके कर्म ईश्वरीय थे, क्योंकि ध्यान से उत्पन्न इच्छा या कर्म ईश्वरीय होते हैं। वे दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए होते हैं। पार्वती का शिव को वर रूप में पाने के लिए तप करना केवल शिव को पति रूप में पाना नहीं था वरन् ऐसी संतान की प्राप्ति करना था जो तारकासुर नामक राक्षस का वध करके तीनों लोकों में शांति स्थापित की जा सके। पार्वती के जीवन से स्पष्ट दिखाई देता है कि जीवन तभी उपयोगी हो सकता है, जितना दूसरों का कल्याण किया जा सके, दूसरों को लाभ पहुँचाकर ही सच्ची सुख समृद्धि प्राप्त की जा सकती है, मानव जन्म सार्थक किया जा सकता है। ध्यान से ही सुख एवं दु:ख में व्यक्ति आनन्दित रह सकता है। पार्वती ज्ञान, इच्छा और क्रिया की साक्षात् मूर्ति सिद्ध होती है।

संदर्भ सूची

1. केनोपनिषद् खण्ड 3-12 श्लोक पृ. 171
2. मत्स्य पुराण अध्याय 154/299
3. ऋग्वेद 1/164/46 मन्त्र
4. शिवपुराण 572 पेज
5. वही 572
6. मत्स्य पुराण 154/198, 199, 102, 104
7. वही 154/106
8. वही 154/109, 110
9. वही 154/4
10. वही 154/50
11. वही 154/51
12. वही 54/52, 53
13. वही 154/146
14. वही 154/146
15. वही 154/178
16. वही 154/187
17. वही 154/189
18. वही 154/192, 193
19. शिवपुराण अध्याय 12
20. शिवपुराण अध्याय 13
21. मत्स्य पुराण 154/220
22. सौन्दर्य लहरी -शंकराचार्यकृत -श्लोक व्याख्या
23. भगवद्गीता -अध्याय 2-63-6
24. वही 3/37
25. मत्स्य पुराण 154/294
26. वही 154/309, 310
27. वही 124/328
28. केनोषनिषद् 2009 का श्लोक 2
29. वही मत्स्य पुराण 184/33, 334, 335
30. वही 154/344
31. वही 154/347
32. वही 154/350
33. वही 154/360
34. वही 154/374
35. वही 154/425
36. वही 154/478
37. वही 154/484
38. वही 160/25
39. वही 154/508, 509
40. वही 154/511, 512

ISSN 2278 - 0327

संस्कृत वाङ्मय में कलात्मक अभिव्यक्ति

डॉ. सुमन रानी
सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग
भारती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

'कला' शब्द की निष्पत्ति कल+कच्+टा् प्रत्यय से हुई है। संस्कृत कोशों में यह विविध अर्थों में समावेशित है। किन्तु साहित्य में कला से तात्पर्य सौन्दर्य, आनन्द या मनोगत भाव जिनका सन्निकर्ष सौन्दर्यानुभूति में सहायक तत्वों से है। कला प्रकृति का ही पर्याय है, जो बाहरी और आन्तरिक प्रकृति के साथ अनन्त आनन्द की सृष्टि करती रही है। अपने आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति मानव का स्वभाव है, जिसके लिये वह सृष्टि के कण-कण से प्रेरित रहता है और इसी प्रेरणा एवं मनोगत भावों को वह किसी न किसी माध्यम से वह समाज के लिए प्रत्यक्षीकरण करता है, तब वह उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति कहलाती है। वैदिक काल से ही मानव अपने भावोंको अनेकों कलाओं के माध्यम से व्यक्त करता रहा है जैसे- गायन, वादन, नृत्य, चित्रकला, वाद्यकला इत्यादि। यहाँ हम वैदिक वाङ्मय में इन्हीं कलाओं के विषय में चर्चा करेंगे।

(1) गीतिकला:- गीतिकला अर्थात् गायन कला यह संगीत कला के ही मूलतत्वों में से एक है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार स्वर (संगीत, गीति) ही सामवेद का सारभाग है।[1] पूर्वमीमांसा में भी गीति या गान से साम कहा गया है[2] ऋग्वेद में गायक के लिए 'गाथिन' शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] गायक अनेक मन्त्रों से इन्द्र की अर्चना करते हैं और सामान्य जन अपनी वाणियों से इन्द्र की उपासना करते हैं। ऋग्वेद के अन्य मंत्र में गीत के लिए 'गाथा' शब्द प्रयुक्त हुआ है और बहुश[4] गाथा के लिए गान का वर्णन मिलता है। इस प्रकार वैदिक ऋषि मुनियों ने सभ्यता के प्रारंभ में अपने इष्टदेवों की प्रशंसा में स्तोत्रों की रचना की और गीतिकला के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति की।

(2) नृत्यकला:- वेदों में नृत्य के दो भेद माने गये हैं। भावों के द्वारा अभिनय को नृत्य कहा जाता है, इसमें नर्तक अपने भावों और विभावों को नृत्यकला के माध्यम से लोगों के सामने प्रदर्शित करता है जबकि 'नृत्त' केवल अंग संचालन के माध्यम से भाव मुद्राओं से रहित होता है। नृत्त सामान्य लोगों के लिए है और नृत्य के लिए उच्चकोटि की शास्त्रीय योग्यता अपेक्षित मानी जाती है। नृत्य में सौन्दर्य शास्त्रीय योग्यता अपेक्षित मानी जाती है। नृत्य में प्रदर्शन, अंगों का नि:संकोच प्रसारण और भावाभिव्यक्ति का समन्वय होता था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि नृत्य के समय सुवर्ण आदि के आभूषण पहने जाते थे।[5] तथा नृत्य के समय हास्य या स्मित की मुद्रा भी अपेक्षित होती थी।[6] नृत्य में तीव्र वेग से चक्कर काटने की उपमा आँधी के वात्याचक्र (बवंडर बगूला) से दी गई है।[7] आदि 108 नृत्य मुद्राओं की परिकल्पना सर्वप्रथम प्रस्तुत की गयी है। प्राय: सभी कारणों में बाँया हाथ वक्षस्थल पर तथा दाहिने को पैर की गति के अनुकूल रखा जाता है।[8] नृत्य में हस्त, कमर, पार्श्व, पाद, जंघा, उदर और पृष्ठ समेत शरीर के समस्त अंगों का तथा शरीर के स्थानों की गति चेष्टा आदि का ही सर्वाधिक महत्व होता है। कभी इन अंगों की गति स्थिर अवस्था में होती है तो कभी द्रुत। ये चेष्टाएँ नृत्य में मातृका कही जाती है।[9] प्राचीन समय से समाज में नृत्यकला मनोरंजन का अभिन्न अंग रहा है। आधुनिक समय में भी कथकली, ओडिसी गरबा इत्यादि शास्त्रीय एवं लोक नृत्यों की परम्परा विद्यमान है।

(3) वाद्यकला :- नृत्य, संगीत तथा वाद्यकला का संबंध अटूट है। वाद्य ही संगीत को पूर्णता प्रदान करता है। नाट्य-शास्त्र में वाद्य यन्त्रों को चार भागों में विभक्त किया गया है - 1. तत-तार से निर्मित वाद्य यंत्र वीणा आदि 2. पौष्करडुग्गी, मृदंग आदि 3. घन- झांझ, मंजीरा आदि और 4. सुषिर, वासुरी, आदि यथा-

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धन्तु पौष्करम्।
धनं तालस्तु विज्ञेय: सुषिरो वंश उच्यते।।[10]
पूर्वगानं ततो वाद्यं ततो नृत्त प्रयोजयेत्।
गीत वाद्यांग संयोग: प्रयोग इति संज्ञित:।।[11]

भिन्न-भिन्न वाद्य यन्त्र भिन्न शैलियों में बनाये और बसाये जाते हैं, वाद्यों के प्रयोग से गीतिकला और अधिक मनोरंजक हो जाती है। विभिन्न प्रकार के वाद्य यंत्रों का प्रयोग वैदिक काल से चला आ रहा है। शंख, दुन्दुभि का प्रयोग युद्ध के अवसर पर किया जाता था।[12] जिससे वीरों का उत्साह बढ़ता था। वाद्य भी लय और ताल

के अनुसार ही राग प्रसार करने में समर्थ होते थे। अत: गान का समुचित प्रयोग होने पर ही नाट्य का समुचित प्रयोग होता था और गीत वाद्य का प्रयोग होने पर ही नाट्य का समुचित प्रभाव होता था। उत्सव, यात्रा, विवाह, युद्ध आदि के अवसर पर वाद्यों के प्रयोग में भिन्नता होती थी। घरेलू उत्सवों में वाद्य-यन्त्रों की संख्या न्यून होती थी, किन्तु नाट्य प्रयोग में तो लगभग सभी वाद्य यंत्रों का प्रयोग स्थिति के अनुकूल किया जाता था।[13]

(4) चित्रकला:- 'चित्र' शब्द का अर्थ है 'चयन'। जब चित्रकार अपने आन्तरिक एवं बाह्य भाव जगत् से विविध भावों का चयन करके संबंधित रूप में भावों को रेखाङ्कन के द्वारा मूर्तरूप प्रदान करता है तब वह आकृति भाव 'चित्र' कहलाती है। चित्रकला के माध्यम से हमें प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान होता है। प्राचीन संस्कृति के प्रतिबिम्ब रूप अनेकों प्रतीकात्मक चित्र मनुष्य को सदा ही आनन्दित करते रहे हैं। उपनिषदों के प्रतीकात्मक चित्रों का आधार सृष्टि के विविध रूपों को आत्मा की अनुभूति का पर्याय माना है। चराचर जगत् में जो भी मूर्त-अमूर्त-चित्र है, वे इस आत्मा या ब्रह्म में ही छायातप[14] की भांति अनुभूत होते हैं जैसे- प्रकृति और जीव के संबंध में कहा है कि अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्ण वाली बकरी (प्रकृति) को अज (जीव) सेवा करता हुआ भोग रहा है और दूसरा अज उस भुक्त भोगा को त्याग देता है।[15] इस प्रकार उपनिषदों में मनोहारी चित्रों की झांकी प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत की गयी है। वैदिक साहित्य में चित्र निर्माण के लिए अनेक तरह की साधन का प्रयोग किया जाता था। जैसे- मिट्टी, पत्थर के टुकड़े, काष्ठ के फलक, कपड़ा चर्म आदि। ऋग्वेद के एक मन्त्र में अग्नि देव का चित्र चर्म बनाने का उल्लेख मिलता है।[16] इस प्रकार वैदिक काल में भित्ति चित्र, फलक चित्र, भूमि चित्र पत्र चित्र, इत्यादि नौ तरह के चित्रों का संकेत प्राप्त होता है। उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि वेद, उपनिषद के काल में चित्रकला का पूर्ण विकास हो चुका था। भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में चित्रकला का उल्लेख किया है।[17] और पैतीसवे अध्याय में वे चित्रकार को परिभाषित करते हैं- *''चित्रज्ञश्चित्रकारो''* [18]

अर्थात् चित्रकार वही है जो चित्रकर्म के नियमों के अनुसार रंगीय सम्मिश्रण आदि का जानकर हो अथवा चित्रकार की समाजिक संवेदना को जानता हो।

(5) मूर्तिकला :-

सभ्यता व संस्कृति के आदिम काल से आधुनिक युग तक मूर्तिकला अपने अर्न्तनिहित सौन्दर्य को सर्वदा नवीनता को स्वीकारते, हुए विभिन्नताओं को प्रस्तुत करती रही है। प्रतिमा तथा मूर्ति जैसे पदों[19] के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत: उपनिषद काल में मूर्ति निर्माण होता था। यद्यपि स्पष्ट रूप से उपनिषदों में कहीं भी देव तथा इतर मूर्तियों की चर्चा नहीं मिलती, परन्तु उपनिषदों के अध्ययन से यह आभास होता है, उपनिषद काल में मूर्तिकला का ज्ञान अवश्य था और बाद में उसी ज्ञान को आधार बनाकर आर्यों ने मूर्तिकला के ज्ञान में दक्षता अर्जित कर ली होगी। मत्स्यपुराण में लौहमयी, पाषाणमयी या काष्ठ निर्मित मूर्तियों की चर्चा की गयी है तथा प्रत्येक व्यक्ति के अपनी आय के अनुसार छोटी या फिर बड़ी प्रतिमाएं बनवाने की अनिवार्यता की ओर भी संकेत मिलता है-

अंगुष्ठपर्वदारम्भ वितस्तिर्यावदेव तु गृहेषु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधै:।

आषोऽशा तु प्रासादो कर्तव्या नाधिका तत: मध्योत्तमा कनिष्ठा तु कार्यावित्तानुसारत:।[20]

इस प्रकार वैदिक साहित्य में विभिन्न कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति के संदर्भ प्राप्त होते हैं, जो मनुष्यों के आनन्दानुभूति एवं मनोरंजन में सहायक थे। आधुनिक समय में भी इन सभी कलाओं का अत्यधिक उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है।

सन्दर्भ सूची -

1. साम्न: ..... स्वर एव स्वम्। बृहदा. उप. 1/3/25
2. गीतिषु सामाख्या। पूर्वमी. 2/1/36
3. इन्द्रमिद्गाथिनो वृहदिन्द्रकर्मेभिरर्किण:। इन्द्रं वाणीरनूषत - ऋ1/7/1
4. ऋ. 8/32/1, 71/14, 98/9,9/11/4, 99/4 गायद् गाथं सुतसोमो दुवस्यन्।
5. मर्तश्चिद् वो नृतवो रूम्भवक्षस:। ऋ. 7/20/22
6. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय। ऋ.10/18/3
7. अत्रा वो नृत्तमिव तीव्रो रेणुरपायत। ऋ. 10/72/6
8. नाट्यशास्त्र 4/171-172
9. नाट्यशास्त्र गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज।
10. नाट्यशास्त्र 28/2
11. नाट्यशास्त्र 34/385 काव्यमाला, निर्णय सागर प्रेस मुम्बई।
12. अथर्व. 6/126/1 से 3 तक
13. नाट्यशास्त्र 34/18-20 काव्यमाला, निर्णय सागर प्रेस मुम्बई।
14. योयं भगवोऽप्सु परिव्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष: .....। छा.उप.।
15. अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां .....भुक्तभोगायजो। श्वे.उप.।
16. ऋ. 1/1/45
17. नाट्यशास्त्र 23/76
18. हिन्दी नाट्यशास्त्र IV 35/105
19. दृष्टव्य - धर्म अध्याय ''पूजा पद्धति'' (श्वे. उप.)
20. मत्स्यपुराण, खण्ड-2 22, 23/21

ISSN 2278 - 0327

सहगामी अधिगम के प्रति शिक्षकों का दृष्टिकोण

निर्मला
शोध छात्रा
शिक्षा विभाग (बिड़ला परिसर)
हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय), श्रीनगर, गढ़वाल

प्रो. सीमा धवन
प्रोफेसर
शिक्षा विभाग (बिड़ला परिसर)
हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय), श्रीनगर, गढ़वाल

सार– प्रस्तुत शोध पत्र में शिक्षकों में सहगामी अधिगम विधि के प्रति जागरूकता, इसकी कार्यप्रणाली, वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में इसका महत्व, छात्रों के मूल्यांकन हेतु इसकी उपयुक्तता, सेवारत प्रशिक्षण, सेवा पूर्व प्रशिक्षण हेतु आवश्यकता एवं सहगामी अधिगम पद्धति नहीं प्रयोग करने का कारणों का अध्ययन किया गया है। जिससे माध्यमिक स्तर के शिक्षक कक्षा–कक्ष में सहगामी अधिगम को प्रभावी ढंग से प्रयोग कर सकें। 200 शिक्षकों के विचारों को साक्षात्कार एवं अवलोकन विधि के माध्यम से आँकड़ों को एकत्र कर यह पाया गया कि माध्यमिक स्तर के सभी शिक्षकों में सहगामी अधिगम ग्रुप कार्य है या टीम कार्य इस विषय पर शिक्षकों के विचार अस्पष्ट हैं एवं सभी शिक्षक सहगामी अधिगम के बारे में और अधिक जानना चाहते है, जिससे उनका शिक्षण और अधिक प्रभावी बन सके। अधिकांश शिक्षक सहगामी अधिगम को प्रयोग न कर पाने के मुख्य कारणों में सहगामी अधिगम पद्धति के प्रशिक्षण की कमी एवं व्यस्त समय–सारणी को सहगामी अधिगम के संचालन में बाधा मानते है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिक्षक सहगामी अधिगम एवं इसकी विधियों की पूर्ण समझ विकसित करने के बाद ही छात्र उच्चतम उपलब्धि स्तर प्राप्त कर सकेंगें।

मुख्य शब्द – सहगामी अधिगम, शिक्षक, माध्यमिक स्तर, सहगामी अधिगम की आवश्यकता।

प्रस्तावना – शिक्षा प्राप्त करने की कई विधियां हो सकती हैं। औपचारिक शिक्षण व्यवस्था में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1989 से नई शिक्षा नीति 2020 के बीच कक्षा शिक्षण व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुये है। अब शिक्षा शिक्षक केन्द्रित न होकर छात्र केन्द्रित हो चुकी है। यही कारण है कि आज सहगाामी अधिगम जैसी छात्र केन्द्रित शिक्षण विधि का कक्षा–कक्ष में अनुप्रयोग हो रहा है और यह अत्यधिक प्रभावी शिक्षण है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 छात्रों को सहयोग के द्वारा सीखने एवं स्व आंकलन प्रोत्साहन देती है, जिससे उनमें चिन्तन का गुण विकसित किया जा सके। इसी क्रम में ''राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में वर्णित प्रगति कार्ड एक समग्र, 360 डिग्री, बहुआयामी कार्ड होगा। जिसमें छात्रों के स्वमूल्यांकन, सहपाठी मूल्यांकन, प्रोजक्ट कार्यों खोज आधारित अध्ययन में प्रदर्शन क्विज, रोल प्ले, समूह कार्य शामिल होगा''।[1]

पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के लक्ष्यों की प्राप्ति सहगाामी अधिगम की विभिन्न विधियों (स्टैड, जिग्शॉ, जिग्शॉ 2 राउण्ड रॉबिन, पेअर एण्ड शेअर) के माध्यम से किया जा सकता है। सहगामी अधिगम में जॉनसन एण्ड जॉनसन 1994 द्वारा दिये गये निम्न पांच तत्वों का समावेश होना आवश्यक है–

1. सकारात्मक परस्पर निर्भरता
2. वैयक्तिक एवं सामूहिक उत्तरदायित्व
3. एक दूसरे के सामने होने वाली पूरक अंत: क्रियाएँ
4. आपसी संबंध व छोटे समूह में काम के संदर्भ में कौशल
5. सामूहिक प्रक्रियाओं का पुनरावलोकन

उक्त तत्वों का सहगाामी अधिगम में समावेश कर शिक्षक मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। जिससे सहगामी अधिगम के दौरान आ रही बाधाओं को दूर किया जा सकता है। इसके लिये अति आवश्यक यह है कि शिक्षक को सहगामी अधिगम की प्रविधियों का संपूर्ण ज्ञान हो, जिससे वह कक्षाकक्ष शिक्षण में आ रही बाधाओं को दूर करके छात्रों में सहगामी अधिगम की मूल विचारधारा 'Sink or Swim together' की भावना विकसित कर सकेगा।

सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन

फर्ज़नेह एवं नेजादअंसारी (2014) द्वारा स्टूडेंट्स अटीट्युड्स टुवर्ड्स यूजिंग कोआपरेटिव लर्निंग फॉर टीचिंग रीडिंग कोम्प्रेहेंसिंग प्रकरण पर शोधार्थी ने 52 इंटरमीडीएट ई. एफ. एल. छात्र सहगामी अधिगम की अभिवृत्ति का अध्ययन किया है। अध्ययन में पाया कि सभी अधिगमकर्ता एकमत हैं कि सहगामी अधिगम उनकी अभिवृत्ति विकसित करने मे सहायक हैं।

कौर (2013) द्वारा कोआपरेटिव लर्निंग: ए पैराडाइम शिफ्ट इन लर्निंग आउटकॉम विषय पर अध्ययन किया है। उपरोक्त शोध में शोधार्थी ने यह पाया कि छात्र सहगामी अधिगम विधि से पढ़ने के पश्चात् छात्रों की उपलब्धि, अभिवृत्ति एवं आपसी संबंधों को विकसित होने में मदद मिला।

माग्रे एवं जोशी (2013) द्वारा ए स्टडी ऑफ ओपिनियन टीचर्स टुवर्ड्स कोआपरेटिव लर्निंग प्रकरण पर अध्ययन किया। प्रस्तुत शोध में सम्पूर्ण न्यादर्श चाहे वह पुरुष व स्त्री, स्नातक व परास्नातक एवं विभिन्न अनुभव स्तर के हों। सभी द्वारा सहगामी अधिगम को सामाजिक कौशल विकसित करने का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। ऐसे शिक्षक जिनका शैक्षिक अनुभव अधिक है वे सहगामी अधिगम विधि के विषय में अधिगम के बारे मे अधिक जानकारी पाना चाहते हैं एवं इसके प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति रखते हैं।

सिंह एवं अग्रवाल (2011) द्वारा ए इंट्रोडक्शन टू कोआपरेटिव लर्निंग प्रकरण पर अध्ययन किया। शोधार्थी प्रस्तुत शोध द्वारा सहगामी अधिगम की संकल्पना एवं मुख्य बिन्दुओं को समझने का प्रयास किया गया है। जिससे सहगामी अधिगम को प्रयोग करने से पूर्व इसके प्रति समझ विकसित की जा सके।

अन्टिल इटी. आल. (1998) द्वारा कोआपरेटिव लर्निंग प्रेवलेंस, कांसेपचुलाईजेशन एण्ड द रिलेशन बिटवीन रिसर्च एण्ड प्रैक्टिस प्रकरण पर अध्ययन किया। प्रस्तुत शोध में शोधार्थी द्वारा 85 शिक्षकों में से 21 शिक्षकों का साक्षात्कार लिया गया। इस अध्ययन के परिणाम में पाया कि सहगामी अधिगम छोटे समूहों द्वारा छात्रों में सकारात्मक आत्मनिर्भरता को बढावा देने में सहायक है।

अध्ययन की उपयोगिता- प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से माध्यमिक शिक्षा में कार्यरत शिक्षकों का सहगामी अधिगम की उपयोगिता एवं सम्बन्धित सहगामी अधिगम की विभिन्न विधियों के प्रति शिक्षकों की जागरूकता एवं उदासीनता ज्ञात होगी।

अध्ययन का उद्देश्य- सहगामी अधिगम के प्रति शिक्षकों के विचारों का अध्ययन कर सहगामी अधिगम के प्रति इसकी आवश्यकता भलि भांति ज्ञात करना ।

शोध प्रश्न 1- शिक्षक सहगामी अधिगम के प्रति क्या जानकारी रखते हैं?

शोध विधि - प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक शोध विधि के साक्षात्कार एवं अवलोकन विधि के माध्यम से किया गया है।

न्यादर्श - अध्ययन क्षेत्र उत्तराखण्ड के जनपद देहरादून के चार विकासखण्डों (सहसपुर, विकासनगर, डोईवाला, रायपुर) में माध्यमिक स्तर के विद्यालयों से 200 शिक्षकों का चयन करने के लिये शोधार्थी द्वारा निम्नलिखित माध्यम से किया गया है:-

- शिक्षकों के साक्षात्कार के माध्यम से
- कक्षा-कक्ष में प्रयोग हो रही शिक्षण विधियों का अवलोकन विधि करके
- विद्यालयों हेतु जारी की गई शिक्षण प्रविधियों के माध्यम से

उपकरण- न्यादर्श 200 शिक्षकों से सूचना एकत्रित करने के लिए सहगामी अधिगम से सम्बन्धित 04 कथनों की साक्षात्कार अनुसूची दीपा आर0 पी0 द्वारा निर्मित है ।

आँकड़ों का विश्लेषण- उत्तरदाताओं (शिक्षकों) से प्राप्त आँकड़ों का सारणीयन करने के पश्चात् उनका प्रतिशत लिया गया और आँकड़ों का विश्लेषण किया गया है ।

शोध प्रश्न 1.1 सहगामी अधिगम क्या है?

सहगामी अधिगम है (ग्रुप कार्य/टीम कार्य)

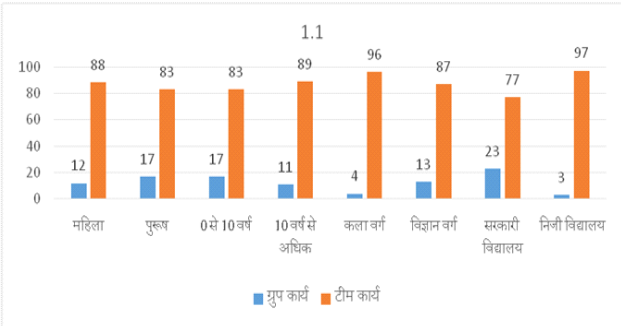

ग्राफ संख्या 1.1 से ज्ञात होता है कि सहगामी अधिगम में महिला शिक्षकों ने इसे 12 प्रतिशत ग्रुप कार्य एवं 88 प्रतिशत टीम कार्य माना। 17 प्रतिशत पुरुष एवं 0-10 वर्ष से कम कार्यानुभवी शिक्षकों ने इसे ग्रुप कार्य और 83 प्रतिशत पुरुष एवं 0-10 वर्ष से कम कार्यानुभवी शिक्षकों ने इसे टीम वर्क माना। 10 वर्ष से अधिक कार्यानुभवी 11 प्रतिशत शिक्षक इसे ग्रुप कार्य मानते है एवं 89 प्रतिशत इसे टीम वर्क मानते है। कला वर्ग के 4 प्रतिशत शिक्षक सहगामी अधिगम को ग्रुप कार्य कहते है एवं 96 प्रतिशत इसे टीम कार्य कहते है। विज्ञान वर्ग में पढ़ाने वाले 13 प्रतिशत

शिक्षक इसे ग्रुप कार्य मानते है, वही 87 प्रतिशत विज्ञान वर्ग इसे टीम वर्क मानते है। सरकारी विद्यालयों के 23 प्रतिशत शिक्षक इसे ग्रुप कार्य मानते है एवं 77 प्रतिशत इसे टीम वर्क मानते है। गैर-सरकारी विद्यालयों 3 प्रतिशत शिक्षक इसे ग्रुप कार्य मानते है एवं 97 प्रतिशत इसे टीम वर्क मानते है।

शोध प्रश्न 1.2- क्या आप सहगामी अधिगम विधियों की गहन जानकारी पाना चाहते हैं?

1.2 शिक्षकों में सहगामी अधिगम विधियों के प्रति जानकारी की आवश्यकता

ग्राफ संख्या 1.2 से ज्ञात होता है कि महिला एवं पुरुष शिक्षक, 10 वर्ष से अधिक एवं 10 वर्ष से कम कार्यानुभव वाले शिक्षक, कला एवं विज्ञान वर्ग के शिक्षक और सरकारी एवं निजी विद्यालयों के सभी शिक्षक सहगामी अधिगम के बारे में जानने हेतु एकमत है।

शोध प्रश्न 1.3- क्या आपने सहगामी अधिगम सम्बन्धित कोई प्रशिक्षण प्राप्त किया है?

1.3- सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित (सेवारत् या सेवापूर्व) प्राप्त प्रशिक्षण का विवरण

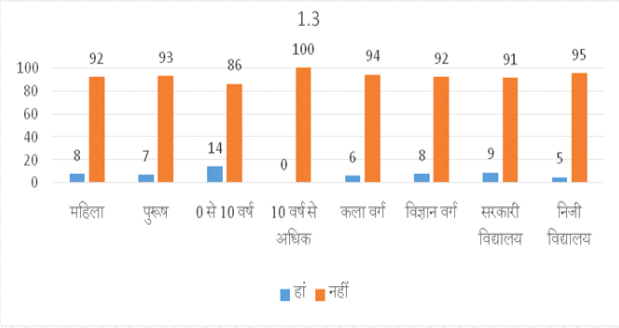

ग्राफ संख्या 1.3 से ज्ञात होता है कि 92 प्रतिशत महिला एव विज्ञान वर्ग के शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया एवं 8 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया है। 93 प्रतिशत पुरुष शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया एवं 7 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया। 0-10 वर्ष के 86 प्रतिशत कार्यानुभवी शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नही लिया एवं 7 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया। 10 वर्ष से अधिक 100 प्रतिशत कार्यानुभवी शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया। कला वर्ग के 94 प्रतिशत शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया एवं 6 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया। 92 प्रतिशत विज्ञान वर्ग के शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया एवं 8 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया। वहीं 91 प्रतिशत सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया एवं 9 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया। 95 प्रतिशत निजी विद्यालयों के शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण नहीं लिया एवं 5 प्रतिशत ने सेवारत् या सेवापूर्व प्रशिक्षण लिया।

शोध प्रश्न 1.4. सहगामी अधिगम पद्धति नहीं प्रयोग करने का कारण बताइये?

1.4.1 सहगामी अधिगम पद्धति प्रयोग न होने का कारण (प्रशिक्षण की कमी)

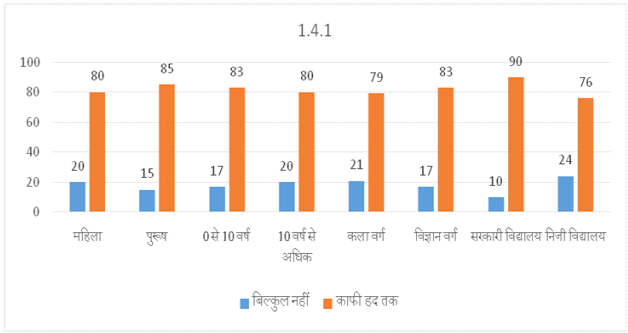

ग्राफ संख्या 1.4.1 से ज्ञात होता है कि 80 प्रतिशत महिला शिक्षकों ने माना कि प्रशिक्षण की कमी सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में बाधक है, वही 20 प्रतिशत ने प्रशिक्षण की कमी को बाधक नहीं माना। 85 प्रतिशत पुरुष शिक्षकों ने माना कि प्रशिक्षण की कमी सहगामी अधिगम पद्धति

का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में बाधक है एवं 15 प्रतिशत प्रशिक्षण की कमी को बाधक नहीं मानते हैं। 0-10 वर्ष के कार्यानुभवी शिक्षक एव विज्ञान वर्ग के 83 प्रतिशत शिक्षकों ने माना कि प्रशिक्षण की कमी सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में बाधक हैं एवं 17 प्रतिशत शिक्षक यह नहीं मानते हैं। 10 वर्ष से अधिक 20 प्रतिशत कार्यानुभवी शिक्षक सहगामी अधिगम का कक्षा-कक्ष में प्रयोग प्रशिक्षण की कमी बाधा नहीं मानते हैं एवं 80 प्रतिशत शिक्षक इसे बाधा मानते हैं। कला वर्ग के 21 प्रतिशत शिक्षक सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में प्रशिक्षण की कमी बाधा नहीं मानते हैं एवं 79 प्रतिशत शिक्षक सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में पाठ्यक्रम हेतु इसे बाधक मानते हैं वहीं विज्ञान वर्ग के 17 प्रतिशत शिक्षक सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में प्रशिक्षण की कमी बाधा नहीं मानते हैं एवं 83 प्रतिशत शिक्षक सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में पाठ्यक्रम हेतु इसे बाधक मानते हैं 90 प्रतिशत सरकारी विद्यालयों के शिक्षक प्रशिक्षण की कमी सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में बाधक मानते हैं। 10 प्रतिशत शिक्षक बाधा नहीं मानते है। निजी विद्यालयों के 76 प्रतिशत शिक्षकों ने माना कि प्रशिक्षण की कमी सहगामी अधिगम पद्धति का कक्षा-कक्ष में प्रयोग होने में बाधक मानते हैं, वही 24 प्रतिशत ने बाधक नहीं मानते हैं।

1.4.2 सहगामी अधिगम पद्धति प्रयोग न होने के कारण (समय की कमी)

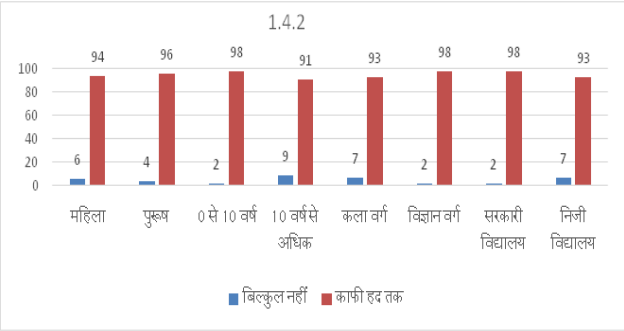

ग्राफ संख्या 1.4.2 से ज्ञात होता है कि 94 प्रतिशत महिला शिक्षकों ने कक्षा-कक्ष में मिलने वाले समय की कमी को कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को न कर पाने का मुख्य कारण मानते हैं वहीं 6 प्रतिशत महिला शिक्षक मुख्य कारण नहीं मानते। 96 प्रतिशत पुरुष शिक्षक समय की कमी को कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को न कर पाने का मुख्य कारण मानते हैं एवं 4 प्रतिशत नहीं मानते हैं। 0-10 वर्ष के कार्यानुभवी शिक्षक, विज्ञान वर्ग एवं सरकारी विद्यालयों के 98 प्रतिशत शिक्षक समय की कमी को कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को न कर पाने का मुख्य कारण मानते हैं एवं 2 प्रतिशत शिक्षक समय की कमी को कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को न कर पाने का मुख्य कारण नहीं मानते हैं। 10 वर्ष से अधिक 9 प्रतिशत कार्यानुभवी शिक्षक समय की कमी को कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को न कर पाने का मुख्य कारण इसे नहीं मानते हैं एवं 91 प्रतिशत शिक्षक मानते है। कला वर्ग एवं निजी विद्यालय के 7 प्रतिशत शिक्षक समय की कमी को कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को न कर पाने का मुख्य कारण मानते हैं एवं 93 प्रतिशत शिक्षक इसे मुख्य कारण मानते हैं।

1.4.3 सहगामी अधिगम पद्धति प्रयोग न होने के कारण (समय सारिणी)

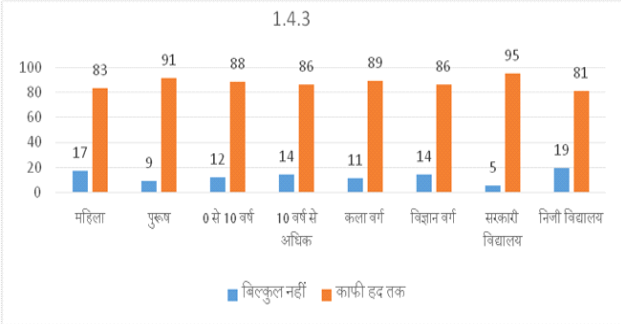

ग्राफ संख्या 1.4.3 से ज्ञात होता है कि 83 प्रतिशत महिला शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग कक्षा कक्ष मे न होने के कारण अनुपयुक्त समय सारिणी माना एवं 17 प्रतिशत शिक्षको नहीं मानते हैं। 91 प्रतिशत पुरुष शिक्षक सहगामी अधिगम पद्धति प्रयोग न होने के कारण अनुपयुक्त समय सारिणी को माना एवं 17 प्रतिशत ने उपयुक्त माना। 0-10 वर्ष के 88 प्रतिशत कार्यानुभवी शिक्षक समय सारिणी को अनुपयुक्त मानते हैं एवं 12 प्रतिशत शिक्षक उपयुक्त मानते हैं। 10 वर्ष से अधिक कार्यानुभवी एवं विज्ञान वर्ग के शिक्षकों मे 14 प्रतिशत ने सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग कक्षा कक्ष मे न होने के कारण अनुपयुक्त समय सारिणी नहीं मानते हैं एवं 86 प्रतिशत शिक्षक इसे उपयुक्त नहीं मानते हैं। कला वर्ग के 11 प्रतिशत शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग कक्षा कक्ष मे न होने के कारण अनुपयुक्त समय सारिणी माना एवं 89 प्रतिशत शिक्षक नहीं मानते हैं। सरकारी विद्यालयों के 5 प्रतिशत एवं निजी विद्यालय के 19 प्रतिशत

शिक्षक शिक्षक सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग कक्षा कक्ष मे न होने के कारण अनुपयुक्त समय सारिणी नहीं माना क्रमश: 95 एवं 89 प्रतिशत शिक्षक अनुपयुक्त समय सारिणी मानते हैं।

शोध पत्र के मुख्य निष्कर्ष –

1. सम्पूर्ण न्यादर्श के पुरुष एवं महिला शिक्षक कार्यानुभवी, कला एवं विज्ञान वर्ग के शिक्षक और सरकारी एवं निजी विद्यालयों के शिक्षकों में से अधिकांश शिक्षक सहगामी अधिगम को टीम कार्य मानते हैं। कुछ शिक्षक इसे ग्रुप कार्य की संज्ञा देते हैं। ग्रुप कार्य मानने वाले अधिकतम शिक्षक सरकारी विद्यालयों से हैं, वहीं न्यूनतम ग्रुप कार्य मानने वाले निजी विद्यालयों एवं कला वर्ग के शिक्षक हैं।
2. प्रस्तुत न्यादर्श के सभी शिक्षक सहगामी अधिगम से सम्बन्धित और अधिक ज्ञान अर्जन करना चाहते हैं।
3. वर्तमान पाठ्चयार्य एवं प्रशासकीय कारकों हेतु अधिकांश महिला, पुरुष शिक्षक 10 वर्ष से अधिक एवं 0 से 10 वर्ष और कला वर्ग के सभी शिक्षक सहगामी अधिगम को पाठ्यक्रम हेतु उपयुक्त मानते हैं, वहीं निजी विद्यालयों के सभी शिक्षक इसे सहगामी अधिगम में इसकी उपयुक्तता को महत्वपूर्ण बताते है। सरकारी विद्यालयों के 20 प्रतिशत शिक्षक इसे पाठ्यक्रम हेतु अनुपयुक्त बताते हैं।
4. वर्तमान पाठ्यचर्या एवं प्रशासकीय कारकों हेतु अधिकांश महिला शिक्षक 10 वर्ष से अधिक एवं 0 से 10 वर्ष और कला वर्ग एवं विज्ञान वर्ग के शिक्षक निजी विद्यालयों के 90 प्रतिशत से अधिक शिक्षक सहगामी अधिगम को पाठ्यक्रम हेतु उपयुक्त मानते हैं। सरकारी विद्यालयों के 20 प्रतिशत शिक्षक सहगामी अधिगम को उपयुक्त नहीं मानते हैं।
5. वर्तमान पाठ्यचर्या एवं प्रशासकीय कारकों हेतु अधिकांश महिला शिक्षक 10 वर्ष से अधिक एवं 0 से 10 वर्ष और कला वर्ग एवं विज्ञान वर्ग के शिक्षक, निजी विद्यालयों के 90 प्रतिशत से अधिक शिक्षक सहगामी अधिगम को परीक्षा प्रणाली हेतु उपयुक्त मानते हैं।
6. सहगामी अधिगम से पद्धति से सम्बन्धित सेवारत् अथवा सेवापूर्व 90 प्रतिशत से अधिक महिला एवं पुरुषों शिक्षकों कला वर्ग एवं विज्ञान वर्ग और सरकारी एवं निजी विद्यालयों के शिक्षकों के द्वारा नहीं लिया गया है। वहीं 10 वर्ष से अधिक सभी कार्यानुभवी शिक्षकों ने सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित प्रशिक्षण नहीं लिया हैं। 0 से 10 वर्ष के कार्यानुभवी शिक्षकों में केवल 14 प्रतिशत शिक्षकों द्वारा सहगामी अधिगम प्रशिक्षण प्राप्त किया है।
7. सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग प्रशिक्षण की कमी के कारण 80 प्रतिशत से अधिक महिला एवं पुरुष, 0 से 10 वर्ष एवं 10 वर्ष से अधिक कार्यानुभवी शिक्षक, विज्ञान एवं सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों ने प्रशिक्षण की कमी माना वही 24 प्रतिशत निजी विद्यालयों के शिक्षक प्रशिक्षण की कमी सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग करना नहीं मानते हैं।
8. सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग न होने का कारण 95 प्रतिशत से अधिक पुरुष शिक्षकों, 0 से 10 वर्षीय कार्यानुभवी, विज्ञान वर्ग के शिक्षकों एवं सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों ने समय की कमी माना। 10 वर्ष से अधिक कार्यानुभवी शिक्षक समय की कमी को सहगामी अधिगम प्रयोग न कर पाने का कारण नहीं मानते हैं।
9. सहगामी अधिगम पद्धति का प्रयोग न होने का कारण 85 प्रतिशत से अधिक के पुरुषों शिक्षकों, 0 से 10 वर्ष एवं 10 वर्ष से अधिक कार्यानुभवी शिक्षकों, कला एवं विज्ञान वर्ग और सरकारी विद्यालयों के शिक्षक व्यस्त समय सारणी को मानते हैं।

शोध पत्र का विवेचनात्मक विवरण –

1. माध्यमिक स्तर के सभी शिक्षकों का न्यादर्श चाहे वह महिला हो या पुरुष कार्यानुभव के आधार पर हो या कला वर्ग या विज्ञान वर्ग के आधार पर हो सरकारी विद्यालयों में पढ़ाते हो या निजी विद्यालयों में पढ़ाते हो। सभी सहगामी अधिगम को ग्रुप कार्य और टीम कार्य मानते हैं, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सहगामी अधिगम ग्रुप कार्य है या टीम कार्य इस विषय पर शिक्षकों के विचार अस्पष्ट है।
2. सम्पूर्ण न्यादर्श के सभी माध्यमिक स्तर के शिक्षक सहगामी अधिगम के बारे में और अधिक जानने चाहते है। जिससे उनका शिक्षण और अधिक प्रभावी बन सके।
3. सहगामी अधिगम से सम्बन्धित सेवा पूर्व अथवा सेवारत् प्रशिक्षण अधिकांश शिक्षकों ने नहीं पाया है, जिसके कारण वे सहगामी अधिगम को अपने शिक्षण एवं मूल्यांकन में प्रभावी रूप से प्रयोग कर पाने में असमर्थ हैं। 10 वर्ष से अधिक कार्यानुभवी शिक्षकों ने सहगामी अधिगम से सम्बन्धित कोई भी सेवारत् अथवा सेवापूर्व प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया है, जिससे यह ओर भी आवश्यक हो जाता है कि माध्यमिक शिक्षकों का सहगामी अधिगम पद्धति से सम्बन्धित सेवापूर्व

एवं सेवारत् प्रशिक्षण कराया जाये।

4. कक्षा-कक्ष में सहगामी अधिगम को प्रयोग न कर पाने के मुख्य कारणों में प्रशिक्षण की कमी, कक्षा-शिक्षण में समय की कमी एवं व्यस्त समय-सारणी में प्रशिक्षण की कमी सर्वाधिक शिक्षकों द्वारा पाया गया। वहीं कक्षा में समय की कमी 10 वर्ष से अधिक के कार्यानुभवी शिक्षक सहगामी अधिगम के संचालन में बाधा मानते हैं। व्यस्त समय-सारणी में निजी विद्यालयों के अधिकांश शिक्षक इसे कक्षा-कक्ष में प्रयोग न करने का कारण मानते है वही न्यूनतम सरकारी शिक्षक व्यस्त समय-सारणी को सहगामी अधिगम के प्रयोग में बाधा नहीं मानतेहैं।

शोध पत्र के मुख्य सुझाव -

1. सहगामी अधिगम की संकल्पना को समझना, शिक्षकों के लिये बहुत आवश्यक है।
2. सहगामी अधिगम से सम्बन्धित विधियों को समझने के लिये माध्यमिक स्तर के शिक्षकों हेतु सहगामी अधिगम पद्धति की सेवारत् एवं सेवापूर्व प्रशिक्षण की आवश्यकता है।
3. वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शिक्षक प्रशिक्षण, कक्षा-कक्ष में उपयुक्त समयावधि एवं समय-सारणी को सहगामी अधिगम के अनुरूप तैयार किया जाये।
4. सहगामी अधिगम का प्रयोग कक्षा-कक्ष में सुचारू रूप से हो इसके लिये समय-समय पर अनुश्रवण की आवश्यकता है।
5. सहगामी अधिगम के मूल्यांकन हेतु रूब्रिक्स, अवलोकन आदि विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

संदर्भ सूची-

- Agashe, L. (2020). SahyogiSikshan- e book. Pragyarthprakashan. Pune.
- Antil, L. R. Joseph, J. R. and Wayne, S. K. (1998). Cooperative Learning: Prevalence, Conceptulizations, and the Relation between Research and Practice. *American Educational Research Journal Fall 1998, Vol. 35, No. 3, pp 419-454.*
- Farzaneh, N. and Nejadansari, D. (2014). Students' Attitude towards Using Cooperative Learning for Teaching Reading Comprehension. *Theory and Practice in Language Studies, Vol. 4, No.2, pp. 287-292, Feb. 2014.*
- Kagan S. (1994). Cooperative Learning. San Clemente, California: Kagan Publishing.
- Kaur, S. (2013). Cooperative Learning: A Paradigm shift in Learning Outcomes. *International Educational E-Journal, (Quaterly), ISSN 2277-2456, Vol.II, Issue IV, Oct-Nov-Dec-2013.*
- Magre, S. and Joshi, S. V. (2013). A Study of Opinion of Teachers towards Cooperative Learning Strategy. *International Educational E-Journal, (Quaterly), ISSN 2277-2456, Vol. II, Issue-II, Apr.-May-June 2013.*
- MHRD (2020). New Education Policy. New Delhi, India.
- MHRD (2010). Right to Education Act. New Delhi, India
- National Council of Teacher Education (2006). Curriculum Framework for Teacher Education. New Delhi, India: NCTE
- NCERT (2005). National Curriculum Framework. New Delhi, India.
- Singh Y. P. and Agrawal A. Introduction to Cooperative Learning. *Indian Stream Research Journal Vol.1, ISSN-2230-7850,IISUE-2, March-2011*
- Singh A. K. Research Methods in Psychology Sociology and Education. *Motilal Banarasidas, ISBN:978-208-2410-2*

ISSN 2278 - 0327

कबीर का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

सन्दीप कुमार
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
बिट्स लॉ कोल्लाज भिवानी, हरियाणा

भूमिका –भारतीय संस्कृति का मूलाधार आध्यात्मिकता है और यहां इतनी संस्कृतियों से इसकी भिन्नता का मूलभूत कारण है जो उसमें बाहर से दिखने वाली जीवनगत बाह्य भिन्नताओं में मौलिक एकता प्रदान करता है। स्वतंत्र विचार–पद्धति या अभय मनोवृत्ति भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है किन्तु ये सहिष्णुता एवं औदार्य पर आधारित है और यही कारण है कि यहाँ ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी विचारक उत्पन्न हुए किन्तु उन्होंने कभी भी अपने आदर्शों की रक्षा के लिए रक्तपात का सहारा नहीं लिया। अपने–अपने आदर्शों की दृष्टि के लिए केवल तर्क और बौद्धिकता का आलम्बन ही लिया गया।

भारत की संस्कृति जड़ एवं अपरिवर्तनशील नहीं है। इसकी मूल प्रवृति परिवर्तन एवं परिवर्धन की रही है किन्तु इस स्थिति में अपनी सारभूत विचारतत्व को बनाये रखती है जिसके कारण सदैव मूलभूत विचार तथा आदर्श युगानुरूप नवविकसित बाह्य रूपों में अभिव्यक्त होकर उसे सतत् बनाते हैं। भारतीय जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है और जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती पुनर्जन्म लेना पड़ता है तथा व्यक्ति प्रत्येक जन्म में मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक आकांक्षा ने सम्पूर्ण जीवन को चरम लक्ष्य की ओर मोड़ दिया है दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय मनीषियों ने परलोक सम्बन्धी धारणा बनायी जिसके लिए मोक्ष को आवश्यक समझा और उसकी प्राप्ति के लिए जीवन को ऐसे आदर्श दिये जो साधन बने, अत: भारतीय संस्कृति का मूलाधार आध्यात्मिकता है।

कबीर प्रेम–दशा की ऐसी ही एक दूसरी स्थिति का वर्णन करते है जिसमें प्रेम की वही तीव्रता और वही व्यापकता है किंतु वह 'अहंकार' विनिपात की स्थिति है जिसमें आत्मविलय का प्रकाशन है। इस संबंध में कबीर कहते हैं–

तूँ–तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही नै हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ।।[1]

कबीर ने अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को इस प्रकार समझाया है।

परमतत्त्व – जिसको उपनिषद् और शंकर आदि दार्शनिक आत्मा या ब्रह्म कहते है, उसका कबीर ब्रह्म, निरंजन, राम आदि नामों से अभिहित करते हैं। अल्लाह, खुदा, रहीम, केशव आदि नाम उसी के पर्यायी है। कबीर उसी को 'परम–तत्व' कहते है।

कबीर उस 'परम–तत्व' को ज्ञान, ध्यान, भेद, पाप, पुण्य, आकार, प्रकार वेश आदि की सीमाओं से परे कहते हैं। तीनों लोकों में व्याप्त वह उनसे भी परे हैं। वह अनुपम, अखंड और निराकार है। वह न तो जलता है न कटता है न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। कबीर ने उसको अनादि, अनन्त और अदृश्य कहा है। कबीर उस 'परमतत्त्व' की स्थिति शरीर के भीतर ही बल है और वह सर्व शक्तिमान है। वह व्यापक भी है और व्याप्त भी है। वह सबका प्रेरक है, उसे कोई प्रेरित नहीं करता। वह त्रिलोक एक प्रेक्षण है जिसमें उसी अकेले की प्रेरणा से नाच नचा जाता है:–

तीनि लोक पूरा पेखना
नाच नचवै एकै जना।[2]

जीवात्मा – 'परम–तत्व' का एक व्यावहारिक स्वरूप जीवात्मा है 'जीवात्मा' और 'परम–तत्त्व' में कोई भेद नहीं है। सामान्यत: लोग जिसे मरता–जीता देखते हैं उसे जीवात्मा कह देते हैं। वस्तुत: वह 'आत्मा' नहीं है, वह तो पंचतत्त्वों से निर्मित शरीर है। '*आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है और न उसमें कोई विकार होता है। वह तो 'निरंजन' नाम से अभिहित होती है।*'[3] कबीर कहते हैं कि परमात्मा सब में है और सब परमात्मा में है आगे वे जीवात्मा को दो कोटि बताते है ज्ञान और अज्ञानी, ज्ञानी शरीर में रहते हुए भी मुक्त होता है, किंतु अज्ञानी 'बद्ध' होता है। वह माया–जाल में फँसकर नाना प्रकार के दु:ख को भोगता है। 'ब्रह्म–ज्ञान' अथवा 'आत्म–परिचय' हो जाने पर वह माया–मुक्त हो जाता है। '*जीव को ब्रह्म ने सजाया है और उसका पालन किया है जीव को बंधन में बाँधने वाला परमात्मा ही जीव की रक्षक है।*'[4]

माया – कबीर ने माया को झूठी बताया है जो उत्पन्न होकर विनष्ट होती है, सब माया का ही रूप है माया त्रिगुणात्मिका है। सत्व, रजस् और तमस् ये तो उसके गुण तत्त्व हैं। आदर, मान, जप, तप, योग आदि में कबीर माया का ही रूप देखते है। जल, थल, नभ आदि में माया ही फैली हुई है। माता–पिता, स्त्री–पुरुष, पुत्र–पुत्री अनेक संबंध भी माया की ही व्याप्ति है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि में भी माया ही है और सम्मोहन शक्ति से वह जीवों को मोह में डालती है माया की सम्मोहन–शक्ति का परिचय देते हुए कबीर कहते हैं –

मीठी–मीठी माया तजी न जाई,
अग्यांनी पुरिष कौ भोलि भौलि खाई।[5]

कैसी दयनीय स्थिति है कि अज्ञानी जीव इस भंगुर शरीर और जगत में बैठा हुआ भी सचेत नहीं होता। जो संबंध वृक्ष और छाया का है वही प्राण और माया से प्राण निकल जाने पर माया से कोई संबंध नहीं रहता है। कबीर ने माया को पापिनी, विश्वासघातिनी तथा अनिष्टकारिणी कहा है। जो व्यक्ति मायाजाल में दु:खों से पीड़ित होकर रात–दिन रोता रहता है, वह माया से निवृत नहीं हो सकता। माया का निवारण दो ही प्रकार से हो सकता है – भगवत्कृपा से या ज्ञान से। ज्ञान व्यक्ति भी माया के प्रति उदास हो जाता है। कबीर ऐसे व्यक्ति के प्रति बड़ा आदर व्यक्त करते हैं। परमात्मा जब ज्ञान देता है तो माया छूट जाती है–

हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया,
ताथैं छूटि गई सब माया।[6]

जगत – अद्वैतवादियों की भाँति कबीर जगत की पारमार्थि सत्ता स्वीकार नहीं करते वे जगत को स्वप्निल, नश्वर, असत्य आदि नामों से अभिहित करते हैं। यह समय जगत नामरूपात्मक है। देश और काल इसकी सीमाएँ है। रूप का नाम रखा जाता है। जब तक रूप है तभी तक नाम भी सार्थक है। '*इसलिए कबीर कहते हैं कि विनष्ट होने पर किसका क्या नाम रखोगे*'[7] कबीर परमात्मा को ही जगत का सृष्टा तथा कर्ता घोषित करते हैं। जगत की क्षणभंगुरता की दुंदभी बजाकर इसके प्रति केवल विरक्ति पैदा करना चाहता है। वे जीव को चेतावनी देते हुए कहते हैं – '*हरे प्राणी, इस झूठे संसार से प्रीति मत कर।*'[8]

जिस प्रकार आकाश–गत धूम–ग्रह को नष्ट होने में देर नहीं लगती उसी प्रकार इसके विनष्ट होने में देर नहीं लगेगी, अतएव तू इसके साथ अपना एक मत जोड़। संसार स्वप्न के समान मिथ्या है और सांसारिक जीवन भी स्वार्थी है। मनुष्य इस स्वप्न को ही सत्य मान बैठा है। कबीर ने सत्य की एक 'कसौटी' बना ली है। वे कहते हैं – '*जो स्थिर रहता है वह सत्य है और जो उत्पन्न होता है और विनष्ट हो जाता है वह झूठ है।*'[9] जगत उत्पन्न होता है विनष्ट होता है। उस अनेक परिवर्तन होते रहते है, अत: जगत् सत्य नहीं है, असत्य है।

शरीर – शरीर के संबंध में कबीर को सामान्य ज्ञान है। शरीर पंच–तत्त्व की रचना है। इन तत्त्वों के संयोग से तो शरीर का निर्माण होता है और वियोग से नष्ट होता है। इस शरीर का निर्माता या सृष्टा परमात्मा है। उसी ने उसे पंचतत्व और तीन गुणों (सत्य, रजस् तथा तमस्) से निर्मित किया है। शरीर की नश्वरता को व्यक्त करने के लिए कबीर ने इसे '*कागद का पुतलन, जल–बूँद, जल–बुदबुदा*'[10] आदि अनेक नाम से अभिहित किया है। जन्म और मरण शरीर की दो सीमाएँ हैं। मनुष्य अज्ञान पुण्य–पाप के भ्रम में पड़ता है। इनको कबीर शरीर का बीज मानते है। इन्हीं के भोग भोगने के लिए जन्म लेना और मरना पड़ता है जन्म और मरण के बीच सामान्यत: शरीर को तीन अवस्थाओं में जान पड़ता है कौमार्य, यौवन तथा जरा। जो लोग सुन्दर शरीर पर गर्व करते हैं कबीर उनकी अज्ञानता पर कहते हैं –

माटी जैसा पूतला, काहे गरब कराये रे।
दिवस चारि की पेखनौ, फिरि माटी मिलि जाये रे।।[11]

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही मरते हैं, किंतु ज्ञानी एक बार मर कर काल मुक्त हो जाता है और ज्ञानी को बार–बार मृत्यु में जाना पड़ता है–

जांणि मरै न कोई,
तौ बहुरि न मरणा होई।[12]

जो यह जानता है कि जिसमें हम है वही हममें है, यहां जीवात्मा और परक का ऐक्य हो जाता है।

संदर्भ सूची –

1. कबीर ग्रंथावली, पृ0 सं0 5.9
2. वही, पृ0 सं0 154.194
3. वही, पृ0 सं0 104.51
4. वही, पृ0 सं0 193.314
5. वही, पृ0 सं0 169.238
6. वही, पृ0 सं0 190.300
7. वही, पृ0 सं0 225
8. वही, पृ0 सं0 220.398
9. वही, पृ0 सं0 34.19
10. वही, पृ0 सं0 213
11. वही, पृ0 सं0 231
12. वही, पृ0 सं0 144.169

ISSN 2278 - 0327

वेद का स्वरूप एवं वैदिक वाङ्मय का शास्त्रीय अध्ययन

सुनील कुमार पाण्डेय
शोधार्थी (संस्कृत)
डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय
अयोध्या, उत्तर प्रदेश

वेदों का रचनाकाल निर्धारण वैदिक साहित्येतिहास की एक जटिल समस्या है। विभिन्न विद्वानों ने भाषा, रचना शैली, धर्म एवं दर्शन, भूगर्भशास्त्र, ज्योतिष, उत्खनन में प्राप्त सामग्री अभिलेख आदि के आधार पर वेदों का रचना काल निर्धारित करने का प्रयास किया है। किन्तु इनसे अभी तक कोई सर्वमान्य रचना काल निर्धारित नहीं हो सकता है। इसका कारण यही है कि सबका किसी न किसी मान्यता के साथ पूर्वाग्रह है। 18वीं शती के अन्त तक भारतीय विद्वानों की यह धारणा थी कि वेद ''अपौरूषेय'' है, अर्थात् किसी मनुष्य की रचना नहीं है। संहिताओं, ब्राह्मणों, दार्शनिक ग्रन्थों, पुराणों तथा अन्य परवर्ती साहित्य में अनेक उदाहरण मिलते हैं। जिनमें वेद के अपौरूषेयत्व का कथन मिलता है। वेद भाष्यकारों की भी परम्परा वेद को अपौरूषेय ही मानती रही। इस प्रकार वेद के अपौरूषेयत्व की धारणा उसके कालनिर्धारण की सम्भावना को ही अस्वीकार कर देती है। दूसरी तरफ 10वीं सदी के प्रारम्भ से ही, जबकि पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा वेदाध्ययन का महत्वपूर्ण प्रयास किया गया। यह धारणा प्रतिष्ठित होने लगी कि वेद अपौरूषेय नहीं, मानव ऋषियों की रचना है। अतएव उनके काल निर्धारण की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप अनेक पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा इस दिशा में प्रयास किया गया। वैदिक आर्य संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। इस तथ्य को चूंकि पाश्चात्य मानसिकता अंगीकार न कर सकी। इसलिए वेदों का रचनाकाल ईसा से सहस्त्राब्दियों पूर्व मानना उनके लिये सम्भव नहीं था। क्योंकि विश्व की अन्य संस्कृतियों की सत्ता इतने सूदूरकाल तक प्रमाणित नहीं हो सकती थी। यद्यपि उन्होंने इतना अवश्य स्वीकार किया है कि वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। इस प्रकार वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। इस विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वान् एकमत हैं। वैमत्य केवल इस बात में है कि इसकी प्राचीनता काल विधि में कहाँ रखी जाय। वेद के रचनाकाल-निर्धारण की दिशा में अब तक विद्वानों ने जो कार्य किये हैं तथा एतद्विषयक अपने मत स्थापित किये हैं उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया है:-

मैक्समूलर का मत- बौद्ध धर्म के आविर्भावकाल को आधार बनाकर सर्वप्रथम मैक्समूलर ने वेद के रचनाकाल को सुनिश्चित करने का प्रयास किया। मैक्समूलर ने कात्यायन का समय चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्द्ध निर्धारित किया। मैक्समूलर ने सूत्रकाल और परवर्ती लौकिक संस्कृति के बीच की कड़ी परिशिष्ट साहित्य है। उसी प्रकार ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल के बीच की कड़ी आरण्यक और उपनिषद है। मैक्समूलर ने इसके काल को 1000 ई. से 800 ई. पू. तक माना है।

वेदों का काल- वेदों का अवतरण काल वर्तमान सृष्टि के आरंभ के समय का माना जाता है। इसके हिसाब से वेद को अवतरित हुए 2017 (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा विक्रमी संवत् 2074) को 1,96,08,53,117 वर्ष होंगे। वेद अवतरण के पश्चात् श्रुति के रूप में रहे और काफी बाद में वेदों को लिपिबद्ध किया गया और वेदों को संरक्षित करने अथवा अच्छी तरह से समझने के लिए वेदों से ही वेदांगों का आविष्कार किया गया। इसमें उपस्थित खगोलीय विवरणानुसार कई इतिहासकार इसे 5000 से 7000 साल पुराना मानते हैं। वेद हमें ब्रह्माण्ड के अनोखे, अलौकिक व ब्रह्माण्ड के अनंत राज बताते हैं। वेद की पुरातन नीतियाँ व ज्ञान इस दुनियाँ को न केवल समझाते हैं अपितु इसके अलावा वे इस दुनियाँ को पुन: सुचारु तरीके से चलाने में मददगार साबित हो सकते हैं।

विवेचना- प्राचीनकाल में भारत में ही इसकी विवेचना के अन्तर के कारण कई मत बन गए थे। मध्ययुग में भी इसके भाष्य (कारकों) को लेकर कई शाखा भी हुयीं। वैदिक सनातन वर्णाश्रमी इसमें वर्णित चरित्रों देव को पूक और मूर्तिरूपक आराध्य समझते हैं। जबकि दयानन्द सरस्वती सहित अन्य कईयों का मत है कि इनमें वर्णित चरित्र (जैसे-अग्नि, इंद्र आदि) एकमात्र ईश्वर के ही

रूप और नाम है। इनके अनुसार देवता शब्द का अर्थ है (उपकार) देने वाली वस्तुएँ विद्वान् लोग और सूक्त मंत्र (और नाम) न कि मूर्ति पूजनीय आराध्य रूप है।

वेद का परिचय- 'विद्' का अर्थ है, जानना, ज्ञान इत्यादि वेद शब्द संस्कृत भाषा के 'विद्' धातु से बना है। 'वेद हिन्दू के प्राचीन पवित्र ग्रंथों का नाम है। इससे वैदिक संस्कृति प्रचलित हुई। ऐसी मान्यता है कि इनके मंत्रों को परमेश्वर ने प्राचीन ऋषियों को अप्रत्यक्ष रूप से सुनाया था। इसलिए वेदों को श्रुति भी कहा जाता है। वेद प्राचीन भाषा के वैदिक काल की वैश्विक परम्परा की अनुपम कृति है। जो पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही है।

वैदिक वाङ्मय का परिचय- संस्कृत वैदिक वाङ्मय के शास्त्रीय परिचय में परिष्कृत हुई एवं परिष्कृत होने के कारण ही इस भाषा को 'संस्कृत' कहा जाता है। यह विद्वानों, मनीषियों, शिष्टों तथा तत्वज्ञानियों की भाषा है। संस्कृत साहित्य विश्व का सबसे प्राचीन एवं समृद्ध साहित्य है। 'ऋग्वेद' विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। उदाहरण के रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है संस्कृत साहित्य एक विशाल वृक्ष है। 'वेद' इसका मूल है। ब्राह्मण और आरण्यक इसके तने हैं। महाभारत और पुराण इसके परिपुष्ट मध्यवर्ती प्रदेश है। जिस पर विभिन्न दर्शन, स्मृतियाँ, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व विद्या, वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र, कामशास्त्र आदि भौतिक ज्ञान-विज्ञान को पल्लवित करने वाली बहुमुखी शाखाएँ हैं।

'वेदस्य सर्वविधानिधानत्वम्' अर्थात् वेद सब विधाओं का खजाना है। *'यदिष्ठिस्ति तदन्यम मनेहास्ति न तत् क्रचित'* अर्थात् जो इसमें है वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं है। यह उक्ति भी वेदों के लिए चरितार्थ हुई। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप रूप से लेकर भी इनका साहित्यिक महत्व बना हुआ है। जब हम चार वेदों की बात करते हैं तो उससे संहिता भाग का ही अर्थ लिया जाता है। उपनिषद् (ऋषियों की विवेचना), ब्राह्मण (अर्थ) आदि मंत्र भाग (संहिता) के सहायक ग्रंथ समझे जाते हैं। वेद-चार है। ऋक्, साम, यजु और अथर्व।

वेद का शास्त्रीय स्वरूप - संस्कृत साहित्य की शब्द रचना की दृष्टि से शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। परन्तु इसका प्रयोग साधारणतया ज्ञान के अर्थ में भी किया जाता है। हमारे ऋषियों ने अपनी तपस्या के द्वारा जिस ''शास्त्र ज्योति'' का परम्परागत शब्द रूप से साक्षात्कार किया, वही शब्द राशि 'वेद' है। वेद अनादि है और परमात्मा के स्वरूप है। महर्षियों द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट होने के कारण इनमें कहीं भी असत्य या अविश्वास के लिए स्थान नहीं है। ये नित्य है और मूल में पुरुष जाति से असम्बद्ध होने के कारण अपौरूषेय है।

प्रमाणिकता:- वेद अनादि अपौरूषेय और नित्य है तथा उसकी प्रमाणिकता स्वत: सिद्ध है। इस प्रकार का मत आस्तिक सिद्धान्त वाले सभी पौराणिकों एवं सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त के दार्शनिकों का है। न्याय और वैशेषिक के दार्शनिकों ने वेद को अपौरूषेय की संज्ञा दी है। पर वे भी इन्हें परमेश्वर (पुरूषोत्तम) द्वारा निर्मित परन्तु पूर्वानुरूपी की स्थिति है। इन दोनों शाखाओं के दार्शनिकों ने वेद को परमा प्रमाण माना है और अनुपूर्वी (शब्दोच्चारणक्रम) को सृष्टि से आरम्भ से लेकर अब तक अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त माना है जो वेद को प्रमाण नहीं मानते वे आस्तिक नहीं कहे जाते। अत: सभी आस्तिक वाले वेद को प्रमाण मानने में एकमत है। केवल न्याय और वैशेषिक दार्शनिकों की अपौरूषेय मानने की शैली भिन्न है। नास्तिक दार्शनिकों ने वेदों को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा रचा हुआ ग्रन्थ माना है। द्वापर युग की समाप्ति के पूर्व वेदों के उक्त चार विभाग अलग-अलग नहीं थे। उस समय तो 'ऋक्-यजु:' और 'साम' इन तीन शब्द शैलियों की संग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनी शब्द राशि ही वेद कहलाती थी। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि परमपिता परमेश्वर ने प्रत्येक काल के आरम्भ में सर्वप्रथम ब्रह्मा जी (परमेष्ठी प्रजापति) के हृदय में समस्त वेदों का प्रादुर्भाव कराया था तो उनके चारों मुखों में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। ब्रह्मा जी की ऋषि संतानों ने आगे चलकर तपस्या द्वारा इसी शब्द राशि का साक्षात्कार किया और पठन-पाठन की प्रणाली से इनका संरक्षण किया।

वैदिक साहित्य का महत्व :-

वेद और विद्या दोनों शब्द विद् धातु से बने है। सायण वेद शब्द की दूसरी व्याख्या भी की है:-

''इष्टप्राख्यनिष्टपरिहारमोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:''

जो ग्रन्थ इष्टप्राप्ति और अनिष्ठ निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। वेद आप्त वचन है। वेदों में प्रतिपादित धर्म और ज्ञान शब्द प्रमाण है। प्रत्यक्ष और अनुमान से जिन बातों का ज्ञान नहीं हो सकता है। जैसे- धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, पुनर्जन्म आदि बोध वेदों से ही होता है। अत: कहा गया है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तुपामो न बृह्यते।
एनं विदन्ति वेदेन, तस्माद् वेदस्य वेदता।।

धार्मिक महत्व:- वेद धर्म की आधारशिला है। धर्म के मूल तत्वों को जानने के एकमात्र साधन वेद है।

''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''

मनु ने वेदों को धर्म का मूल बताया है। मनु वेदों को सर्वज्ञानमय और सब विधाओं का स्रोत मानते हैं। तथा मानव मात्र के कर्त्तव्य ज्ञान के लिए वेदों को आधार मानते हैं।

य: कश्चित् कस्यचिद्, धर्मो मनुना परिकीर्तित:।
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि स:।।

समस्त वैदिक वाङ्मय वेदों को प्रमाण मानता है। वेद अध्ययन परम् तप माना गया है।

शास्त्रीय महत्व :- *''सर्वज्ञानमयो हि स:''* वेदों की सभी विधाओं का आधार माना गया है। वेद में दार्शनिक सिद्धान्त, राजनीति, समाजशास्त्र, आध्यात्म, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, गणित, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काकशास्त्र, कामशास्त्र तथा विविध कलाओं का अनेक स्थानों पर वर्णन है। वेदों के आध्यात्म तथा दार्शनिक तत्वों को लेकर ही विविध उपनिषदों और दर्शनों की सृष्टि हुई। अतएव समस्त प्राचीन वाङ्मय में वेदों के अध्ययन पर असाधारण बल दिया गया है।

वेदों में वेदांग का वर्णन :- वेदांग का अर्थ है वेदस्य आख्यानि वेद के अंग। अंग का अर्थ है-अङ्ग्यन्ते, ज्ञानते एमिरिति अङ्गानि अर्थात् वे उपकारक तत्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध होता है। वेदों के वास्तवित अर्थ के ज्ञान के लिए जिन साधनों की उपयोगिता थी, उन्हें वेदांग कहते थे। वेदांगों के द्वारा मंत्रों का अर्थ उनकी व्याख्या एवं यज्ञादि में उनके विनियोग का बोध होता था। आरम्भ में वेदांग स्वतंत्र विषय न होकर वेदाध्ययन के विशिष्ट उपयोगी प्रकार थे। बाद में ये स्वतंत्र विषय के रूप में विकसित हुए। सर्वप्रथम वेदांग के भेदों का उल्लेख मुण्डक उपनिषद् में अपरा विधा के अन्तर्गत चार वेदों के नामोल्लेख के बाद प्राप्त हुआ है। तत्पश्चात् ऋग्वेदो, यजुर्वेद:, सामवेदोऽवर्थवेद:, शिक्षा काव्यो, व्याकरणं, निरूक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।।

संख्या :- वेदांग छ: माने जाते हैं- 1- शिक्षा, 2- व्याकरण, 3- छन्द, 4- निरूक्त, 5-ज्योतिष, 6-कल्प।

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरूक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षड्कानि वेदस्याहुर्मनीषिण:।।

ये वेदांग सामान्यतया सूत्र-शैली में लिखे हुए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड, विनियोग एवं यज्ञविधि आदि के नियम बहुत विस्तृत और व्यापक थे। अत: संक्षेप में स्मरणार्थ सूत्र-शैली को अपनाया गया है।

पाणिनीय शिक्षा में वेद पुरूष के छ: अंगों के रूप में छ: वेदांगों का वर्णन है। छन्द वेद पुरूष के पैर है, काव्य हाथ है, ज्योतिष नेत्र है, निरूक्त कान है, शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है।

छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषमायनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

कर्मकाण्ड में भिन्न वर्गीकरण :-

वेद का प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान देना ही है। जिसमें प्राणी मात्र इस असार संसार के बन्धनों के मूलभूत कारणों को समझकर इससे मुक्ति पा सके। अत: वेद में कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दोनों विषयों का सर्वांगीण निरूपण किया गया है। वेद का प्रारम्भिक भाग कर्मकाण्ड है। और वह ज्ञानकाण्ड वाले भाग से बहुत अधिक है। कर्मकाण्ड में यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी विधि निषेध आदि का सर्वांगीण विवेचन है। इस भाग का प्रधान उपयोग यज्ञानुष्ठान में होता है। जिन अधिकारी वैदिक विद्वानों को यज्ञ कराने का यजमान द्वारा अधिकार प्राप्त होता है उसे 'ऋत्विक' कहते हैं। श्रौतयज्ञ में इन ऋत्विजों के चार गण हैं। समस्त ऋत्विक चार वर्गों में बंटकर अपना-अपना कार्य करते हुए यज्ञ को सर्वांगीण बनाते हैं। गणों के नाम है- 1-होतृगण, 2- उध्वर्युगण, 3-उद्गातृगण, 4- ब्रह्मगण।

उपर्युक्त चार गणों या वर्णों के लिए उपयोगी मंत्रों के संग्रह के अनुसार वेद चार हुए हैं उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है-

1- **ऋग्वेद:**- इसमें होतृगण के लिए उपयोगी मंत्रों के संग्रह के अनुसार वेद में वर्णन है। इसका नाम ऋग्वेद इसलिये पड़ा है कि 'ऋक्' संज्ञक (पद्यबद्ध) मंत्रों की अधिकता है। इसमें होतृवर्ग के उपयोगी गद्यात्मक (यजु:) स्वरूप के भी कुछ मंत्र है। इसकी मंत्र संख्या अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक है। इसके कई मंत्र अन्य वेदों में भी मिलते हैं। सामवेद में तो ऋग्वेद के मंत्र ही अधिक है।

2- **यजुर्वेद:**- इसमें यज्ञानुष्ठान सम्बन्धी अध्वर्युवर्ग के उपयोगी मंत्रों का संकलन है। इसका नाम यजुर्वेद इसलिये पड़ा, कि इसमें 'गद्यात्मक मंत्रों की अधिकता है। इसमें कुछ पद्यबद्ध मंत्र भी है जो अध्वर्युवर्ग के उपयोगी है। इसके कुछ मंत्र अथर्ववेद में भी पाये जाते हैं। यजुर्वेद के दो विभाग हैं- 1- शुक्लयजुर्वेद, 2- कृष्णयजुर्वेद।

3- **सामवेद:**- इसमें यज्ञानुष्ठान के उद्गातृवर्ग के उपयोगी मंत्रों का संकलन है। इसका नाम सामवेद इसलिए पड़ा है कि इसमें

गायन पद्धति के निश्चित मंत्र ही है। इसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। कुछ मंत्र स्पष्ट भी है।

4- **अथर्ववेद:**- इसमें यज्ञानुष्ठान के ब्रह्मवर्ग के उपयोगी मंत्रों का संकलन है। इस ब्रह्मवर्ग का कार्य है यज्ञ की देख-रेख करना। समय-समय पर नियमानुसार निर्देश देना, यज्ञ में ऋत्विजों एवं यजमान के द्वारा कोई भी भूल हो जाय या कमी रह जाय तो सुधार या प्राश्चित करना। अथर्व का अर्थ है कि कमियों को हटाकर ठीक करना या कमी रहित बनाना है। अत: इसमें यज्ञ संबंधी या एवं व्यक्ति संबंधी सुधार या कमी पूर्ति करने वाले भी मंत्र है। इसमें पद्यात्मक मंत्रों के साथ कुछ गद्यात्मक मंत्र भी उपलब्ध है। इस वेद का नामकरण अन्य वेदों की भाँति शब्द शैली के आधार पर नहीं है। अपितु इसके प्रतिपाद्य विषय के अनुसार है। इस वैदिक शब्द राशि का प्रचार एवं प्रयोग मुख्यत: अथर्व के नाम के महर्षि द्वारा किया गया। इसलिए इसका नाम अथर्ववेद है।

याज्ञिक दृष्टि :- वेदों के अनुसार वेदोक्त यज्ञों का अनुष्ठान ही वेद के शब्दों का मुख्य उपयोग माना गया है। सृष्टि के आरम्भ में ही यज्ञ करने में साधारणतया मंत्रोच्चारण की शैली मवाक्षर एवं कर्म-विधि में विविधता रही है। इस विविधता के कारण ही वेदों की शाख्य का विस्तार हुआ है। प्रत्येक वेद की अनेक शाखाएँ बतायी गयी है।

साहित्यिक दृष्टि :- संहिता वेद का जो भाग प्रतिदिन विशेषत: अध्ययनीय है। उसे संहिता कहते हैं। इस शब्द राशि का उपयोग श्रौत एवं स्मार्त दोनों प्रकार के यज्ञानुष्ठानों में होता है। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शाखा की एक-एक संहिता है। वेदों के अनुसार उनको 1-ऋग्वेद संहिता, 2-यजुर्वेद संहिता, 3-सामवेद संहिता, 4-अथर्ववेद संहिता कहा जाता है। इन संहिताओं के पाठ में उनके अक्षर, वर्ण, स्वर का किंचित मात्र भी उलट-पुलट न होने पाये। इसलिये प्राचीन अध्ययन-अध्यापन के सम्प्रदाय में, संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, ये प्रकृति पाठ और जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड तथा रथ थे।

सामाजिक महत्व :- प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा समाज का चित्रण वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के (अध्याय 30 मंत्र 5 से 92) में 50 से अधिक व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। व्यवसायों में उन जातियों के नाम और उनके कर्मों का भी वर्णन है। 'संक्षेप' में ब्राह्मण आदि के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है कि- ब्राह्मण का कर्तव्य है ज्ञानार्जन, क्षत्रिय का कर्तव्य है रक्षा-कार्य, वैश्य का व्यापार, वाणिज्यिक और शूद्र का शिल्प एवं श्रमसाध्य कार्य।

''ब्राह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राम् राजन्यनम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्''

आर्थिक महत्व :- वेदों में प्राचीन अर्थव्यवस्था का विशद चित्रण प्राप्त होता है। वेदों में कृषि आदान-प्रदान की व्यवस्था, व्यापार और वाणिज्य का स्वरूप, विविध धातुएँ, नाप-तौल के साधन प्रचलित मुद्राएँ, विविध शिल्प, अस्त्र-शस्त्र आदि का क्रय-विक्रय, ऋण दान आदि से सम्बन्ध सामग्री प्राप्त होती है। व्यापार में सफलता के लिए दो गुणों की आवश्यकता बतायी गयी है-

1-चरित्र:- चरित्र की शुद्धि एवं व्यवहार कुशलता, 2-उत्थित:- श्रम दृढ़ निश्चय और उत्साह अर्थशास्त्र का मूल मंत्र है- आदान-प्रदान, लेन-देन। यजुर्वेद के एक मंत्र में इसका सुन्दर प्रतिपादन है-

(क) मुनं नो अस्तु चरित्रमुत्थितं च।
(ख) देहि में ददामि ते, नि मे धेहि नि ते द धे।
निहारं च हरासि मे, निहारं नि हराणि ते।।

इस प्रकार वेद का स्वरूप और वैदिक वाङ्मय के शास्त्रीय अध्ययन में अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। इसके द्वारा मानव जीवन और समाज पर भी बहुत ही अच्छा असर दिखाई देता है। यह वेद मानव जीवन को संस्कार के साथ अनेक प्रकार की विधाओं का भी ज्ञान देता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1- वेद की उपादेयता - जगद्गुरू शंकराचार्य
2- वेद स्वरूप - डॉ. श्री युगलकिशोर जी मिश्र
3- वैदिक वाङ्मय का शास्त्रीय स्वरूप - डॉ. श्रीकिशोर मिश्रा
4- वेदों की नित्यता, वेदस्वरूप - श्री श्याम जी
5- वेद और भारतीयता का उपास्म उपासक एवं मैत्रीभाव श्री विश्वनाथ जी शास्त्री
6- वेदकयामृत कुञ्ज- श्री हृदयरंजन जी शर्मा
7- वेद में आध्यात्मिक संदेश - श्री सीतारामदास जी
8- वेद और आत्मज्ञान की कुंजी - श्री अभयदेव जी शर्मा
7- मैक्समूलर हिस्ट्री आफएशियेंट लिटरेचर
8- वैदिक सृष्टि: उत्पत्ति रहस्य: डॉ. वी. के. वर्मा
9- ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका - स्वामी दयानन्द सरस्वती

****

ISSN 2278 - 0327

आत्मप्रबन्धन का अर्थ और श्रीमद्भगवद्गीता

सोमवीर
शोधच्छात्र
पतंजलि विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

सारांश- आत्मप्रबन्धन शब्द स्वयं में अनेक अर्थों को समाहित किए हुए हैं। आत्मप्रबन्धन शब्द में प्रयुक्त आत्मन् शब्द को आत्मनः, आत्मना, आत्मने, आत्मनि इन सभी रूपों में स्वीकार किया जाए तो आत्मन् शब्द के ये चतुर्विध रूप आत्मप्रबन्धन शब्द के सर्वसाधारण, आरम्भिक तथा स्थूल अर्थ का बोध कराते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ की ओर ले जाते हैं। इसके अन्तर्गत शारीरिक मानसिक प्रबन्धन से लेकर आत्मिक प्रबन्धन तक की यात्रा होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण द्वारा पदे-पदे आत्मप्रबन्धन का उपदेश दिया गया है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यान तथा युक्त आहार-विहार आदि के द्वारा किस प्रकार आत्मप्रबन्धन किया जाए इसका वर्णन गीता में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

विषय-प्रवेश

प्र उपसर्ग पूर्वक बन्ध्[1] धातु से ल्युट् प्रत्यय[2] द्वारा प्रबन्धन शब्द निष्पन्न होता है, जिसके अनेक अर्थ होते हैं जैसे- बन्धन, बान्धना, नियन्त्रण, नैरन्तर्य, सातत्य, अविच्छिन्नता, योग, ध्यानमुद्रा, ध्यान, संयम इत्यादि।[3] यदि यह प्रबन्धन आत्म-विषयक हो तो आत्मप्रबन्धन कहलायेगा। आत्मन् शब्द के भी जीव, पुरुष, ज्ञ, ज्ञाता, ज्ञानी, प्राणी, स्वयं, स्वभाव, ब्रह्म, परमात्मा आदि अनेक अर्थ होते हैं।[4] इस प्रकार दो अनेकार्थक शब्दों के मेल से बना 'आत्मप्रबन्धन' शब्द अत्यन्त गूढ़, रहस्यमय, विस्तृत एवं व्यापक अर्थ को स्वयं में समाहित किए हुए है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में मुख्य रूप से आत्मा के अन्तःकरण, मन, बुद्धि, जीवात्मा, परमात्मा अर्थ अभीष्ट है। इन्हीं के आधार पर 'आत्मप्रबन्धन' शब्द की निम्नलिखित *'आत्मनः, आत्मना, आत्मने, आत्मनि वा प्रबन्धनम् आत्मप्रबन्धनमुच्यते'* व्युत्पत्ति अनेकविध अर्थों का बोध कराती है। तात्विक रूप से इन सभी अर्थों का तात्पर्य एक ही अर्थ में अन्तर्निहित है- *'अपने आप का या स्वयं का प्रबन्धन'*। आत्मप्रबन्धन शब्द की उपर्युक्त चतुर्विध व्युत्पत्ति का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है-

आत्मनः प्रबन्धनम्- आत्मा का प्रबन्धन। यहाँ आत्मा का अर्थ अन्तःकरण है। आदि गुरु शंकराचार्य ने गीता के अपने भाष्य में अधिकांश स्थलों पर 'आत्मा' का अर्थ अन्तःकरण किया है और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन चार तत्त्वों का समेकितरूप या नाम है- *'निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः'*।[5] अतः यथोपदिष्ट अभ्यास एवं वैराग्य आदि उपायों के द्वारा[6] इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को प्रबन्धित या नियन्त्रित करना (उन्हें विषयों में भटकने नहीं देना) आत्मप्रबन्धन कहलाता है। इस अर्थ में यहाँ 'आत्मप्रबंधन' साध्य है।

आत्मना प्रबन्धनम्- आत्मा के द्वारा प्रबन्धन। यहाँ भी आत्मा शब्द अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) का वाचक है। अतः नियंत्रित मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार के द्वारा अपने जीवन को प्रबन्धित अर्थात् व्यवस्थित करना भी आत्मप्रबन्धन ही है। लेकिन यहाँ आत्मप्रबन्धन साधन रूप है और अभीष्ट लक्ष्य, उत्तम जीवन शैली या शरीर की सुखात्मक स्थिति साध्य है।

आत्मने प्रबन्धनम्- आत्मा के लिए प्रबन्धन। यहाँ आत्मा जीवात्मा है उसके लिए व्यवस्था या प्रबन्ध करना आत्मप्रबन्धन है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा का जो अज्ञानावरणरहित, निर्लेप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चेतन, यथार्थ स्वरूप है, शास्त्रोपदिष्ट उपायों के द्वारा उस स्वरूप का ज्ञान या अनुभूति करने की व्यवस्था करना आत्मप्रबन्धन कहलाता है।

आत्मनि प्रबन्धनम्- आत्मा अर्थात् परमात्मा, उसमें जीवात्मा को व्यवस्थित या स्थापित कर लेना भी आत्मप्रबन्धन कहलाता है। क्योंकि मानवजीवन का परमलक्ष्य आत्मा का परमात्मा के साथ एकात्म या तादात्म्यभाव स्थापित करना है। अतः जीवात्मा का परमात्मा में स्थित हो जाना या परमात्मभाव को प्राप्त कर लेना भी आत्मप्रबन्धन ही है। श्रीमद्भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक के द्वारा, आत्मा शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होने के कारण, उपर्युक्त सभी अर्थों की प्रतीति सहज ही हो जाती है- 'बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः'।[7]

इस प्रकार 'आत्मप्रबन्धन' (अपने आपके प्रबन्धन) में

यहाँ उपर्युक्त चारों अर्थ समाहित हैं।

वस्तुत: आत्मन:, आत्मना, आत्मने, आत्मनि ये चतुर्विध व्युत्पत्तियाँ क्रमश: आत्मप्रबन्धन के सर्वसाधारण, आरम्भिक, स्थूल अर्थ का बोध कराते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ की ओर ले जाने वाली हैं। इससे स्पष्ट है कि आत्मप्रबन्धन का अर्थ केवल मन का नियन्त्रण या बुद्धि का स्थैर्य ही नहीं है। यह तो आत्मप्रबन्धन का एकपक्षीय अतिसंकुचित एवं अतिस्थूल अर्थ है। आरम्भिक स्थिति में, सर्वप्रथम व्यक्ति के लिए इन्द्रिय मन बुद्धि आदि की एकाग्रता के द्वारा आत्मप्रबन्धन का यही अर्थ साध्य होता है किन्तु जब यह अर्थ (आत्मप्रबन्धन) सिद्ध हो जाता है तो अगले स्तर पर आत्मप्रबन्धन का स्थूलार्थ (नियन्त्रित या एकाग्र मन, बुद्धि, इन्द्रियादि) साधन बन जाता है जिसके समक्ष जीवात्मा के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना साध्य होता है और जब यह अर्थ भी सिद्ध हो जाता है तब जीवात्मा साधन और परमात्मा साध्य हो जाता है। इस प्रकार आत्मा शब्द का साधन एवं साध्य दोनों अर्थों में प्रयोग होने से यहाँ 'आत्मप्रबन्धन' साधन भी है और साध्य भी।

श्रीमद्भगवद्गीता और आत्मप्रबन्धन- महाभारत के युद्ध के आरम्भ में धर्म तथा अधर्म की ओर से लड़ने वाली दोनों सेनाएँ जब आमने-सामने खड़ी थीं तभी धर्मयोद्धा अर्जुन स्वजनों को देखकर मोहग्रस्त हो जाता है और किंकर्त्तव्यविमूढ होकर युद्ध करने से मना करने लगता है। उस समय अर्जुन को उसके कर्त्तव्य का बोध कराने तथा उसे युद्ध के लिए तैयार करने हेतु श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया वही महर्षि वेदव्यास द्वारा यथोपदिष्ट रूप में महाभारत के अन्तर्गत गीता के श्लोकों में निबद्ध है। यह कोई पृथक् से स्वतन्त्र या नामप्राप्त दर्शन नहीं है अपितु इसमें समस्त दर्शन एवं उपनिषदों का सार विद्यमान है।[8]

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण द्वारा पदे-पदे आत्मप्रबन्धन का उपदेश दिया गया है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यान, युक्त आहार-विहार, यज्ञदानतपादि के द्वारा किस प्रकार स्वयं का प्रबन्धन किया जाए इसका वर्णन गीता में विस्तृतरूपेण प्राप्त होता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित आत्मप्रबन्धन विषयक तत्त्व अधोलिखित है-

कर्मयोग- महर्षि व्यास ने योगसूत्र भाष्य में योग शब्द का अर्थ समाधि किया है।[9] तदनुसार कर्मयोग शब्द का अर्थ है कर्म के द्वारा समाधि की अवस्था प्राप्त करना और वह केवल निष्काम कर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अनासक्त भाव से कर्म करते हुए साधक के अन्त:करण की शुद्धि होती है और शुद्ध अन्त:करण में आत्मज्ञान की योग्यता आने से वह समाधि की ओर अग्रसर होता है।

इस कर्म मार्ग में प्रमुख तत्त्व है अनासक्ति का भाव जब व्यक्ति कामना के वशीभूत होकर कर्म करता है तब फल की इच्छा होती है, जो उसे सुख-दु:ख के परिणामों से बाँधती है। यही फल की आकांक्षा मानव जीवन में दु:ख, तनाव आदि का कारण होती है। इच्छित फल की प्राप्ति न होने पर अन्त:करण में क्रोध, सम्मोह, अधीरता, उद्विग्नता आदि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के आन्तरिक जगत् के अस्त-व्यस्त तथा तनावग्रस्त होने से उसका बाह्य जीवन भी अप्रबन्धित हो जाता है। इस अप्रबन्धित जीवन को प्रबन्धित करने में कर्मयोग अत्यन्त उपादेय है। वस्तुत: कर्मयोग मार्ग यह बताता है कि किस प्रकार कर्म किया जाए कि उसके फल अर्थात् कर्मबन्धन से न बंधे।[10] केवल अकेला कर्मयोग ही व्यक्ति के इहलोक और परलोक दोनों को प्रबन्धित कर सकता है।

ज्ञानयोग- ज्ञानयोग शब्द का अर्थ है ज्ञान के द्वारा योग अर्थात् समाधि की अवस्था प्राप्त करना। समाधि या मोक्ष प्राप्ति में ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए कहा गया- 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:।' ज्ञान से तात्पर्य है विशुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञानयोग के अन्तर्गत सर्वप्रथम निषेधात्मक रूप से उन सभी वस्तुओं से ध्यान हटाना है जो वास्तविक नहीं है फिर उस पर ध्यान केन्द्रित करना है जो हमारा वास्तविक स्वरूप है- अर्थात् सत्-चित्-आनन्द। इसके अन्तर्गत श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की प्रक्रिया बतलाई गई है। श्रवण अर्थात् आत्मा के विषय में कही गई बातों को सुनना या पढ़ना, मनन अर्थात् श्रवण किये गए ज्ञान पर चिन्तन करना, निदिध्यासन अर्थात् मनन किये हुए ज्ञान को अपने अन्त:करण में स्थिर करने का प्रयास करना। इस प्रकार जब यह आत्मविषयक ज्ञान साधक के चित्त में स्थिर हो जाता है तो वह सांसारिक वस्तुओं से आसक्ति त्यागकर स्वयं में आनन्दित रहने लगता है।

वह जान जाता है कि वह शरीर नहीं है अपितु शुद्ध, चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप आत्मा है। शरीर और मन को कष्ट होने पर भी वह दु:खी नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि वह आनन्दस्वरूप और अविनाशी है। इस प्रकार शुद्ध पवित्र आत्मज्ञान जो गीता और उपनिषदों में वर्णित है उसके श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा व्यक्ति अपने आन्तरिक व बाह्य जीवन का प्रबन्धन कर सकता है तथा इस मार्ग पर अग्रसर होते हुए मोक्षप्राप्ति में भी समर्थ होता है।

भक्तियोग- भक्तियोग शब्द का अर्थ है भक्ति के द्वारा समाधि अर्थात् मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करना। योगसूत्र के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि ने भी ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वर की भक्ति को समाधि की सिद्धि का मार्ग बताया है[11], जो कि अत्यन्त सरल और सुगम है। क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ हैं, वे अपने शरणापन्न भक्त पर प्रसन्न होकर उसके भावानुसार सब कुछ प्रदान कर सकते हैं। अपने सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर उसकी शरणागति करने वाला व्यक्ति तनाव, शोक, दु:ख आदि से ग्रसित नहीं हो सकता। वह अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को अर्पित करता है[12] अत: वह कोई गलत कार्य नहीं करेगा क्योंकि गलत कार्य अपने इष्ट को समर्पित नहीं किए जा सकते। ईश्वर की शरणागति होने से भक्त कर्म करता हुआ भी कर्त्तापन के अभिमान से रहित रहता है। वह यह मानता है कि सभी कार्य ईश्वर ही करते हैं मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ। इसी कारण वह कर्मफल की इच्छा भी नहीं करता और न ही कर्मफलबन्धन में बंधता है। कर्मफल की इच्छा ही दु:ख, तनाव आदि का कारण होती है, इस इच्छा को ईश्वरभक्ति के द्वारा कम या समाप्त किया जा सकता है।

ईश्वरभक्त कभी अकेलेपन के कारण तनाव आदि से ग्रस्त नहीं होता क्योंकि वह सदा स्वयं को ईश्वर की शरण में महसूस करता है। कार्य सिद्ध न होने पर वह उद्विग्न नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि ईश्वर के हाथ में है, वह तो केवल निमित्तमात्र है। उसको यह विश्वास रहता है कि ईश्वर भक्त के प्रति जो करेंगे उचित ही करेंगे, जीवन में आने वाली कठिनाईयों को वह ईश्वर के द्वारा ली जाने वाली परीक्षा समझता है। कष्टों को वह ईश्वर का प्रसाद समझता है क्योंकि कष्ट के समय ही व्यक्ति ईश्वर को सर्वाधिक स्मरण करता है। इस प्रकार अपने जीवन में कष्ट कठिनाईयों से विचलित न होता हुआ भक्त इहलोक में प्रबन्धित जीवन जीता है तथा अपने परलोक का भी प्रबन्धन करता है।

गीता में मुख्यतया उपर्युक्त इन तीन योगमार्गों का प्रतिपादन है जिनमें से एक मार्ग को भी अपनाकर व्यक्ति अपने बाह्य और आन्तरिक जगत् को प्रबन्धित कर सकता है। इसके साथ-साथ ध्यानयोग[13], युक्त आहार-विहार आदि की उपादेयता भी भगवद्गीता ने प्रतिपादित की है। तीनों ही योगमार्गों में सफलता प्राप्त करने हेतु ध्यान तथा युक्त आहार-विहार अत्यन्त आवश्यक हैं[14] क्योंकि युक्त आहार विहार से तन-मन की शुद्धि होती है और ध्यान से चित्त की एकाग्रता जो कि योगसिद्धि में अत्यन्त सहायक है।

वास्तव में देखा जाए तो गीतोपदेश का प्रयोजन केवल अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना ही नहीं था बल्कि अर्जुन जैसे तपस्वी विद्वान् की बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न कर उसे स्वयं निर्णय लेने में समर्थ बनाना था। तभी तो सम्पूर्ण उपदेश करने के उपरान्त श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि- *'यथेच्छसि तथा कुरु'*[15] यह निर्णयशक्ति बिना आत्मप्रबन्धन के सम्भव नहीं है। गीता में वर्णित अभ्यास वैराग्य, मनोनिग्रह, अनासक्तभाव, कर्मनैरन्तर्य, ईश्वरार्पणभाव आदि आत्मप्रबन्धन हेतु सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। तत्कालीन यंग-इण्डिया पत्रिका में प्रकाशित महात्मा गाँधी की उक्ति गीता में उपदिष्ट आत्मप्रबन्धन की महत्ता की ओर ही संकेत करती है-'जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है और जब बिल्कुल एकाकी मुझको प्रकाश की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ। जहाँ-तहाँ कोई न कोई श्लोक मुझे ऐसा दिखाई पड़ जाता है कि मैं विहंगम परिस्थितियों में भी तुरन्त मुस्कुराने लगता हूँ। मेरा जीवन बाह्य विपत्तियों से भरा रहा है और यदि वे मुझ पर अपना कोई दृश्यमान अमिट चिह्न नहीं छोड़ सकी, तो इसका सारा श्रेय श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाओं को है।'

सन्दर्भ सूची -

1. बन्ध, बन्धने क्र्यादि
2. ल्युट् च। अष्टाध्यायी, 3/3/115
3. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, प्रकाशन रॉयल बुक डिपो, दिल्ली, पृ.सं. 718
4. वही, पृ.सं. 159
5. विवेक चूडामणि, 95
6. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/35
7. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/6
8. गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यै: शास्त्रविस्तरै: ।
   या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मात् विनि:सृता।।
   महाभारत, भीष्मपर्व, 13/1
9. व्यासभाष्य, योगसूत्र, 1/1
10. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
    मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। श्रीमद्भगवद्गीता, 2/47
11. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र, 2/45
12. श्रीमद्भगवद्गीता, 12/6-7
13. तत्रैकाग्रं मन: कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय: ।
    उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। श्रीमद्भगवद्गीता, 6/12
14. युक्ताहारविहारस्य युक्तेचेष्टस्य कर्मसु।
    युक्तस्वाप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।। श्रीमद्भगवद्गीता, 6/17
15. श्रीमद्भगवद्गीता. 8/63

ISSN 2278 - 0327

एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्रों की अर्थातिदेशता

राहुल आर्य
शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सारांश– पाणिनीय अष्टाध्यायी में उपदिष्ट सूत्रों का स्वरूप की दृष्टि से वैयाकरणनिकाय में षड्विध विभाजन किया जाता है। उन्हीं षड्विध सूत्र प्रकारों में अन्यतम सूत्रप्रकार है– अतिदेश। यह अतिदेश सूत्रप्रकार भी स्वरूपदृशा अनेकविध विभक्त होता है। उन्हीं अतिदेश सूत्रप्रकारों में अन्यतम अतिदेशसूत्रप्रकार है– अर्थातिदेश। तो इस शोधप्रपत्र में एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्रों के स्वरूप में निहित जो अर्थातिदेशता है उसका विभिन्न पक्षों एवं तथ्यों के साथ उपस्थापन कर यह निष्कृष्ट किया है कि एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्र अतिदेशसूत्रप्रकारों में जो अन्यतम अर्थातिदेश सूत्रप्रकार है उसमें समाविष्ट होते हैं।

विषय प्रवेश– किसी शास्त्रीय कार्य की प्रवृत्ति कराने के लिए किसी भी अर्थवान् शब्द का अन्यार्थ में अतिदेशन ही अर्थातिदेश कहलाता है। जिस सूत्र के द्वारा अर्थातिदेश का बोध होता है, वह सूत्र अर्थातिदेशसूत्र कहलाता है। व्याकरणशास्त्रपरम्परा की बात करें तो वहाँ स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या, कारक ये पाँच प्रातिपदिकार्थ के रूप में स्वीकृत हैं। वहाँ गवाद्यर्थों में गवादिशब्दों का प्रवृत्ति निमित्त गोत्वजात्यादि का स्वार्थ पद से ग्रहण होता है, और जात्याश्रयतया, गुणाश्रयता एवं क्रियाश्रयता से प्रतीतद्रव्य में पुंस्त्व, स्त्रीत्व एवं क्लीबत्व में से जो अन्यतम रूप भासित होता है, वह लिङ्गपद से बोध्य है।[1]

उसी जात्याश्रयता, गुणाश्रयता एवं क्रियाश्रयता से प्रतीतद्रव्य में एकत्व, द्वित्व, बहुत्वादि में से जो अन्यतम रूप भासित होता है, वह संख्यापद से ग्राह्य है।[2]

कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व, अपादानत्व तथा अधिकरण में अन्यतमरूप जो जात्याश्रयता, गुणाश्रयता एवं क्रियाश्रयता से प्रतीतद्रव्य में भासित होता है, वह कारकपद से व्यवहृत होता है।[3]

इनमें से प्रायः स्वार्थ (जाति) एवं द्रव्यरूपार्थ का अतिदेश तो व्याकरणशास्त्रपरम्परा में प्राप्त नहीं होता है, परन्तु वहीं व्याकरणशास्त्र परम्परा में लिङ्ग संख्या और कारकरूपार्थ का तो अतिदेश प्राचुर्येण सम्प्राप्त होता है। इस प्रकार जहाँ लिङ्गप्रातिपदिकार्थ, संख्याप्रातिपदिकार्थ एवं कारकप्रातिपदिकार्थ का अतिदेश होता है, तो वहाँ अतिदेश प्रकारों में अन्यतम अर्थातिदेश माना जाता है।

अतः एकवद्भावप्रकरण में समागत वचन एवं लिङ्ग का विधान करने वाले सूत्र अर्थातिदेशतया लिङ्ग एवं वचन का विधान करते हैं, तो ये सभी सूत्र द्विगुरेकवचनम् से लेकर **सः नपुंसकम्**[4] पर्यन्त अर्थातिदेशपरक हैं। वस्तुतः अनेकसंख्या से युक्त विशिष्टार्थबोधक द्विगु द्वारा एकत्वसंख्या से युक्त विशिष्टार्थ का बोधन सम्भव नहीं हैं, परन्तु ब्रह्मदत्तन्याय से सादृश्य में पर्यवसित हो जाता है, जिससे द्विगुसमास एवं द्वन्द्वसमास एकवचनत्वात्, एकार्थत्वात् होता है, यह अतिदेश फलित होता है, और यह अतिदेशफलन भी विशिष्टातिदेश के गौरव से द्विग्वर्थ एकत्वातिदेश में पर्यवसित होकर सङ्ख्यातिदेश कहलाता है। और सङ्ख्या की प्रातिपदिकार्थता होने से सङ्ख्यातिदेश का पर्यवसान अर्थातिदेश में होता है।

अर्थात् एकार्थवाची शब्दों का एकार्थप्रतिपादक धर्म का अर्थातिदेश के माध्यम से अन्यत्र अर्थात् अनेकार्थवाची शब्दों में एकार्थप्रतिपादकता का धर्म एकत्वाश्रित कार्य की प्राप्ति के लिए आरोपित किया जाता है। यहाँ आरोपित एकार्थप्रतिपादक धर्म सामान्य (पारिभाषिक सु, अम्, टा) न होकर विशेष है, जिसका कि यहाँ आतिदेशिक व्यवहार किया जा रहा है।

अतः एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्रों द्वारा पञ्चपूली, पाणिपादम् इत्यादि में होने वाली अर्थातिदेशता स्पष्ट है। क्योंकि पञ्चगवम्, पञ्चपात्रम् इत्यादि समाहारद्वन्द्वस्थलों में तिरोहितावयवविशिष्ट समुदाय के वाच्य होने से समुदायवाचक वनम्, सेना, सङ्घः इत्यादियों के सदृश अनियतलिङ्गता प्राप्त होने पर उसका बाधकर एवं परवल्लिङ्गातिदेशता के प्राप्त होने पर उसका भी बाधकर 'सः नपुंसकम्' इस सूत्र से क्लीबत्व होता है।

परन्तु शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व से लिङ्गादि का विधान अपूर्वतया तो शक्य नहीं है, अतः द्विग्वर्थ एवं द्वन्द्वार्थ के समाहार का क्लीबत्वातिदेश होता है, इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य समझना चाहिए।

अतः लिङ्गविधायक सूत्रों की भी अर्थातिदेशता स्पष्ट है। क्योंकि वनादिशब्दार्थ में विद्यमान क्लीबत्व रूप धर्म का अथवा

क्लीबत्वरूपार्थ लिङ्ग का द्विग्वर्थ एवं द्वन्द्वार्थ में 'स: नपुंसकम्' इत्यादि सूत्रों से प्रापण होता है। इसीलिए उत्सर्गरूप 'स: नपुंसकम्' सूत्र के एकवद्भावप्रकरण में लिङ्गविधायकत्वेन '*अकारन्तोत्तरपदो द्विगु: स्त्रियामिष्ट:, स्त्रियाम्, वाबन्त:*' [5] इत्यादि वार्त्तिकों से विहित स्त्रीत्व का भी रत्नप्रकाशकार ने अर्थातिदेशविशिष्ट अतिदेशत्व कहा है। द्विगुरेकवचनम् सूत्र के भाष्य में द्विग्वर्थस्य एकवद्वचनात् ऐसा कहा है। जिसको काशिकाकार ने द्विग्वर्थ: एकवत् भवति ऐसा व्याख्यान किया है।

इसी को और स्पष्ट करते हुए 'विभाषा समीपे' [6] सूत्र के न्यास में न्यासकार कहते हैं *उपदेशं दन्तोष्ठम्, उपदशा: दन्तोष्ठा:।* इत्यादि में समाहारद्वन्द्व में अर्थातिदेशादनुप्रयोगस्यापि एकवचनविकल्प: लभ्यते।[7] इसी सूत्र के इसी उदाहरण में कैय्यट भी कहते हैं–

अर्थस्य एकवद्भावात्, एकत्वविशिष्टार्थसादृश्यातिदेशात्, अनुप्रयोगस्यापि सेत्स्यति।[8]

अर्थात् अर्थ के एकवत् होने से एकत्वविशिष्टार्थ के सादृश्यातिदेश से अनुप्रयोग में भी एकवचनवत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी एकवद्भावप्रकरण की अर्थातिदेशता को रत्नप्रकाशकार निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त करते हैं–

अनेन प्रकरणेन, द्विगुरेकवचनमित्यादि एकवद्भावप्रकटनेन, शब्दस्यैकवचनत्त्वातिदेशात्।[9]

अर्थात् रत्नप्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि शब्द के एकवचनत्त्वातिदेश के अनन्तर संख्यान्तरविशिष्ट अर्थ में एकत्वसंख्या का विशिष्टार्थातिदेश करने पर एवं संख्यान्तरविशिष्टार्थवाचक शब्द का भी अनुप्रयोगों में कार्यसिद्ध्यर्थ अर्थ में एकत्वसंख्या का अतिदेश स्वीकृत किया है।[10] इस प्रकार भाष्यकार तथा सभी व्याख्याकारों एवं वृत्तिकारों ने एकवद्भाव प्रकरणस्थ सूत्रों की अर्थातिदेशता प्रतिपादित की है। यत्किञ्चित् सादृश्य प्राय: परस्पर सभी अतिदेशप्रकारों में पाया जाता है।

अत: आपको कुत्रचित्–कुत्रचित् इन अतिदेशप्रकारों में यत्किञ्चित् सादृश्य के आधार पर युग्म देखने को मिलता है।[11] यथा– *तादात्म्यातिदेश, अभावातिदेश, निमित्तातिदेश, व्यपदेशातिदेश, अर्थातिदेश–रूपातिदेश, शास्त्रातिदेश–कार्यातिदेश।*

यहाँ प्रसङ्गवश अर्थातिदेश एवं रूपातिदेश के युग्म के सन्दर्भ में विचार करेंगे कि यदि अर्थातिदेश को रूपातिदेशता स्वीकृत कर ली जाए तो प्रक्रिया एवं प्रयोगसिद्धि में क्या समस्याएँ होंगी ? और समस्याएँ होंगी तो किस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होंगी ?

1. जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् [12]
2. स्त्री पुंवच्च [13]
3. प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च [14]
4. द्विगुरेकवचनम् [15]

अर्थात् अष्टाध्यायी में जहाँ भी वचन तथा लिङ्ग का अतिदेश हुआ है, सर्वत्र अर्थातिदेश समझना चाहिए। यदि वचन–लिङ्गविषयक अतिदेशों में रूपातिदेश मान लिया जाये तो अनेक शब्द–संरचनात्मक बाधाएँ होंगी। उदाहरणार्थ– (अष्टा0 1.2.58) में यदि पारिभाषिक एकवचन के लिए बहुवचन का अतिदेश मानें तो उनमें परस्पर स्थान्यादेशभाव हो जाने से बहुवचन अपने स्थानी एकवचन के रूप में ग्रहण होकर अनेक बाधाएँ उत्पन्न कर सकता है, जैसे– **व्रीहिभ्य: आगत:** आदि में **घेर्ङिति** से गुण प्राप्त होगा।

ऐसे ही **स्त्री पुंवच्च** आदि द्वारा जहाँ कहीं पुंवद्भाव होता है वहाँ भी पुंवद्रूप मात्र का अतिदेश मानने में बाधाएँ आती हैं। रूप के पुंवद् होने पर भी अर्थ के स्त्रीत्व विशिष्ट रहने में तन्मूलक विधियाँ प्रवृत्त होंगी, जैसे– '*गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गा:, तान् गर्गान् पश्य*' आदि में 'तस्माच्छसो न: पुंसि' नत्व नहीं करेगा। [16]

इसी प्रकार त्रिलोकी आदि द्विगुसमास में एवं पाणिपादम् इत्यादि द्वन्द्वसमास में यदि एकवचन अर्थ (एकत्व) का अतिदेश न मानें तो बहुत्व अर्थ का सूचक होने से त्रिलोकी एवं पाणिपादम् इत्यादि के अनुप्रयोगों में बहुवचन का प्रयोग होगा, क्योंकि वे स्वयं तो द्विगुसमास या द्वन्द्वसमास नहीं है।

निष्कर्ष –इस प्रकार रूपातिदेश स्वीकृत करने पर अष्टाध्यायी में अन्यस्थलों की भाँति एकवद्भावप्रकरण में भी अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु वहीं एकवद्भावप्रकरणस्थ सूत्रों की अर्थातिदेशता स्वीकृत की जाए[17] तो रूपातिदेश की स्वीकृति में उत्पद्यमान समस्याओं का स्वत: समाधान हो जाता है और एकवद्भाव निर्बाध रूप से प्रयोगों के सदृश अनुप्रयोगों (विशेषणों) में भी होता है।

सन्दर्भ सूची–

1. पा.अति., चतुर्थ अध्याय, पृ.सं.–139
2. तत्रैव
3. तत्रैव
4. अष्टा.–2/4/17
5. काशिका–2/4/18
6. अष्टा.–2/4/16
7. काशिकावृत्ति न्यास, पृ.सं.–260
8. व्या.म.भा. प्रदीप, vol-ii, पृ.सं.–541
9. महाभाष्य रत्नप्रकाश, vol-iv,पृ.सं.–164
10. पा.अति., चतुर्थ अध्याय, पृ.सं.–164
11. पा.अति., प्रथम अध्याय, पृ.सं.–39
12. अष्टा.–1/2/58
13. अष्टा.– 1/2/66
14. अष्टा.–1/4/106
15. अष्टा.–2/4/1
16. पाणिनी अष्टाध्यायी के रचना सिद्धान्त, पृ.सं.–115
17. अर्थातिदेशात्सिद्धम्, महाभाष्य, द्वितीय आह्निक, पृ.सं.–66

ISSN 2278 - 0327

कापालिक का चित्रण - मत्तविलास प्रहसन और मत्तविलासम् कूटियाट्टम पर आधारित एक अध्ययन

श्रीनिवासन पीके
शोध छात्र, संस्कृत विभाग
राजास कॉलेज(Affiliated to Bharathidasan University)
तिरुवयार, तंजावुर

डॉ. एस. लक्ष्मी कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृतकेस्नातकोत्तर और अनुसंधानविभाग
राजास कॉलेज (Affiliated to Bharathidasan University)
तिरुवयार, तंजावुर

शोध सार-

आत्म-साक्षात्कार के लिए आध्यात्मिक खोज का इतिहास भारतीय आध्यात्मिकता की संस्कृति की तरह बारहमासी है। कापालिक भारत के शैवधर्मों में एक प्रमुख और प्राकृत समूह, जिसका गूढ़ इतिहास असाधारण है। हालांकि उनका अपना कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, लेकिन उनका उल्लेख कुछ भारतीय धर्मशास्त्र ग्रंथों में और ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में भी प्राप्त है। भारत के विद्वानों और इतिहासकारों ने कापालिकों के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। पल्लव राजा महेंद्र विक्रम वर्मा द्वारा लिखित सामाजिक व्यंग्यग्रन्थ है मत्तविलास प्रहसनम्। प्रस्तुत ग्रन्थ में उस वक्त जिये कापालिकों के जीवन पर प्रकाश डाला है। कापालिकों के जीवन के बारे में प्राचीन संस्कृत रंगमंच कूटियाट्टम में भी वर्णन और प्रदर्शन हो रहा है। मत्तविलास प्रहसन में चित्रित कापालिक के जीवन से पूरी तरह अलग है मत्तविलासम् कूटियाट्टम में चित्रित कापालिक का जीवन। यह लेख मत्तविलास प्रहसन और मत्तविलासम् कूटियाट्टम दोनों में कहा गया कापालिकों के चित्रण में आये अंतर को व्यक्त करने का प्रयास है।

Keywords- कापालिक, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, ब्रह्मसूत्र, मत्तविलास प्रहसनम्, मतविलासम् कूटियाट्टम।

प्रस्तावना-

भारत के आध्यात्मिक क्षेत्रों में दर्शन के सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण रूपों में से एक है शैववाद। शैव मत में कापालिकों, कलामुखों, पाशुपतों, करुणिकसिद्धांतों और कठाकसिद्धांतों जैसे शैव संप्रदायों की अधिकता थी। कापालिक शैववाद के प्रमुख आध्यात्मिक विभाग में से एक हैं। कापालिक नाम 'कपाल' (मानव खोपड़ी) शब्द से निकला है। एक तपस्वी जो हमेशा कपाल को अपने साथ रखता है उसे कापालिक या खोपड़ी पुरुष कहा जाता है। वे हमेशा लाकुल पाशुपतों की तरह एक खोपड़ी-शीर्ष वाले खट्वांग अर्थात् खंबा और कपाल का भीखकटोरा अपने साथ रखते थे। इतिहासकारों का दृढ़ विश्वास है कि 300-600 ईस्वी के दौरान कापालिकों ने भारत में अपना धर्म विकसित और स्थापित किया था (Upinder Sing: 2019:676)। कापालिकों ने स्वयं घोषणा की थी कि वे सनातन धर्म के सिद्धांतों या धर्मशास्त्र अर्थात् ब्रह्मांड के शाश्वत सिद्धांतों आदि का पालन नहीं करेंगे। उन्होंने खाने के लिए मानव खोपड़ी को अपने कटोरे के रूप में प्रयोग किया और श्मशान से मानव शरीर की राख को अपने शरीर पर लगाया। कापालिकों ने शराब और मांस का सेवन किया था और उन्होंने सोमरस (शराब) के देवता की पूजा की। कापालिकों ने पूजा के तांत्रिक आदेश का पालन किया और भगवान भैरव को रक्त और शराब के साथ अपना आहुति अर्पित की (Minakshi, C: 1938:180)। 'ह्वेन त्सांग' ने अपनी यात्रा के विवरण में उल्लेख किया है- 'कापालिकों का संप्रदाय, उनके सिर और गर्दन के चारों और हड्डियों की माला के साथ, चट्टानों के छिद्रों और दरारों में निवास करते हैं, जैसे यक्षों के तरह कब्रों के स्थान पर शिकार करते है' (Beal Samuel: 1914:162)7।

कापालिकों का संदर्भ भारतीय धर्मशास्त्र ग्रंथों से-

'मनुस्मृति' भारत के सबसे पुराने धर्मशास्त्र ग्रंथों में से एक है। इसमें सांसारिक जीवन में मानवों के पालन के लिए धर्म या नैतिकता के नियम शामिल हैं। इसे मानव धर्मशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। विद्वानों ने इस ग्रन्थ को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का बताया है (Joshi Dinakar and Yogesh Patel: 2006:51)। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में ब्राह्मण वध अर्थात् ब्रह्महत्या पाप के प्रायश्चित का विधान है और इस नियम में कापालिकों का उल्लेख है।

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरो ध्वजम् ॥
(मनुस्मृतिः 11- 72)

अर्थात् जिसने ब्राह्मण को मारने का पाप किया है, उसे जंगल में एक झोपड़ी स्थापित करनी चाहिए और बारह साल तक उसमें रहना चाहिए। अपनी जीविका के लिए भीख मांगकर मरे हुए व्यक्ति की खोपड़ी को अपने ध्वज के रूप में ले जाकर जीना है। इसका पालन करने से पापी ब्रह्महत्या के पाप के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत श्लोक में वर्णित 'शवशिर' शब्द का अर्थ कपाल ही है। जो व्यक्ति कपाल को धारण करता है वह कपाली है।

300 - 500 ईस्वी का 'याज्ञवल्क्यस्मृति' (Olivelle, Patrick: 2006:176) एक अन्य भारतीय धर्मशास्त्र ग्रन्थ है। जिसमें कापालिकों के संबंध विवरण प्राप्त है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' की तीसरी पुस्तक, प्रायश्चित अध्याय में एक श्लोक है इससे कापालिकों के अस्तित्व का पता चलता है। इस श्लोक का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है-

शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म वेदयन् ।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः-3/243)

अर्थात् जिसने ब्राह्मण का वध करने का पाप किया है, उसे अपने पाप के प्रतिफल के लिए खोपड़ी को अपने ध्वज के रूप में उपयोग करके बारह साल तक उपवास करके एक भिक्षु के रूप में रहना चाहिए। प्रस्तुत पंक्तियों में शवशिर शब्द कपाल के लिये प्रयुक्त किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि जो कपाल का धारण करता है वह ही कापालिक है।

कापालिकों का संदर्भ ब्रह्मसूत्र की व्याख्यायों में से-

भारत के छह आस्तिक दर्शनों या विचारधाराओं में से एक है वेदांतदर्शन। वेदांत दर्शन के ब्रह्मसूत्र सिद्धांत बादरायण द्वारा संकलित किए गए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना काल 500-200 ईस्वी पूर्व के बीच है(Lochtefeld G James: 2002:746)। ब्रह्मसूत्र व्याख्या में कापालिकों का संकेत कापालिक संप्रदाय के अस्तित्व पर बल देता है। ब्रह्मसूत्र की 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (2.2.37) सूत्र के व्याख्या मे भगवान् शिव की भक्तिपूर्ण आराधना और द्वैतवादी सिद्धियों की प्रशंसा करने वाले शैव संप्रदायों की आलोचना कई टीकाकारों द्वारा की गयी है। शंकराचार्य अपनी व्याख्या में शैवसंप्रदायों को महेश्वर के रूप में बताया गया हैं। उनकी बातों से यह स्पष्ट होता है कि 'महेश्वर' वही शैव संप्रदाय हैं जो पाशुपतों के समान हैं। बाद में ब्रह्मसूत्र के संस्कृत टीकाकारों ने महेश्वर शब्द की व्याख्या की और महेश्वरों में शैव, पाशुपत, करुणिक सिद्धांतों और कापालिकों को भी शामिल हैं। वाचस्पतिमिश्र की भामती टीका उसी का एक उदाहरण है।

माहेश्वराश्चत्वारः-शैवाः पाशुपताः कारुणिकसिद्धान्तिनः, कापालिकश्चेति॥ (भामती 2/2/37)

इस प्रकार महेश्वर चार संप्रदायों के हैं, अर्थात् शैव, पाशुपत, करुणिकसिद्धांत वालों और कापालिक। आचार्य श्री गोविंदानंद, रत्नप्रभा नामक अपनी टिप्पणी में, और आचार्य आनंदगिरी ने अपनी टिप्पणी अर्थात् न्यायनिर्णय में, वाचस्पतिमिश्र के विचारों के अनुरूप प्रतीत होते हैं। रामानुजाचार्य जैसे ब्रह्मसूत्र पर अन्य टीकाकार भी इस बिंदु के साथ पहुँचे कि कापालिकों को महेश्वर में शामिल किया गया है (Lorenzen David: 1972:1)। इसी प्रकार कापालिकों का उल्लेख कई प्राचीन भारतीय संस्कृत ग्रंथों में मिलता है, इसलिए वे बहुत महत्व प्राप्त करते हैं।

दक्षिण भारत में कापालिकों का प्रभाव-

पल्लव राजवंश के राजा, सिंह विष्णु वर्मा के पुत्र, महेंद्र विक्रम वर्मा, जिन्होंने 600 - 630 ईस्वी के दौरान दक्षिण भारत पर शासन किया था। वे ललित कला और संस्कृति के एक महान पारखी थे और शैववाद के प्रबल अनुयायी भी थे। शैववाद के लिए उनके अनुकूलन के बाद, दक्षिण भारत में कापालिक अधिक प्रमुख हो गए। अपने शासनकाल के दौरान, कापालिकों ने मुख्य रूप से कांची, तिरुवोरियुर, मयिलापुर, कोडुम्बलुर, तिरुचिरापल्ली और तंजावुर के कुछ हिस्सों में निवास किया (Minakshi C: 1938:181)। पहेली यह है कि उनके दार्शनिक ग्रंथों का एक भी ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं है परंतु मत्तविलास प्रहसन के पात्रों का विस्तृत अध्ययन कपालिकों के जीवन पर प्रकाश डाला हे।

मत्तविलास प्रहसन में कापालिक की कहानी और चित्रण-

मतविलास प्रहसन राजा महेंद्र विक्रम वर्मा का एक उत्कृष्ट सामाजिक व्यंग्य है। यह ग्रन्थ 'प्रहसन' की श्रेणी में आती है। 'प्रहसन' भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रमुख रूपकों में से एक है। मतविलास प्रहसन शैवों और बौद्ध भिक्षुओं के जीवन की आलोचना करते हैं जो पल्लव राजवंश के शासनकाल के दौरान प्रमुख थे। प्रहसन में पांच मुख्य पात्र हैं कपाली सत्यसोम, युवती देवसोम, नागसेना (एक बौद्ध भिक्षु), बभ्रुकलपा (एक अलग शैव संप्रदाय के भिखारी अर्थात् पाशुपत) और उन्मत्तक (एक पागल आदमी)। मतविलास प्रहसन का कथानक इस प्रकार है-

शराब पीने वाला कापालिक सत्यसोम भूल जाता है कि

उसने अपनी खोपड़ी का कटोरा कहाँ रखा है। वह कांची के कस्बे में अपनी प्रेमिका देवसोम के साथ कटोरा खोजता है। जैसा कि उसने गलत तरीके से एक बौद्ध भिक्षु नागसेन का कटोरा लेने वाला था, और दोनों कटोरे के ऊपर द्वंद्वयुद्ध कर रहे थे। थोड़ी देर के बाद, सत्यसोम को एक आवारा कुत्ते से अपनी खोपड़ी का कटोरा वापस मिलता है और खुश होता है।

सत्यसोम शराब का सेवन करते थे और अपने कटोरे का उपयोग करके मांस खाते थे। इस प्रकार, लेखक महेंद्र विक्रम वर्मा, कांची के कापालिकों का स्पष्ट रूप से आलोचना करते हैं जो मांस और शराब के उपभोक्ता थे। सत्यसोम के कटोरे में मांस के टुकड़े थे और जब वह कटोरा खो देता है, तो उसे संदेह होता है कि किसी कुत्ते या बौद्ध भिक्षु ने इसे चुराया होगा। एक बौद्ध भिक्षु की तुलना एक आवारा कुत्ते के साथ करने से पता चलता है कि कापालिकों में बौद्ध भिक्षुओं के प्रति घृणा थी। पूरे नाटक में सत्यसोम, भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति घृणा शब्दों से आगे बढ़ रहा है। यह कापालिकों द्वारा श्रीबुद्ध के प्रति नफरत व्यक्त करता है।

मत्तविलास प्रहसन में देवसोम सत्यसोम की वास्तविक पत्नी नहीं है, लेकिन वे एक साथ रहते हैं। यह बात स्पष्ट करता है कि कापालिकों ने महिलाओं से शादी किए बिना उनके साथ रहने की प्रथा का पालन किया था। यद्यपि वे दोनों शैववाद के अंतर्गत आते हैं, कपालिक और पाशुपतों में एक दूसरे के प्रति शत्रुता थी। बभ्रुकलप (पाशुपत भिक्षुक) का कापालिक के प्रति प्रतिशोध था क्योंकि उसने अपने प्रेमी देवसोम को बहकाया था। इस क्रोध को ध्यान में रखते हुए, वह सत्यसोम की मदद करने का नाटक करता है। इस नाटक के माध्यम से, नाटककार कापालिकों और पाशुपतों के बीच प्रचलित प्रतिद्वंद्विता को चित्रित करता है। कापालिका के भयानक जीवन को स्पष्ट रूप से चित्रित करके, राजा महेंद्र विक्रम वर्मा अद्वितीय दुस्साहस और मंच कला के साथ दर्शकों के सामने सच्चाई का खुलासा करते हैं और इस तरह मतविलास प्रहसन को एक महान रचना बनाते हैं।

मत्तविलासम् कूटियाट्टम में कापालिक की विशेषता-

'कूटियाट्टम' केरल के संस्कृत रंगमंच की शाश्वत अभिनय परंपराहै। कूटियाट्टम शब्द दो मलयालम शब्दों 'कुटी' (एक साथ) और 'अट्टम'(अभिनय) का संयोजन है। 'कूटियाट्टम' चार प्रकार के अभिनय का मिश्रण है जिसे सात्विक, वाचिक, अंगिक और आहार्य के नाम से जाना जाता है। 'कूटियाट्टम' का कार्य, छंदों के शाब्दिक और आलंकारिक दोनों अर्थों को व्यक्त कर सकता है। केरल के 'चाक्यार' और 'नांबियार' कुलों के लोग इस नाटक के कलाकार हैं। आमतौर पर, 'कूटियाट्टम' मंदिर के रंगमंच में किया जाता है, जिसका नाम है 'कुत्तम्बलम्'। 'कूटियाट्टम' का संबद्ध कला रूप है 'कूत्त'। कूटियाट्टम के सभी सौंदर्य और नाटकीय तत्व 'कूत्त' में भी बहुत अधिक परिलक्षित होते हैं। पहले, 'कूटियाट्टम' को 'कूत्त' के नाम से जाना जाता था। 'कूत्त' शब्द का अर्थ है अभिनय करना। 'कूटियाट्टम' में एक से अधिक पात्र और 'कूत्त' में एक ही पात्र मंच पर अभिनय करता है। 'अगुलियांकम कूत्त', 'मंत्रांकम कूत्त', 'परक्कुम 'कूत्त', 'मत्तविलसम कूत्त', और 'ब्रह्मचारी कूत्त' आदि प्रसिद्ध 'कूत्त' प्रदर्शन है। इनमें से अनुष्ठानिक और कलात्मक तत्वों के कारण 'मतविलासम कूत्त' एक अद्वितीय है।

उल्लेखनीय है कि 'मतविलासम कूत्त' की कथा हर दृष्टि से मतविलास प्रहसन की कथा से भिन्न है। प्रहसन के सामाजिक व्यंग्य की संभावना 'मतविलासम् कूत्त' में कहीं नहीं मिलती है। 'मतविलासम् कूत्त' का कथानक सत्यसोम एक सात्विक ब्राह्मण है।

'मतविलासम् कूत्त' कहानी इस तरह सामने आती है-

शिव मंदिर के रास्ते में, एक ब्राह्मण, सत्यसोम, ब्राह्मण लड़कों के एक समूह को देखा, जो पलाश के पेड़ की शाखाओं को काट रहे थे। चूंकि ब्राह्मण लड़कों के लिए किसी पेड़ पर नहीं चढ़ने की प्रथा थे, इसलिए सत्यसोम ने उनकी मदद करने का फैसला किया। वह पेड़ पर चढ़ जाता है और पेड़ की शाखाओं को काटना शुरू कर देता है। संयोग से कुल्हाड़ी उसके हाथ से फिसल कर गिर जाती है और अनजाने में एक ब्राह्मण लड़के को मार देती है। यह देखकर दिल दहलाने वाला सत्यसोम बालक का मृत शरीर ले जाता है और वृद्ध ब्राह्मण विद्वानों की सलाह लेता है। विद्वानों ने उसे ब्राह्मण समुदाय से बाहर निकाल दिया और ब्रह्महत्या पाप से बचने केलिए उसे भगवान् शिव की तपस्या करने की सलाह दी। सत्यसोम, अपनी पत्नी देवसोम के साथ, भगवान् शिव की प्रार्थना करते हुए तपस्या शुरू करते हैं। सत्यसोम की तपस्या से प्रसन्न होकर, भगवान् शिव ने उन्हें खोपड़ी का कटोरा और त्रिशूल दिया। भगवान् शिव ने सत्यसोम को अपना कपाली रूप भी दिया। सत्यसोम अपने कटोरे में भगवान् शिव को शराब देते थे और फिर उसका सेवन करते थे। इस प्रकार, मतविलास प्रहसन में कापालिक का चित्रण 'मतविलासम् कूत्त' के चित्रण से बिल्कुल अलग है। इस प्रकार 'मतविलासम् कूत्त' में कापालिक का चरित्र चित्रण मात्र सामाजिक व्यंग्य से पारलौकिक नाट्य

रूप में एक महान परिवर्तन है।

निष्कर्ष–

कापालिकों ने जिस रीति–रिवाजों, जीवन शैली और सामाजिक परिवेश को अपनाया, उसे नाटककार महेंद्र विक्रम वर्मा ने मत्तविलास प्रहसन में कापालिक के चरित्र–चित्रण के माध्यम से स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। कापालिकों ने अपने सांसारिक सुखों को पूरा करने के लिए बुराईयों को अपनाये थे। तथ्य यह है कि वे लगातार बौद्धों और शैवों के अन्य संप्रदायों के साथ लड़ते थे, यह दर्शाता है कि वे स्वभाव से झगड़ालू और आवारा थे। उन्होंने स्वयं घोषित किया था कि वे महान दिमाग के हैं और पल्लव काल के दौरान प्रचलित अन्य सभी दार्शनिक सिद्धांतों को भी खारिज कर दिया है। एक सामाजिक व्यंग्य को प्रदर्शन की एक पारलौकिक कला में परिकल्पित करने और बदलने के लिए 'मतविलासम् कूत्त' को दिव्य अनुभव की श्रेय प्राप्त होता है। यद्यपि प्रहसन और 'कूत्त' दोनों में पात्र का नाम सत्यसोम है, उनकी जीवन शैली, परंपराएं और सामाजिक परिवेश पूरी तरह से अलग हैं। प्रहसन में सत्यसोम एक विद्रोही चरित्र है जो एक बिगड़े हुए जीवन का नेतृत्व करता है, जबकि 'कूत्त' में, सत्यसोम धार्मिक अनुष्ठानों का एक उत्साही अनुयायी है और अपने कुकर्मों का दोषी है। अपनी कठोर तपस्या और मन की दृढ़ इच्छा के साथ, वह अपने सभी पापों को छुड़ाने में सफल रहा। प्रहसन में सत्यसोम का जीवन कापालिकों के अपवित्र अभ्यास का बहुत ही उदाहरण है; जबकि 'कूत्त' में कापालिक की विशेषता अनुकरणीय है।

एक अन्य विशिष्ट विशेषता देवसोम के चित्रण और लक्षण वर्णन के द्विभाजन है। उन्हें मत्तविलास प्रहसन में सत्यसोम की प्रेमिका के रूप में चित्रित किया गया है और मत्तविलासम् 'कूत्त' में देवसोम सत्यसोम की पत्नी हैं। मत्तविलासम 'कूत्त' का लेखन कला के क्षेत्र में अभी भी एक महान रहस्य बना हुआ है। और इस सच्चाई का पता लगाना अभी भी बाकी है कि कब और किसके द्वारा प्रहसन के सामाजिक व्यंग्य पहलू को प्रदर्शन की पारलौकिक कला में बदल दिया गया। 'कूत्त' की गुमनाम लेखक अभिनंदन और श्रद्धा के पात्र हैं; वह ललित कला के पारखी लोगों द्वारा हमेशा के लिए प्रशंसा प्राप्त करता है और आने वाले दिनों में 'मत्तविलासम् कूत्त' के लेखकत्व पर आगे के अध्ययन की उम्मीद करता है। यह उल्लेखनीय है कि 'कूत्त' में, सत्यसोम अपने ब्रह्महत्या के समाधान की तलाश करता है, जैसा कि 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में वर्णित है। इससे पता चलता है कि केरल के 'चाक्यार' वंश 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' जैसे भारतीय धर्मशास्त्र ग्रंथों में पारंगत थे और सनातन धर्म के उत्साही अनुयायी भी थे। यह माना जाता है कि 'चाक्यार' कबीले के कुछ बुद्धिजीवियों ने सामाजिक व्यंग्य की कहानी को या तो मंदिर की कला के निर्वाह के लिए या अपने स्वयं के अस्तित्व के लिए बदल दिया होगा। सबसे बढ़कर मानव जाति का आध्यात्मिक उत्थान 'मत्तवलासम् कूत्त' के गुमनाम लेखक का पहला और सबसे महत्वपूर्ण आदर्श वाक्य हो सकता है, जिसमें कहा गया है कि 'सौंदर्य सत्य है, सत्य सौंदर्य है' अर्थात् 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्'॥

संदर्भ –

[1] *"Administration and Social Life under Pallavas"* Minakshi, C. University of Madras (1938).

[2] *"Between the Empires, Society in India, 300 BCE to 400 CE"*, Olivelle, Patrick, Oxford University Press (2006).

[3] *"Brahman, The Illustrated Encyclopedia of Hinduism",*Lochtefeld G James Vol. 1: A–M, Rosen Publishing Group, New York (2002)

[4] *"BrahmasûtraŒaEkarabhasyam with Commentaries Ratnaprabha, Bhâmatî and NyâyanirGaya"* (Ed) Mahadeva Sastri, Nirnaya Sagar Press, Bombay (1909).

[5] *"Glimpses of Indian Culture"*, Joshi, Dinakar and Yogesh Patel, Star Publication, New Delhi (2006).

[6] *"Manusm[ti"*, (Ed) Vasudeva Sharma, Nirnaya Sagar Press, Bombay (1910).

[7] *"Mattavilâsa Prahasana",* Varma Mahendra Vikrama, (Ed) T. Ganapathi Sastri, Trivandrum Sanskrit Series, No 55, Thiruvanantapuram (1917).

[8] *"Prâcîna Pûrva Madhyakala India Caritram",* Singh, Upinder, D.C.Books, Kottayam (2019).

[9] *"The Kapalikas and Kalamukhas, Two Lost Saivite Secsts"* Lorenzen, David.N, Thomson Press India Limited, New Delhi (1972)

[10] *"The Life of Huian Tsiang",* Beal, Samuel, Kegan Paul Trench Trubner and Co. Ltd, London (1914).

[11] *Yâjñavalkya Sm[ti,* (Ed) N R Acharya, Nag Publishers, New Delhi (1985).

ISSN 2278 - 0327

ऋग्वेद में सरस्वती नदी का माहात्म्य : एक दार्शनिक विवेचन

अंग्रेज
Phd Research Scholar Under RUSA
पंजीकरण संख्या:- **13-SLA-12**
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

प्रो. विभा अग्रवाल
शोध निर्देशिका

भूमिका

प्राचीन काल में हमारे भारत वर्ष में बहुत सारी नदियां अविरत रूप से प्रवाहित होती रही हैं जिनका उल्लेख हमें विश्व के सर्वप्राचीन वेद ग्रंथों व पुराणों में मिलता है। इन सभी नदियों में सरस्वती नदी का माहात्म्य हमें ऋग्वेद के मंत्रों व पुराणों में विशेष रूप से प्राप्त होता है।

वामन पुराण के सरोवर माहात्म्य में सरस्वती की उत्पत्ति के बारे में वर्णन किया गया है जैसे-

कथमेषा समुत्पन्ना नदीनामुत्तमा नदी।
सरस्वती महाभागा कुरुक्षेत्रप्रयायिनी।।
कथं च सर आसाद्य कृत्वा तीर्थानि पार्श्वत:।
प्रयाता पश्चिमामाशां दृश्यादृश्यगतिशुभा।
एतद्विस्तरतो ब्रूहि तीर्थं ब्रह्मविदांवर।।[1]

अर्थात् हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ! यह दृश्यादृश्यगति वाली शुभ नदी अपने पार्श्वभग में तीर्थों को प्रकट करके कैसे सन्निहित सर व ब्रह्मसर में आकर पश्चिम दिशा को गई? इस विषय में विस्तार पूर्वक कहो। इसके उत्तर में अधोलिखित मंत्र में लोमहर्षण ने कहा-

प्लक्षवृक्षात्समुद्भूता सरिच्छ्रेष्ठा सनातनी।
सर्वपापक्षयकरी स्मरणादपि नित्यश:।।
सैसा शैलसहस्राणि विदार्य च महानदी।
प्रविष्टा पुण्यतोयैषा वनं द्वैतमिति श्रुतम्।।[2]

अर्थात् ऋषि लोमहर्षण बोले- सरिताओं में श्रेष्ठ तथा सनातनी सरस्वती नदी प्लक्षवृक्ष से प्रकट हुई जो स्मरण मात्र से ही नित्य ही सब पापों को क्षय करने वाली कही गई है। वही यह पवित्र जल वाली महानदी सहस्त्रों पर्वतों को विदीर्ण करके द्वैतवन में प्रविष्ट हुई ऐसा हमने सुना है।

प्रस्तुत शोधपत्र में सरस्वती नदी के वैदिककालीन स्वरूप को जानने हेतु ऋग्वेद में प्राप्त सन्दर्भों का उल्लेख किया जा रहा है जिनमें सरस्वती नदी और सरस्वती देवी का ऐक्य स्थापित किया गया है।

सरस्वती नदी : एक परिचय

सरस्वती शब्द की व्युत्पत्ति-

सरस्वती शब्द की व्युत्पत्ति 'सरस्वत्' शब्द से स्त्रीलिंग की विविक्षा में ङीप् प्रत्यय लगाने से हुई है जैसे- विद्या की अधिष्ठात्री देवी, गाय, उत्तमा स्त्री, दुर्गा देवी का एक नाम, नाडी, बौद्धों की एक देवी का नाम, सोमलता, ज्योतिष्मती लता तथा एक नदी का नाम।[3] यद्यपि 'सरस्वत्+ङीप् से इसका शाब्दिक अर्थ बनता है- 'सरोवरों वाली नदी' तथापि ये अनेक रूपों में ग्राह्य है। सरस्वती नदी पौराणिक हिन्दु ग्रन्थों तथा ऋग्वेद में वर्णित मुख्य नदियों में से एक है।

सरस्वती शब्द का अर्थ करते हुए यास्क ने निरुक्त में लिखा है -

वाङ् नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत् वाक्स्माद् वचे:।
तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति।
तद्यद् देवतावदुपरिष्टातद् व्याख्यास्याम:।[4]

अर्थात् वाक् शब्द के सतावन रूप कहे गये हैं। वाक् के उन सतावन रूपों में एक सरस्वती है। वेदों में सरस्वती शब्द का प्रयोग देवतावत् अर्थात् देवी सदृश आया है। नदीवत् अर्थात् नदी की भाँति बहने वाली। सायण एवं निघण्टुकार ने भी सरस्वती के नदी एवं देवता दोनों रूप स्वीकार किये हैं। यास्काचार्य का कथन है:-

'सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्त्तेस्तद्वती'[5]

अर्थात् सरस्वती एक सरोवर, जल का नाम है। इस उक्ति से

यह स्पष्ट नहीं होता कि उनका अभिप्राय नदी विशेष से है या सामान्य नदियों से अथवा जलाशयों से परिपूर्ण भूमि से। फिर भी कतिपय विद्वानों ने नदी विशेष अर्थ ग्रहण किया है।

वैदिक काल में सरस्वती :

सरस्वती नदी का प्राचीनतम एवं प्रामाणिक वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में हमें तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति, कला और उपासना पद्धति का ज्ञान होता है। ऋग्वेद की सभ्यता को 'वैदिक सभ्यता' कहते हैं।

वैदिक काल में यह सभ्यता पश्चिम में पर्सिया, ईरान, उत्तर में अफ़गानिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और काश्मीर, पूर्व में दिल्ली और दक्षिण में गोदावरी नदी के उत्तर तक फैली हुई थी।

सरस्वती इस सारे क्षेत्र की सबसे महत्वपूर्ण नदी थी। ऋग्वेद में सरस्वती की स्तुति 75 मंत्रों में की गई है इन मंत्रों में सरस्वती नदी को ही समृद्धि, विद्या और वाणी की देवी तथा माता कहा गया है।[6] ऋग्वेद में सरस्वती को सात बहनों वाली महानदी कहा गया है। ये नदियाँ- सरस्वती सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम एवं सिन्धु है। ऋग्वेद में सरस्वती की स्तुति चतुर्थ मण्डल को छोड़कर अन्य सभी नौ मण्डलों में की गई हैं। इन मंत्रो की रचना ऋषियों ने की थी जो सरस्वती के स्वरूप के प्रत्यक्ष अवलोकन करते रहे होगें। इन मंत्रों में सरस्वती के भौतिक स्वरूप के अतिरिक्त उसका मातृवत् स्वरूप एवं विद्या और वाणी की देवी का स्वरूप भी उभरकर आता है।[7]

ऋग्वेद में सरस्वती नदी का भौतिक स्वरूप :-

सर्वप्रथम हम सरस्वती नदी के भौतिक स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का अधोलिखित मंत्र द्रष्टव्य है -

सरस्वती नदी का विस्तार :

ऋग्वेद के प्रस्तुत मंत्र में सरस्वती नदी के उद्गम एवं गन्तव्य का परिचय प्राप्त होता है-

'एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय।।'[8]

अर्थात् एकमेव चैतन्यमयी पवित्र सरस्वती नदी पर्वतों से अवतरित होकर सागर में समाहित होती है। वह इस भूलोक में राजा नहुष की प्रजा को पौष्टिक तत्त्व दूध एवं घी प्रदान करती हैं। यह मंत्र सरस्वती के नदी स्वरूप की समग्रता को प्रकट करता है जिससे प्रकट होता है कि सामान्य नदी की तरह सरस्वती भी ऐसी नदी थी जिसका उद्गम-स्थल एक पर्वत था और उसका विस्तृत प्रवाह क्षेत्र था, जिसमें वह बहती थी परन्तु सबसे बढ़कर उसके गंतव्य स्थल एक सागर सुनिश्चित था। ऋग्वेद के 61 वें सूक्त में सरस्वती की सबसे अधिक जानकारी उपलब्ध है। इसमें 14 मंत्र हैं। जिसके मंत्र द्रष्टा ऋषि भारद्वाज बृहस्पति हैं।

सरस्वती का शाक्तिशाली प्रवाह :-

ऋग्वेद में सरस्वती नदी के जल का तीव्र प्रवाह चित्रित है यथा- सरस्वती मां! आपका शक्तिशाली प्रवाह आपके पर्वतीय तटों को सहज रूप से ऐसे नष्ट कर रहा है जैसे कमलनाल को उखाड़ा जाता है। हे माता! हम भक्तिपूर्वक आपकी सेवा में तत्पर हैं। आप हमारी रक्षा करें।[9]

इसी प्रकार अन्य मंत्रो में भी सरस्वती नदी के अविरत प्रवाह का चित्रण है। एक मंत्र में कहा गया है कि इस सरस्वती का प्रवाह अथाह एवं अविरत है जो गर्जना करती हुई प्रवाहित हो रही है।[10]

वही सरस्वती अपने महत्व और तेज प्रवाह के कारण अन्य नदियों में श्रेष्ठ है, उन नदियों के प्रवाहों की अपेक्षा उस प्रवाह अधिक तीव्र गति वाले रथ के वेग के समान है।[11]

सायणाचार्य अपने ऋग्वेद-भाष्य में प्रस्तुत मंत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो माहात्म्य और कीर्ति-द्वारा देवों में प्रसिद्ध है, जो नदियों में वेगवती है और श्रेष्ठता के कारण जो अतीव गुणशालिनी है, वही सरस्वती देवी ज्ञानी स्तोता की स्तुति पात्रा होती है। इस मंत्र में दयानंद सरस्वती ने यहाँ सरस्वती के देवी रूप का वर्णन किया है वहीं सायणाचार्य ने सरस्वती को नदी रूप में स्वीकार किया है।[12]

श्री दयानंद सरस्वती इसी मंत्र के अपने ऋग्वेद भाष्य में इसका देवी के रूप में वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे मनुष्यों! विद्या, सुशिक्षा, सत्सङ्ग, सत्यभाषण और योगाभ्यासादिकों से निष्पन्न हुई वाणी यह व्याप्त व समर्थ है। उसको तुम जानो। हे गुणवती देवी सरस्वती! आप विद्वान् स्तोताओं द्वारा स्तुत्य हैं।[13]

निम्नलिखित मंत्र में सरस्वती नदी को सात बहनों वाली कहा गया है यह सात बहने वस्तुत: सात नदियां हैं जिनके विषय में पहले भी कहा गया है। प्रियों में अतिप्रियसात बहनों वाली सरस्वती हमारे लिए स्तुत्य है ।

उत न: प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा सरस्वती स्तोम्या भूत्।।[14]

एक अन्य मंत्र में भी सात धाराओं वाली सरस्वती से संरक्षण की प्रार्थना की गई है।

हे महती, पूज्यनीय सरस्वती, आपकी सरयु व सिंधु तरंगशालिनी त्रिसप्त धाराएँ हमारे संरक्षण के लिए आगमन करें। मातृसदृश और जलप्रेरक ये सभी देवीयां हमें घृतवत् पुष्टिप्रद और

मधु के समान जल प्रदान करें। [15]

सरस्वती नदी का दिव्य स्वरूप :-

ऋग्वेद में प्राप्त सरस्वती के अनेक मंत्रो में सरस्वती नदी का देवी के रूप में आह्वान किया गया है जो सरस्वती की दिव्यता का परिचायक है।

ज्ञान प्रदात्री:- सरस्वती नदी की ही देवी रूप में स्तुति करते हुए उसे ज्ञान प्रदात्री कहा गया है यथा –

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।। [16]

हे सरस्वती! आप माताओं में श्रेष्ठ माता, नदियों में उत्तम महानदी और देवियों में अग्रगण्य देवि हो। हे माता! हम अज्ञानी है आप हमें ज्ञान प्रदान करें।

सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद भाष्य में सरस्वती के नदी व देवी रूप का ऐक्य प्रतिपादित करते हुए प्रस्तुत मंत्र कि व्याख्या निम्न प्रकार से की है- मातृगण में श्रेष्ठ, नदियों में श्रेष्ठ और देवों में श्रेष्ठ सरस्वती, हम दरिद्र हैं, हमें धनी करो। [17]

सत्यमार्ग पर ले जाने वाली :-

प्रस्तुत मंत्र में दिव्य रूपा सरस्वती के लिए स्तोत्र समर्पित किये गये हैं-

इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति ।
या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति।। [18]

हे माता सरस्वती ! आप अन्न तथा बल प्रदान करके सत्य मार्ग पर चलाने वाली हैं अत: देवों को प्रिय लगने वाले गृत्समद ऋषि द्वारा बनाए गए उत्तम स्तोत्र हम आपको सुनाते हैं। आप इन स्तोत्रों को स्वीकार करें। अन्यत्र भी नदी रूप में बहने वाली सरस्वती देवी को बुद्धिमत्ता-प्रदात्री कहा गया है यथा :-

जो देवी सरस्वती, नदी रूप में अथाह जल को प्रवाहित कर रही है वे सुमति को जगाने वाली देवी सरस्वती सभी याचको की प्रज्ञा प्रखर बनाती है। [19]

सरस्वती की स्तुति से फल प्राप्ति : -

ऋग्वेद में सरस्वती की स्तुति करने से फलप्राप्ति के उल्लेख भी मिलते हैं जैसे –

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुव:।
बर्हि: सीदन्त्वस्रिध:।। [20]

अर्थात् इला, सरस्वती और मही- ये तीनों देवियाँ सुखकारी और क्षय रहित है ये तीनों दीप्तिमान कुश के आसनों पर विराजमान हों। अन्यत्र सरस्वती की यजमान पर अपार कृपा का चित्रण भी मिलता है यथा-

सरस्वती देवी ने आहुति देने वाले को धैर्यवान् ऋणमुक्त होने वाला पुत्र दिवादास प्रदान किया जिसने पणि नामक कष्ट देने वाले कंजूस का नाश किया। [21]

कूर्म पूराण में भी भीष्मपितामह द्वारा युधिष्ठिर को सरस्वती नदी में स्नान से फल की बात कही गई है। वहाँ सरस्वती, गंगा व नर्मदा में स्नान का समान फल बताया गया है। [22]

वामन पुराण में भी सरस्वती के चारों दिशाओं के प्रवाहों का चित्रण है जिनमें स्नान करने से पृथक् पृथक् फल प्राप्ति कही गई है। प्राची सरस्वती अर्थात् पिहोवे में पूर्व दिशा की तरफ जो सरस्वती का प्रवाह है, उस में स्नान करने से पुरुष को गंगा स्नान का फल प्राप्त होता है और पश्चिमी वाहिनी सरस्वती में स्नान करने से नर्मदा नदी में स्नान सदृश फल प्राप्त होता है और उत्तर दिशा में वाहिनी सरस्वती में स्नान करने से सिन्धु नदी में स्नान सदृश फल प्राप्त होता है ।इस प्रकार चारों दिशाओं में सरस्वती का प्रवाह होने से स्नान करने वाले पुरुषों को चार पूर्वोक्त नदियों के स्नान जैसा अलग अलग फल मिलता है। अर्थात् एक सरस्वती नदी चार दिशा में प्रवाह होने के कारण अलग अलग फल देती है। [23]

ऋग्वेद के सम्बद्ध सूक्त में यद्यपि मोक्ष प्राप्त का सीधा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है तथापि पुराणों में सरस्वती नदी के उद्धरणों में मोक्ष अथवा अमरत्व प्राप्ति का वर्णन मिलता है। [24]

'पृथूदक-माहात्म्य' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि सरस्वती का जल पीने के बाद पृथूदक तीर्थों के बिना, कहीं और भी किसी देश में यदि पुरुष की मृत्यु हो जाय तो भी मोक्ष को प्राप्त होता है।

निष्कर्ष : -

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में अन्य नदियों की भांति सरस्वती नदी भारत में बहने वाली एक प्रधान नदी थी जो जल से परिपूर्ण एवं तीव्र प्रवाह से बहती हुई समुद्र में जाकर मिलती थी। सरस्वती नदी का देवी, मातृ रूप में स्मरण तथा फलप्रदात्री रूप में वर्णन नदी के माहात्म्य को बताता है।

सन्दर्भ सूची -

1. श्री स. महानदी निर्णय:, पृ. 21
2. श्री स. महानदी निर्णय:, पृ. 21
3. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 1238
4. निरुक्त पचाध्यायी, पृ. 105
5. निरुक्त, 9.3.24
6. वैदिक साहित्य में सरस्वती, पृ. 7

7. वही, पृ. 8
8. ऋग्वेद, 7.95.2
9. ऋग्वेद, 6.61.2 – इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
   पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः।।'
10. ऋग्वेद, 6.61.8– यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः अमश्चरति रोरुवत् ।।
11. ऋग्वेद, 6.61.13–प्रया महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा ।
    रथ इव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती ।।
12. ऋ. मं., पृ. 6.61.13
13. ऋग्वेदभाष्यम्, 6.61.13
14. ऋ., 6.61.7
15. ऋ., 10.64.9– सरस्वती सरयु सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
    देवीरापो मातरः सूदयित्नवो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत।।
16. ऋ., 2.41.16
17. वही, 2.41.16
18. वही 2.41.8
19. ऋ., 1.3.12– 'महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।।
20. ऋ., 1.13.9
21. ऋ., 6.61.1– 'इयमददाद्रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे।
    या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि त्विषा सरस्वति।।
22. कूर्म पुराण, पृ. 2.38.310 सरस्वत्यां च गङ्गायां नर्मदायां युधिष्ठिर।
    समं स्नानं च दानं यथा मे शंकरोऽब्रतीत्।।
23. वामन पुराण, पृ. 328–
    पूर्वप्रवाहे यः स्नाति गंगास्नानफलं लभेत्।
    दक्षिणे तु दिशोभागे यमुना सरितांबरा।।
    पश्चिमे तु दिशोभागे नर्म्मदा सरिताम्बरा।
    यदात्तुत्तरतोयाति सिन्धुर्भवति वै नदी।।
    एवं दिशा प्रवाहेण सदा पुण्या सरस्वती।
24. पृथुदक माहात्म्य, पृ. 40

संदर्भ ग्रन्थसूची

1 ऋग्वेद संहिता, पं. ईश्वरचन्द्र कन्हैयालाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन दिल्ली, 2011
2 ऋग्वेद संहिता, पण्डित रामगोविद त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1997
3 ऋग्वेदभाष्यम्, श्रीदयानन्दसरस्वती वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम,केसरगंज, अजमेर, 1966 ई0
4 ऋग्वेद संहिता, श्रीमत्सायणाचार्य विरचित भाष्यसमेता N.S. Sontakke, Secretary, Vadika Samshodhana Mandala, Tilak Memorial, Poona,1994
5 कूर्मपुराण, सर्वभारतीय काशिराज न्यास, दुर्गरामनगर, वाराणसी, 1972
6 निरुक्त पंचाध्यायी, मेहर चन्द, लक्ष्मण दास
7 पृथूदक माहात्म्य, पं0 गजानन शर्मा, सं0 1980
8 भविष्य महापुराण, क्षेमराजश्रीकृष्णदास, श्री वेङ्कटेश्वर, मुद्रणालय, खेतवाडी, मुम्बई
9 मनुस्मृति, डॉ0गजाननशास्त्री,मुगलगाँवकर, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी
10 महाभारत शान्तिपव, डॉ0पं0श्रीपाददामोदर, सातबलेकर स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, गुजरात 1971
11 वामन पुराण, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतूबबरेली, 1970
12 वैदिक पदानुक्रम कोश मौरिम ब्लूमफिल्ड ओमनाथ बिमली, सुनिल कुमार उपाध्याय परिमल पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण
13 वैदिक साहित्य में सरस्वती
14 रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर
15 संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, गीताप्रेस गोरखपुर
16 सरस्वती की कहानी, जानकी नारायण एवं चक्रवर्ती नारायण श्रीमाली, श्री बाबा साहेब आपटे स्मारक समिति न्यास, बेंगलूरू, 2013
17 सरस्वती महानदी निर्णय

ISSN 2278 - 0327

जय प्रकाश नारायण का समाजवादी चिन्तन : एक अध्ययन

अनिता कंवर
शोधार्थी
अहिंसा एवं शांति विभाग
शिक्षा विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनूं-राजस्थान

सारांश

जय प्रकाश नारायण समाजवाद के क्षेत्र में माने हुए तथा सुविख्यात व्यक्ति हैं। जय प्रकाश नारायण को भारत में समाजवादी आन्दोलन को नई दिशा देने के लिए सदैव स्मरण किया जाएगा। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि समाजवाद के आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण यूरोप में जरूर हुआ है किन्तु उसकी मूल आस्था का दर्शन प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति में विद्यमान है। जय प्रकाश नारायण ने देश को शोषण और आतंकविहीन स्वत: चालित समाज की ओर बढ़ने के बजाय एक नियंत्रित और आर्थिक व्यवस्था में संयोजित सामाजिक स्थिरता स्थापित करने पर अत्यधिक बल दिया। जय प्रकाश नारायण का समाजवाद का सपना किसी विदेशी दर्शन से आयातित नहीं था बल्कि वह भारतीय संदर्भ की उपज था। इन्हीं बिन्दुओं को आधार बनाकर वे एक सफल क्रांति की कल्पना करते है जिससे समाज में मूलभूत बदलाव लाया जा सके और जन राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आंदोलन का रूप देकर उस दिशा की ओर बढ़ सके जिसमें विश्वासों, सामन्ती परम्पराओं और परावलम्बी परतन्त्र भावनाओं में वर्षों से जकड़ा हुआ भारतीय समाज का ढांचा टूट सके और एक ऐसे समाज का निर्माण हो सके जिसमें शोषण और दमन की जगह पर स्वतन्त्रता और समानता का साम्राज्य लाया जा सके। भारत के जर्जरित ग्रामीण समाज की विकराल दरिद्रता के सन्दर्भ में जय प्रकाश नारायण ने उन सामाजिक तथा यान्त्रिक बन्धनों के उन्मूलन पर बल दिया जो कृषि के उत्पादन में बाधा डाल रहे थे।

प्रस्तावना :

जय प्रकाश नारायण भारतीय स्वतंत्रता सेनानी और राजनेता थे। जय प्रकाश नारायण विश्वव्यापि के महापुरूष थे। उन्होंने शोषण, निरंकुशता और परतन्त्रता का विरोध करके उसके स्थान पर स्वतंत्रता, समता और स्वैच्छिक सहकारिता के आधार पर समतावादी समाज का निर्माण करना चाहते थे। यही उनके जीवन का लक्ष्य था। अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए उन्होंने बीस वर्ष (1934-1954) समाजवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया। बीस वर्ष तक (1954-1974) आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में आयोजित भूदान-ग्रामदान आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और महात्मा गांधी के सिद्धान्तों के आधार पर रचनात्मक उपायों द्वारा सर्वोदयी समाज की स्थापना पर बल दिया।[1] महात्मा गांधी जय प्रकाश नारायण को भारतीय समाजवाद पर सबसे बड़ा अधिकारिक विद्वान् मानते हैं। जय प्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक Why Socialism में बताया कि समाजवाद एक व्यक्तिगत आचार-संहिता न होकर सामाजिक संगठन की एक प्रणाली है। सामाजिक संगठन का उद्देश्य यह कि- ''पद संस्कृति एवं अवसर की विषमताओं को समाप्त कर जीवन की श्रेष्ठ वस्तुओं के कष्टमय असमान वितरण को खत्म करके तथा उस दिशा को समाप्त किया जाए जिसमें अधिकांश व्यक्ति गरीबी, भूख, गन्दगी, रोग एवं अज्ञान का जीवनयापन कर रहे हैं और कुछ थोड़े से लोग आराम, संस्कृति, पद और सत्ता का लाभ उठाते हैं। [2]

जय प्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक Why Socialism में समाजवादी समाज पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया और उद्योग तथा कृषि के क्षेत्र में उन उपायों पर निर्देश दिया कि भूमि पर कृषि करने का अधिकार भूमि के स्वामी का हो, और सहकारी कृषि को महत्व दिया जाए। जिसमें किसानों का शोषण हो रहा है उन तत्वों को दूर करने का उपाय किया जाए। इनसे उत्पादन के साधनों का पुन: वितरण कर आर्थिक समानता स्थापित की जानी चाहिए। जमीदारी प्रथा को समाप्त किया जाए तथा सहकारी कृषि

और संयुक्त कृषि को बढ़ावा दिया जाए। राजकीय तथा सहकारी ऋण एवं बाजार व्यवस्था आदि के माध्यम से किसानों को साहूकारों व व्यापारियों के शोषण से मुक्त किया जाए।

समाज के समन्वित और संतुलित विकास के लिए जरूरी है कि उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण किया जाए तथापि भारत जैसे देश में इसके साथ ही बैंकों परिवहन के साधनों और व्यापार पर राजकीय नियंत्रण को धीरे-धीरे प्रोत्साहन देना चाहिए। भारत में राष्ट्रीयकरण और राजकीय व्यापार के मामले में अच्छे परिणाम देखने को नहीं मिलते हैं लेकिन इसका कारण प्रशासकीय मशीनरी का शिथिल होना, जनता को सरकार का सहयोग न मिलना, वितरण व्यवस्था का प्रभावशाली न होना आदि है।[3]

इस तरह उन्होंने कृषि और उद्योग दोनों में ही उत्पादन के साधनों के विकेन्द्रीकरण पर बल दिया। उन्होंने कृषि, उद्योगों के समाजीकरण के लिए नैतिक व लोकतांत्रिक साधनों का सुझाव दिया। जय प्रकाश नारायण का मानना था कि समाजवाद जैसे उच्च आदर्शों की स्थापना उचित साधनों के द्वारा होनी चाहिए।

समाजवाद का अर्थ :

जय प्रकाश नारायण की 1936 में समाजवाद क्यों ? नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें समाजवाद सम्बन्धी उनके प्रारम्भिक विचारों की जानकारी मिलती है। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि इस पुस्तक का उद्देश्य समाजवादी सिद्धान्तों की व्याख्या करना नहीं अपितु जय प्रकाश नारायण ने राष्ट्रीय आन्दोलन की तत्कालीन अवस्था तथा भविष्य से सम्बन्धित कुछ समस्याओं पर प्रकाश डाला समाजवाद के अनेक सम्प्रदाय है। इन सब के परस्पर विरोधी विचार है। इन सभी सम्प्रदायों में विश्व संकट और फासीवाद के उदय के कारण एकता बढ़ी थी। अत: जय प्रकाश नारायण ने कहा कि आज यह कहना अधिक सम्भव है कि समाजवाद का केवल एक ही रूप है वह है-मार्क्सवाद।[4]

विभिन्न समाजवादी समूहों में समाजवाद के स्वरूप एवं अर्थ के बारे में भेद वहीं है। अपितु समाजवाद की स्थापना के तरीकों में भेद है। इनकी कार्य प्रणाली में भेद है। जय प्रकाश नारायण का मत है कि अभी तक साम्यवादियों ने ही अपने ही समाजवाद का वास्तविक रूप माना है। इसके बाद उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जब हम भारत में समाजवाद की बात करते हैं तो उसका मतलब देश का सम्पूर्ण आर्थिक सामाजिक उनके खेतों, खलियानों, कारखानों विद्यालयों आदि का पुन: निर्माण करना है। जय प्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद का अर्थ सम्पत्तिशाली वर्ग या जमींदारों या तालुकेदारों की भूमि और सम्पति का समान वितरण और बड़े उद्योगपतियों के कारखानों को श्रमिकों को देना नहीं है। समाजवाद इससे भी कुछ अधिक है। अधिक सार्थक वैज्ञानिक और सभ्य शिष्ट वस्तु है।

समाजवाद और सर्वोदय :

जय प्रकाश नारायण ने कहा है कि सर्वोदय के सम्बन्ध में अनेक लोग अहिंसा और न्यासिता के बारे में वार्तालाप करने के पश्चात् भी सामाजिक बदलाव लाने में भयातुर दिखाई दिये। यदि सर्वोदय योजना का ध्यान से चिंतन करें तो यह सिर्फ भावकुता प्रधान योजना न होकर सामाजिक क्रांति का मजबूत सुझाव है। परम्परागत समाजवादी चिंतन से बाहर यह पहला प्रयास है जो नये समाज के निर्माण का चित्र पेश करता है समाजवादी, विशेषकर से वैज्ञानिक समाजवादी, विचारकों द्वारा जिन्हें निरपेक्ष होना चाहिए तथा तथ्यों के आधार पर विचार पेश करते हैं, सर्वोदय की योजना के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर उन लोगों का सहयोग करे जो सर्वोदय के कार्य में अपना सर्वस्वदान देते हैं। मूल रूप से सर्वोदय योजना समाजवादी दल के 80 प्रतिशत कार्यक्रमों को लिए हुए है। साथ-साथ वर्गविहीन एवं जातिविहीन समाज का आदर्श सर्वोदय की धारणा में समावेश है।[5]

लोकतांत्रिक समाजवाद :

लोकतांत्रिक समाजवाद शांतिपूर्ण तथा क्रमिक विकास में आस्था रखता है। जय प्रकाश नारायण के अनुसार लोकतंत्र और समाजवाद सहगामी है।[6] जय प्रकाश नारायण के अनुसार बहुधा इस कटु सत्य को विस्मृत कर दिया कि समाजवादी विचारधारा का एक मूल स्रोत स्वतंत्रता की तलाश तथा समाज में व्यक्ति के स्वविकास के लिए अनेक विद्वानों ने प्रयास किये। जय प्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद न तो राज्यवाद है और न पूंजीवाद विरोधी है। उद्योगों का राष्ट्रीकरण तथा कृषि का सामूहीकरण समाजवादी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग है। किन्तु अपने आप में समाजवाद नहीं है। समाजवाद के अन्तर्गत व्यक्ति का व्यक्ति के द्वारा शोषण नहीं होता और न ही अन्याय होता है और न ही दमन। घोर विषमताएं समाप्त हो जाती है। सम्पति और सेवाओं के पारिश्रमिक का समान वितरण होगा। समाजवादी समाज में सभी स्वतंत्र और समान होंगे और वह ऐसे मानवीय सामाजिक मूल्यों पर आधारित होगा जिसका कभी भी सिद्धान्त या दलीय नीति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए बलिदान नहीं किया जायेगा।[7]

जय प्रकाश नारायण जी ने कहा कि लोकतंत्र के माध्यम से ही समाजवाद की स्थापना सम्भव है। जय प्रकाश नारायण के अनुसार वर्तमान अवस्था में समाजवाद की स्थापना के लिए

लोकतांत्रिक प्रणाली ही सही मार्ग है।

संदर्भ सूची -

1. मुकुट बिहारी लाल : जय प्रकाश नारायण : व्यक्तित्व और नेतृत्व, आचार्य नरेन्द्र देव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, 1978, पृ. 1
2. अमरेश्वर अवस्थी, डॉ. रामकुमार अवस्थी, भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, प्रकाश रिसर्च पबिल्केशन्स, जयपुर, पृ. 513
3. डॉ. उर्मिला शर्मा, डा. एस.के. शर्मा, भारतीय राजनैतिक चिंतन, एंटालिक पब्लिर्श एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1997, पृ. 445
4. जय प्रकाश नारायण, समाजवाद क्यों (अंग्रेजी संस्करण), अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल बनारस, 1936
5. जय प्रकाश नारायण, समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. 91
6. दि हिन्दुस्तान टाइम्सः न्यू दिल्ली, 24 अगस्त, 1997
7. कार्ल मार्क्स - साम्यवादी घोषणा पत्र, पृ. 67

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. नारायण, जयप्रकाश, समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
2. नारायण, जयप्रकाश, समाजवाद क्यों (अंग्रेजी संस्करण) अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल बनारस, 1936
3. नारायण, जयप्रकाश, फ्राम सोसलिज्म टू सर्वोदय सर्व सेवा संघ प्रकाशन वाराणसी, 1957
4. नारायण, जयप्रकाश,, ए पिक्चर ऑफ सर्वोदय सोशल आर्डर, तन्जौर, 1961
5. नारायण, जयप्रकाश, मेरी विचार यात्रा भाग-1, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1974
6. मिश्रा, डॉ. महेन्द्र कुमार, भारतीय राजनीतिक विचारक, कल्पना प्रकाशन दिल्ली, 2010
7. नागर, डॉ. पुरूषोत्तम, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2009
8. शर्मा, उर्मिला, शर्मा, डॉ. एस.के., भारतीय राजनैतिक चिन्तन, एंटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1997
9. यादव, डी.एस., प्रमुख राजनीतिक विचारक डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस प्राइवेट लिमि. नई दल्ली, 2010
10. गहलौत, डॉ. बी. सिंह, समकालीन राजनीतिक विचारक, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2007

ISSN 2278 - 0327

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में प्रतिपादित- माता, पिता, अतिथि एवं आचार्य में देवत्व की अवधारणा

गोविन्द सरकार
(जे.आर.एफ) शोधार्थी, संस्कृत विभाग
रायगञ्ज विश्वविद्यालय, पश्चिम बंगाल

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली का एकादश अनुवाक सर्वसामान्य के कल्याण की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। समावर्तनकाल में वेदाध्ययन के पश्चात् दीक्षान्त प्रवचन करते हुए आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं-

'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।'[1]

अर्थात् देव और पितृ-कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता, पिता, आचार्य और अतिथि देवताओं के समान उपासना करने योग्य हैं। इनका अनुग्रह तथा आशीर्वाद प्रत्यक्ष ही उपकारक होता है।

मातृदेवो भव-

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥[2]

अर्थात् माता सर्वतीर्थमयी और पिता सम्पूर्ण देवताओं का स्वरूप हैं इसलिए सभी प्रकार से यत्नपूर्वक माता-पिता का पूजन करना चाहिए। जो माता-पिता की प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा सातों द्वीपों से युक्त पृथ्वी की परिक्रमा हो जाती है। यह निर्विवाद सत्य है कि पुत्रों के लिये माता-पिता साक्षात् देवता है-

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥[3]

'मनुष्य की उत्पत्ति एवं पालन-पोषण में माता-पिता जो कष्ट सहते हैं उनका सैकड़ों वर्षों में भी बदला नहीं चुकाया जा सकता।' जहाँ संतान का माता-पिता के प्रति श्रद्धावनत होना परम आवश्यक है, वहीं माता का उपदेश एवं कर्तव्य भी कैसा प्रणम्य, उदात्त और उच्च हो सकता है, यह हमें वाल्मीकीय रामायण में देखने को मिलता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र के माता-पिता की आज्ञापालनार्थ वन-यात्रा के समय वल्कल वस्त्र धारण करने पर लक्ष्मण ने भी राजकुमारोचित वस्त्राभूषणों का परित्याग कर तत्काल वल्कल-वस्त्रों को धारण कर अपनी माता सुमित्रा के चरणों में प्रणाम किया। माता ने पुत्र को वनगमन-हेतु संनद्ध देखकर न तो शोक या विलाप ही किया और न विषाद की रेखाएँ ही उनके मुखमण्डल पर उभरीं, वरन् उन्होंने अपने पुत्र का मस्तक सूँघकर कहा- बेटा! सुखपूर्वक प्रस्थान करो, तुम सदा यही ध्यान रखना कि श्रीराम ही तुम्हारे पितृस्थानीय महाराज दशरथ के तुल्य हैं, और दण्डक वन ही तुम्हारे लिये अयोध्या के समान सुखद निवासभूमि है-

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥[4]

मातृ-पितृ-भक्तों में गणपतिदेव का नाम सर्वप्रथम उल्लेख्य है। एक बार भगवान् शङ्कर ने अपने पुत्रों से कहा कि जो द्रुतगति से समग्र पृथ्वी की परिक्रमा कर मेरे पास प्रथम पहुँच जायेगा, उसका विवाह पहले होगा। अन्य कोई प्रतिद्वन्द्विता रखी जाती तो निश्चय ही गणेश उत्तीर्ण होने के प्रति आशावान् होते, परंतु द्रुतगति से दौड़ना लम्बोदर के लिये कठिन कार्य था। विनायक खड़े-खड़े सोच रहे थे और शरजन्मा महाबली कार्तिकेय मयूर पर तीव्र वेग से प्रस्थान कर चुके थे। अचानक अगाध बुद्धिसम्पन्न गणनायक के मस्तिष्क में एक विचार आया और सामने आसन पर बैठे माता-पिता की दौड़कर सात बार प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर खड़े होकर कहने लगे- 'अब मेरे विवाह में विलम्ब क्या है?'

माता-पिता ने हँसकर कहा- 'पुत्र, पहले पृथ्वी की परिक्रमा तो कर आ, कुमार तो चला गया, तू भी जा और

उससे पहले लौट आ, फिर तेरा विवाह पहले कर देंगे।'

गणेश बोले- 'वेदों और शास्त्रों में ऐसे वचन मिलते हैं कि जो पुत्र माता-पिता की पूजा-प्रदक्षिणा करता है, उसे पृथ्वी-परिक्रमाजनित फल सुलभ हो जाता है। मैंने आप दोनों की प्रदक्षिणाएँ कर ली हैं। अब मेरी दृष्टि में कुछ करना शेष नहीं रह गया।' शास्त्रों में कहा भी गया है कि-

'भूमेर्गरीयसी माता स्वर्गादुच्चतर: पिता।'

अर्थात् माता पृथ्वी से भी अधिक और पिता स्वर्ग से भी अधिक महान् हैं। मनुस्मृति-में कहा है-

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमा:।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नय:॥[5]

वे (माता, पिता और आचार्य) ही तीनों (भू:, भुव: और स्व:) लोक हैं, वे ही तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम) हैं, वे ही तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामेवद) हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि) हैं।

माता को देवतुल्य मानने वाले ध्रुव, पाण्डव-जैसे अनेक आदर्श और मातृ-पितृ भक्त श्रवण तथा पंढरी-जैसे जाज्वल्यमान नक्षत्रों से भारतीय संस्कृति आलोकित है। महिमा में दश उपाध्यायों से आचार्य, सौ आचार्यों से पिता और हजार पिताओं से माता अधिक मानी गयी है-

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥[6]

पितृदेवो भव -

विश्वजित् यज्ञ में वाजश्रवा के पुत्र गौतम (वाजश्रवस्) ने सम्पूर्ण धन दान में दे दिया। गौतम-पुत्र कुमार नचिकेता ने जब दक्षिणा में ब्राह्मणों को बूढ़ी असमर्थ गौएँ ले जाते देखा तो आस्तिक्यबुद्धि वह अपने पिता के हितार्थ पूछ बैठा- 'पिताजी, आप मुझे किस ऋत्विज् को दक्षिणार्थ देंगे ?' पिता ने प्रथम तो इसे बालक की नासमझी जानकर अनसुना कर दिया, परंतु जब तीसरी बार नचिकेता ने पुन: पूछा- *'कस्मै मां दास्यसीति'*[7]- आप मुझे किसे देंगे? तब पिताने क्रुद्ध होकर कहा- *'मृत्यवे त्वा ददामीति'*[8]- मैं तुझे यम को दूँगा।

नचिकेता ने अपनी सहज बुद्धि से सोचा- यम का कौन सा विशिष्ट कार्य है, जो आज पिताजी मेरे द्वारा सम्पादित कराना चाहते हैं और वह यमलोक जा पहुँचा। यमराज बालक नचिकेता के बुद्धि-कौशल से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उससे तीन वर माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने प्रथम वर के रूप में यही माँगा कि-

शान्तसंकल्प: सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥[9]

अर्थात् 'हे मृत्यो ! मेरे पिता मुझ पर क्रोधरहित हों तथा आपके द्वारा लौटा देने पर मुझे पूर्ववत् पहचान कर वार्तालाप करें, यही प्रथम वर दीजिये।'

यह नचिकेता की विचित्र पितृभक्ति थी, वह उनकी आज्ञा से यमपुरी तक जाने को उद्यत हो गये और वहाँ पहुँचकर अपने पिता की प्रसन्नता की याचना की और दुर्लभ आत्मज्ञान प्राप्तकर लौटा। इस प्रकार माता-पिता की कटु प्रतीत होने वाली आज्ञा भी पालन करने पर कल्याणकारिणी ही सिद्ध होती है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने महारानी कैकेयी को कहा- हे माता ! सुनो, वही पुत्र बड़भागी है, जो पिता-माता के वचनों का अनुरागी (पालन करने वाला) है। (आज्ञा पालन द्वारा) माता-पिता को संतुष्ट करने वाला पुत्र, हे जननी ! सारे संसार में दुर्लभ है-

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥[10]

वनवास में श्रीराम के वनगमन के क्लेश से दु:खी होकर लक्ष्मण ने महारानी कैकेयी और महाराज दशरथ के लिए कुछ कटु वचन भी कह डाले थे, किंतु आत्मवान् श्रीराम तनिक भी पितृभक्ति से विचलित नहीं हुए और उन्हें स्नेह से समझाते हुए उन्होंने कहा-

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्ध:
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात्।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्म
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्ति:॥[11]

'लक्ष्मण! महाराज हमारे गुरु, राजा और पिता होने के साथ ही सम्माननीय वृद्ध महानुभाव हैं। वे काम, क्रोध या हर्ष से प्रेरित होकर जिस कार्य के लिये आज्ञा दें, उसका पालन करना हमारा परम धर्म है। क्रूर, हीन आचरण वाला ऐसा कौन

पुरुष होगा जो पिता की आज्ञाको धर्म समझकर पालन न करता हो।'

मर्यादापुरुषोत्तम राम इसके पूर्व माता से भी स्पष्ट कह देते हैं–

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥[12]

माँ! मैं तुम्हारे चरणों में वन्दन कर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ, पर मुझे में पिता की आज्ञा उल्लङ्घन करने की शक्ति नहीं है, अतः वन को ही जाना चाहता हूँ।

'पितृदेवो भव' के प्रमाण स्वरूप पितामह भीष्म, परशुराम एवं सगरपुत्र आदि भी अनेक अनेक उदाहरण हैं। महाभारत के आरणेयपर्वान्तर्गत *'युधिष्ठिर-यक्ष'* संवादमें भी *'किं स्विदुच्चतरं खात्'*[13] अर्थात् आकाश से ऊँचा क्या है ? इसका प्रत्युत्तर देते हुए धर्मराज कहते हैं- *'खात् पितोच्चतरस्तथा'*[14] अर्थात् पिता आकाश से भी ऊँचा है।

आचार्यदेवो भव -

'मनुस्मृति' में उल्लेख है- *'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः'*[15] अर्थात् आचार्य परमात्मा की मूर्ति हैं। विद्यारूपी नौका के द्वारा अविद्या और उसके कार्य से पार कर देने के कारण ही आचार्य को बारम्बार प्रणाम किया गया है। 'प्रश्नोपनिषद्' में कहा गया है–

'ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।'[16]

समस्त विद्याओं के जन्मदाता लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण भी आचार्यप्रतिष्ठा को सर्वोपरि मानकर महर्षि सांदीपनि के आचार्यत्व में गुरुकुल में अध्ययन करते हैं तथा आचार्य भी अपने इष्टदेव की भाँति पूज्य हैं। इस आदर्श को अपने व्यवहार द्वारा स्वयं जीवन में चरितार्थ करते हैं–

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम्।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ॥[17]

'आचार्यदेवो भव' के अनेकानेक प्रणम्य प्रदीप हमारे धर्मशास्त्रों के आलोक हैं। आचार्य देवगुरु बृहस्पति, दैत्यगुरु शुक्राचार्य, महर्षि वसिष्ठ, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, गर्गाचार्य, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य- जैसों की शृङ्खला अक्षुण्ण और अबाध गति से आज भी निरन्तर गतिमान् है। आरुणि, उपमन्यु, उतङ्क तथा एकलव्य आदि की गुरुभक्ति प्रशंसनीय है।

अतिथिदेवो भव-

प्राचीन भारतीय सनातन परम्परा के अनुसार आतिथ्य एक उत्कृष्ट धर्म माना गया है। यदि अन्य कुछ सम्भव न भी हो तो कोई भी व्यक्ति आसन, कुशलप्रश्न, मृदु भाषण और जलादि के द्वारा सबका आतिथ्य कर सकता है, क्योंकि किसी के यहाँ भी इतनी वस्तुएँ सदा सुलभ रहती हैं और मृदु भाषण आदि में कोई व्यय भी नहीं होता–

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥[18]

'कठोपनिषद्' में यमराजने नचिकेतासे कहा–

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥[19]

अर्थात् 'आप नमस्कार योग्य अतिथि होते हुए भी मेरे घर तीन रात्रि तक भोजन किये बिना ही रहे, इसके बदले में मुझसे तीन वरदान माँग लें।' यमराज का यह कथन न्यायप्रदाता देव के मनोभावों का द्योतक है, जो अतिथि को देवस्वरूप मानने का उत्तम उदाहरण है।

काशी नरेश उशीनर के पुत्र महाराज शिवि का अतिथिरूप में आये पक्षी तक के लिये देहार्पण, महात्मा विदुर, महाराज संसृति के पुत्र रन्तिदेव और महाभागवत अम्बरीष के आतिथ्य उपाख्यान *'अतिथिदेवो भव'* का यशोगान कर रहे हैं। जहाँ हमारे धर्मशास्त्रों में अनेक यज्ञों का विधान है, उसी में 'अतिथि यज्ञ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार यज्ञ में आहुतियाँ देकर उसे सार्थक बनाया जाता है, उसी प्रकार अतिथिदेवके शुभागमन पर उसे नेत्र दे (स्नेहपूरित दृष्टि से देखे), मन दे (मन से हित चिन्तन करे), वाणी दे (सत्य, प्रिय, हित-वचन कहे)। जब वह जाने लगे तब दूर तक उसके पीछे-पीछे जाये और जब तक घर पर रहे, तब तक उसकी सेवा में संलग्न रहे। यह पाँच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त अतिथि यज्ञ है–

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥[20]

भारतीय संस्कृति के इन उच्चादर्शों एवं उदात्त मनोभावों का प्रायः सम्पूर्ण विश्व ने सादर अनुसरण किया है। माता, पिता, आचार्य एवं अतिथि में देवत्व की अवधारणा गहन

चिन्तन पर आधारित वैदिक परम्परा है, जिसके यथाशक्ति परिपालन से ही मानव जीवन वास्तविक रूप में सार्थक है। इन तीनों की सेवा में ही मनुष्य का सम्पूर्ण श्रुति–स्मृतिविहित कृत्य परिपूर्ण हो जाता है। यही सेवा मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म है और अन्य (अग्निहोत्रादि) धर्म तो उपधर्म हैं–

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥[21]

सन्दर्भ सूची –

1. तैत्तिरीय उपनिषद 1.11, पृ. 285
2. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड 47.11
3. मनुस्मृति 2.227, पृ. 61
4. रामायणम् 2.40.8, पृ. 24 ?
5. मनुस्मृति 2.23 ?, पृ. 62
6. वही 2.145, पृ. 48
7. कठोपनिषद् 1.1.4, पृ. 65
8. वही
9. वही 1.1.10, पृ. 69
10. श्रीरामचरितमानस अयोध्याकाण्ड दो.40, चौ.4, पृ. 500
11. रामायणम् 2.21.59, पृ. 198
12. रामायणम् 2.21.300, पृ. 196
13. महाभारत, वनपर्व 313.59, पृ. 1825
14. वही 313.60
15. मनुस्मृति 2.225, पृ. 61
16. प्रश्नोपनिषद् 6.8, पृ. 203
17. श्रीमद्भागवत महापुराण 10.45.32, पृ. 102
18. महाभारत, वनपर्व 2.54
19. कठोपनिषद् 1.1.9, पृ. 69
20. महाभारत, वनपर्व 2.61
21. मनुस्मृति 2.237, पृ. 63

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तर्करत्न, पंचानन, रामायणम् (चतुर्थ संस्करण), प्रकाशक–श्रीनटवर चक्रवर्त्ती, कलिकाता, 1315 (बँगला)।
2. पाण्डेय, रामनारायणदत्त शास्त्री, महाभारत (द्वितीय खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश ।
3. पाण्डेय, राजबली, हिन्दु संस्कार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1957।
4. सिंह, नागशरण, अष्टादशस्मृति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2005।
5. भट्टाचार्य, अरुणदेव, श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2015।
6. सेन, अतुल चन्द्र, तत्त्वभूषण सीतानाथ तथा घोष महेशचन्द्र, उपनिषद्, हरफ प्रकाशनी, कलकाता, 1998।
7. श्रीमद्भागवत सटीक (द्वितीय खण्ड) बँगला, गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, 2016।
8. द्विवेदी, गिरिजाप्रसाद, मनुस्मृति, लखनऊ, सन् 1917।

ISSN 2278 - 0327

वीरवर्धमानचरितम् में वर्णित धर्म

निर्देशक
डॉ. दीप लता
सहायक आचार्य, संस्कृत-विभाग
हि०प्र०विश्वविद्यालय, समरहिल-शिमला-5

शोधछात्रा
ज्योति ठाकुर
संस्कृत-विभाग
हि०प्र०विश्वविद्यालय, समरहिल-शिमला-5

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' अर्थात् धर्म में ही समाज की प्रतिष्ठा विद्यमान है, केवल मानव समाज मात्र की ही प्रतिष्ठा नहीं अपितु इस समस्त चराचर विश्व की प्रतिष्ठा धर्म में निहित है।

जो धारण किया जा सके वही धर्म है। विश्व में सम्पूर्ण पदार्थ एवं द्रव्यों का परस्पर संयोग तथा एकत्र धारण से ही जीवन का निर्वाह होता है। धर्म का उद्भव इसी निर्वाह के लिए हुआ है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु (धृञ् धारणे) से निष्पन्न होता है। वह कर्म जिसके करने से करने वाले की इस संसार में वृद्धि हो और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है।[1] धर्म शब्द के मुख्यतः तीन अर्थ है-

(1) धारण करने वाला
(2) पालन-पोषण करने वाला
(3) अवलम्बन देने वाला।

धर्म इस समस्त विश्व को धारण करता हुआ, सबका पालन-पोषण कर, सबको सहारा देता है अर्थात् ग्रहण करता है। इसलिए यह समस्त जगत् एकमात्र धर्म पर ही आश्रित है। अतः ऋषि चाणक्य कहते हैं-

'धर्मेण धार्यते लोकः'।[2]

''इष्टाचारो दमोऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयञ्च परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।''[3]

अर्थात् अनुकूल आचरण का होना, दम (सामर्थ्य), मन, वचन, कर्म से किसी को दुःखी न करना, दान, अनुशीलन तथा योग द्वारा स्वयं अपना निरीक्षण करना यह ही परम धर्म है। जैन महाकाव्यों में धर्म शब्द की व्यापकता देखने को मिलती है। प्रद्युम्नचरित में धर्म को दुर्गति से बचाने वाला कहा गया है-

''पततौ दुर्गतौ यस्मात्प्राणिनो धारयत्यसौ।
तेनान्वर्थो जगत्येष धर्मः सद्भिर्निगद्यते।।''[4]

अर्थात् धर्म मनुष्य को दुर्गति से बचाता है तथा विश्व में समस्त प्राणियों की अवस्था का कारण भी धर्म ही है।

वीरवर्धमानचरितम् में रत्नत्रय धर्म का उपदेश दिया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चरित्र को श्रेष्ठ माना गया है।

''तत्त्वार्थानां शिवाङ्ग तद्व्यवहारारण्यदर्शनम्।''[5]

अर्थात् सम्यग्दर्षन ही मोक्ष का अंगभूत व्यवहार है। भगवान् महावीर के अनुसार-

''नार्हद्भ्यो जातु देवोऽन्यो निर्ग्रन्थेभ्यो गुरूर्न च।
अहिंसादिव्रतेभ्योऽत्रापरो धर्मो न तत्त्वतः।।''[6]

अर्थात् इस संसार में अर्हन्त अर्थात् परमज्ञानी तीर्थंकर से भिन्न कोई भी दूसरा प्रधान देव नहीं है। ग्रंथरहित गुरूओं से भिन्न कोई श्रेष्ठ गुरू देव नहीं है, अहिंसादि पंच महाव्रतों से श्रेष्ठ कोई अन्य धर्म नहीं है।

'रत्नत्रयात्परो नान्यो मुक्तिमार्गो हि विद्यते।'

अर्थात् रत्नत्रय धर्म से अतिरिक्त कोई भी दूसरा मुक्ति का मार्ग नहीं है।

इस सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न अवयवों को एकरूप में बांधने वाला सम्पूर्ण भूमि से सम्बन्ध रखने वाला तत्व ही धर्म है। धर्म के बिना प्रजा को एकसूत्र में नहीं बांधा जा सकता। महाभारत में धर्म को व्यापक रूप में बतलाया गया है-

''धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते।।''[7]

अर्थात् धर्म को सकाम भाव से करने पर ऐहलौकिक अर्थात् सांसारिक फलों की प्राप्ति होती है। बिना फल की इच्छा किए निष्काम भाव से धर्म को करने पर पारलौकिक फल अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः धर्म ही महान् फलों को देने वाला है अतः धर्म से रहित कर्मों को नहीं करना चाहिए।

अधर्म को नाश का कारण मानते हुए कहा गया है कि-

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।[8]

अर्थात् अधर्म के अनुसार व्यवहार करने वाले मनुष्य की वृद्धि तो होती है परन्तु वह कुछ समय के लिए ही होती है। अधर्म से मनुष्य बढ़ सकता है, सुख, समृद्धि को देख सकता है, अपने शत्रुओं को भी पराजित कर सकता है परन्तु अंत में वह मूल-सहित नष्ट हो जाता है। अधर्म के कारण मनुष्य स्वंय तो नष्ट होता ही है अपितु अपने सम्पूर्ण परिवार को भी सदा के लिए नष्ट कर देता है।

वीरवर्धमानचरितम् में भगवान् महावीर कहते है कि जो मनुष्य तपस्या, व्रत, क्षमा आदि के द्वारा, सुपात्र को दान देकर, पूजा-अर्चना करके, दर्शन ज्ञान और चरित्र से धर्म को करता हुआ सम्यग्दर्शन से युक्त होता है वह मनुष्य स्वर्गादि लोंकों में सुखों को भोगता हुआ इस संसार में धर्म कार्य करने के कारण धर्मात्मा के रूप में उत्पन्न होता है।

ददते यऽन्वहं दानं सत्पात्रेभ्योऽतिभक्तिः।
अर्चयन्ति जिनेन्द्राङ्घ्री गुरूपादाम्बुजौ शुभौ।।
विद्यमानान् बहून् भोगांस्त्यजन्ति धर्मसिद्धये।
ते लभन्तेऽत्र धर्मेण महतीर्भोगसंपदः।।[9]

अर्थात् जो मनुष्य सुपात्र को प्रतिदिन भक्तिभाव से दान देते है, जितेन्द्रदेव, गुरूजनों के शुभ चरण कमलों की पूजा करते हैं, धर्म की सफलता के लिए जगत में विद्यमान अनेक प्रकार के भोगों का त्याग कर देते हैं, वे मनुष्य धर्म के कारण इस संसार में अनेक भोगों का ग्रहण करते हुए ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

गौतमधर्मर्गसूत्र में चारो वेदों को धर्म का मूल प्रमाण कहा गया है।

'वेदो धर्ममूलम्'।[10]

अर्थात् वेद धर्म का मूल प्रमाण हैं

''धर्मोहि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्म संश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्।।''[11]

अर्थात् इस समस्त चराचर जगत् में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, धर्म से मनुष्य परमगति को प्राप्त करता है तथा धर्म में ही सत्य का निर्धारण होता है।

जब पुण्य का उदय होता है तो तीनों लोकों में स्थित, पुण्य को कराने वाली लक्ष्मी गृहदासी के रूप में सर्वदा धर्म को करने वाले पुरूषों को स्वंय ही मिल जाती है अर्थात् उनके वश में आ जाती है।[12]

जो मनुष्य नास्तिक है, सर्वदा बुरे कर्मों को करते रहते हैं, परलोक, धर्म, तप, चरित्र, जितेन्द्रशास्त्र में श्रद्धा नहीं रखते, मिथ्यातत्व के कारण जो हमेशा विषयों में ही आसक्त रहते हैं इस प्रकार के मनुष्य घोर दुःखों से भरे सागर में प्रवेश करते हैं। वहां पर अन्तहीन दुःखों का भोग करते हैं।[13]

''येन यावान् यथा धर्मोऽधर्मो वेद समीहितः।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै।''[14]

अर्थात् इस संसार में प्राणियों को जिस भी प्रकार के सुख-दुःख मिल रहें हैं उनका मुख्य कारण धर्म और अधर्म ये दोनों ही हैं। प्रत्येक मानव पूर्व में जो भी धर्म-अधर्म करता है उसी प्रकार उन्हें सुख-दुःख मिलते हैं। जो मनुष्य इस संसार में जितना और जिस प्रकार का धर्म-अधर्म करेगा, परलोक में वह उतना और उसी प्रकार से फल को प्राप्त करेगा।

यद्यपि एकमात्र ईश्वर ही है जो समस्त प्राणियों के फल को देने वाला है परन्तु वह उनके धर्माधर्म के अनुसार ही उनको फल देता है।

महर्षि चाणक्य कहते हैं-

'सुखस्य मूलं धर्मः।'[15]

अर्थात् संसार के समस्त सुखों का मूल धर्म ही है।

जैन सम्प्रदाय के आचार्य श्रीसमन्तभद्र कहते हैं-

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निर्वहणम्।
संसार-दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे पदे।।[16]

अर्थात् जो प्राणियों को संसार के समस्त दुःखों से हटाकर उन्हें सुख प्रदान करता है तथा आनन्दधाम की प्राप्ति करवाता है उसे धर्म कहते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य की उन्नति और कल्याण का मुख्य साधन धर्म है। धर्म ही सम्पूर्ण विश्व का आधार है। सम्पूर्ण प्रजा अपने संशयों का निवारण करने के लिए धार्मिक के पास जाती हैं धर्म के द्वारा पाप को नष्ट किया जा सकता है, अतः विश्व में सर्वश्रेष्ठ तत्व यदि कोई है तो वह धर्म ही है।[17]

इस प्रकार मनुष्य के जीवन को सदैव सुखमय बनाने वाला पुरूषार्थ धर्म है। धर्म न केवल हमारे व्यवहार का परिमार्जन करता है अपितु हमारे जीवन जीने की शैली को भी बतलाता है। धर्म ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति भाव को उजागर कर संसार को एकसूत्र में बांधता है। धर्म मनुष्य को पुण्य के प्रति प्रवृत्त करता हुआ मोक्ष के मार्ग तक ले जाता है।

सन्दर्भ सूची -

1. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ 564
2. चाणक्यसूत्र 1 अ01
3. गरूड पुराण प्रथम खण्ड पृष्ठ 311

4. प्रद्युम्नचरित 6.57
5. वीरवर्धमानचरितम्, अष्टादशोऽधिकार, पृष्ठ 190
6. वीरवर्धमानचरितम्, अष्टादशोऽधिकार, पृष्ठ 190
7. महाभारत शांतिपर्व, अ0 293/8
8. महाभारत वनपर्व, 94/3
9. वीरवर्धमानचरितम् सप्तदशोऽधिकार, पृष्ठ 184
10. गौतमधर्मसूत्र, 1/1/1
11. वाल्मीकि रामायण 2/21/4
12. जगत्त्रयस्थिता लक्ष्मीर्दुर्लभा पुण्यकारिणी।
    वषं याति स्वयं पुण्याद् गृहदासीव धर्मिणाम्।।
    वीरवर्धमानचरितम् पृ0, 177
13. वीरवर्धमानचरितम् पृ0 180
14. भागवतपुराण 6/1/95
15. चाणक्यसूत्र-1 अ01
16. रत्नकरण्ड श्रावकाचार -1,2
17. ''धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा।
    लोके धार्मिष्ठं प्रजा उपसर्पत्ति।
    धर्मेण पापमपनुदति। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
    तस्माद धर्मं परमं वदन्ति।'' तैत्तिरीय आरण्यक।

सहायक ग्रंथ-सूची

1. मूलग्रंथ (संस्कृत)

- प्रद्युम्नचरितम् : लेखक : महासेन, सम्पादक : पं मनोहरलाल शास्त्री एवं पं रामप्रसाद शास्त्री, प्रकाशन : मणिकचंद दिग० जैन ग्रंथमाला समिति 1973
- महाभारत : लेखक : श्रीमन्महर्षि व्यास, प्रकाशन : मोतीलाल जलान गीताप्रेस (गोरखपुर), संस्करण: 2029
- भागवतपुराण : गीताप्रेस (गोरखपुर) 1980
- रत्नकरण्ड श्रावकाचार : लेखक समन्तभद्राचार्य, समीचीन धर्मं शास्त्र के नाम से प्रकाशित, सम्पादक: जुगल किशोर मुख्तार, दिल्ली 1955
- वीरवर्धमानचरितम् : लेखक : सकलकीर्ति, सम्पादक: पं हीरालाल जैन, प्रकाशन: भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण।
- वाल्मीकिरामायण : गीताप्रेस (गोरखपुर)।

2. कोश-ग्रन्थ

- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ: सम्पादक: तारिणीश झा, प्रकाशक: रामनारायणलाल वेनिप्रसाद इलहाबाद-2, संस्करण: 1957

ISSN 2278 - 0327

महारास

कुसुम लता यादव
शोधार्थी
शा. हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल

महारास श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध का अतिशय महत्वपूर्ण अंश है। इसे इस महापुराण में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण के अमृतोपम वचनों को सुनकर गोपिकायें ताप मुक्त होकर अतिशय समाह्लादित हो गयीं। अतिशय प्रिय श्रीकृष्ण का दर्शन कर कृतार्थ हो गयीं, भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेयसी गोपिकायें एक दूसरे की बाँह में बाँह डाले खड़ी थीं। उन स्त्रीरत्नों के साथ यमुनाजी के पुलिन पर भगवान् ने अपनी रसमयी रासक्रीड़ा प्रारंभ की।

तत्रारम्भत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः।।[1]

संपूर्ण योगों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियों के बीच में प्रकट हो गये और उनके गले में अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण यही क्रम था। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव करतीं थीं कि हमारे प्यारे तो हमारे ही पास हैं। इस प्रकार सहस्त्र-सहस्त्र गोपियों से शोभायमान भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य रासोत्सव प्रारंभ हुआ। उस समय आकाश में रासलीला के अवलोकन के लिए अपनी पत्नियों के साथ देवगण विमानों के द्वारा आ गये। आकाश से पुष्प वृष्टि होने लगीं और गन्धर्व अपनी पत्नि के साथ भगवान् के गुणों का गायन करने लगे। रासमण्डल में सभी गोपियाँ अपने प्रियतम श्यामसुंदर के साथ नृत्य करने लगीं। उनकी कलाइयों के कंगन, पैरों के पायजेब और करधनी के छोटे-छोटे घुँघरू एक साथ बज उठे। यमुना नदी के रमणरेती पर ब्रजसुन्दरियों के बीच भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी अनोखी शोभा हुई। नृत्य के समय गोपियाँ तरह-तरह से ठुमुक-ठुमुककर अपने पाँव कभी आगे बढ़ाती और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी गति के अनुसार धीरे-धीरे पाँव रखती, तो कभी बड़े वेग से, कभी चाक की तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा-उठाकर भाव बतातीं, तो कभी विभिन्न प्रकार से उन्हें चमकातीं। कभी वे कलात्मक ढंग से मधुर मुसकान को प्रस्तुत कर देतीं हैं तो कभी अपनी भौहें मटकातीं। नाचते नाचते उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी, मानो टूट गयी हो। झुकने, बैठने उठने और चलने की फुर्ती से उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानों के कुण्डल हिल-हिलकर कपोलों पर आ जाते थे। नाचने के परिश्रम से उनके मुँह पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं थीं। केशों की चोटियाँ कुछ ढीलीं पड़ गयीं थीं। नीवी की गाँठे खुली जा रहीं थीं। इस प्रकार नटवर नन्दलाल की परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा-गाकर नाँच रहीं थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो बहुत से श्रीकृष्ण तो साँवले-साँवले मेघमण्डल हैं और उनके बीच-बीच में चमकती हुईं गोरी गोपियाँ बिजली हैं। उनकी अलौकिक शोभा अवर्णनीय हो गयी थी। वे श्रीकृष्ण के संस्पर्श को पाकर रोमांचित हो रही थीं।[2]

आनंदमग्न गोपिकायें उच्च स्वर में गीत गाने लगीं इससे श्रीकृष्ण उनकी प्रशंसा करने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना एक हाथ दूसरी गोपी के कंधे पर रखा था वह स्वभाव से तो कमल के समान सुगन्ध से युक्त था ही उस पर सुगन्धित चंदन का लेप था। उसकी सुगन्ध से वह गोपी पुलकित हो गयी, उसका रोम-रोम खिल उठा। उसने झट से उसे चूम लिया। एक गोपी नृत्य कर रही थी। नाचने के कारण उसके कुण्डल हिल रहे थे, उनकी छटा से उसके कपोल और भी चमक रहे थे। उसने अपने कपोलों को भगवान् श्रीकृष्ण के कपोलों से सटा दिया और भगवान् ने उसके मुँह में अपना चबाया हुआ पान दे दिया। कोई गोपी नूपुर और करधनी के घुँघरूओं को झनकारती हुई नाँच और गा रहीं थीं। वह जब बहुत थक गयीं, तब उसने अपने बगल में ही खड़े श्यामसुंदर के शीतल करकमल को अपने दोंनों स्तनों पर रख लिया।[3]

श्रीमद्भागवत महापुराण में बतलाया गया है कि गोपियों का सौभाग्य लक्ष्मीजी से बढ़कर है। रासमण्डल में गोपियाँ उस परमानन्द को प्राप्त कर रहीं थीं जिसे अन्य कोई नहीं पा सका।

भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के साथ आनन्द मग्न होकर रासलीला तो करते हैं परंतु यह सब करते हुए भी लौकिक काम विकारों में लिप्त नहीं होते हैं। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के संस्पर्श से उनके प्रेमपास में आकण्ठ निमग्न हो गयीं थीं वे अपने अंगों और शरीरों की भी सुधबुध खो बैठी थीं। श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं वे सर्वथा असंग एवं निर्लेप हैं। तथापि गोपियों के साथ पूर्णमनोयोग से रासलीला करते हैं।[4]

गोपियाँ आनन्दमग्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करने लगतीं हैं। इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण अपनी थकान को दूर करने के लिए गोपियों के साथ यमुना में प्रवेश करते हैं। यमुना जल में गोपियों ने प्रेमभरी चितवन से भगवान् की ओर देख-देखकर तथा हँस-हँसकर उन पर इधर-उधर से जल की खूब बौछारें डाली। जल उलीच-उलीचकर उन्हें खूब नहलाया। इस प्रकार यमुना जल में स्वयं आत्माराम भगवान् श्रीकृष्ण ने गजराज के समान जल विहार किया।

सोऽम्भस्यलं युवतिभि: परिषिच्यमान:।
प्रेम्णेक्षित: प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।।
वैमानिकै कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो ।
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलील:।।[5]

इसके पश्चात् भगवान् यमुना जल से निकलकर अतिशय मनोरम उपवन में गोपियों के साथ विहार करने लगते हैं।[6] शरद ऋतु की मनोरम चाँदनी में भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ गोपिकाओं के साथ सम्यक् विहार किया। भगवान् श्रीकृष्ण निर्विकार एवं निर्लिप्त हैं। वे गोपिकाओं के साथ विहार करते हुए भी असंग रहे हैं। भागवत महापुराण में बतलाया गया है कि अग्नि और जल की तरह अलौकिक महापुरूष लौकिक दोषों से ग्रसित नहीं होते, अत: सामान्य मानव को उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए। अतएव यह स्पष्ट है कि चराचर जगत् के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ शुभाशुभ कर्मों को नहीं जोड़ा जा सकता हैं, क्योंकि वे इन सबसे परे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण संसार के सभी विकारों से परे हैं अत: वे कर्मबन्धनों से बँध नहीं सकते। गोपियों के उनके पतियों के और संपूर्ण शरीरधारियों के अंत:करण में जो आत्मरूप से विराजमान हैं।[7] जो सबके साक्षी और परमपति हैं वही तो अपना दिव्य चिन्मन श्रीविग्रह प्रकट करके यह लीला कर रहे हैं। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण रासलीला में विहार करते हैं परंतु वहाँ के लोगों में यह कुलषित भाव नहीं था कि कोई उनकी पत्नी के साथ अनुचित विहार कर रहा है।[8] रासलीला की वह रात्रि ब्रह्मा की रात्रि के बराबर थी और रासलीला में ही वह रात्रि व्यतीत हो गयी। ब्रह्ममुहुर्त आया, यद्यपि गोपियों की इच्छा अपने घर लौटने की नहीं थीं, फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से वे अपने-अपने घर चलीं गयीं। क्योंकि वे अपनी प्रत्येक चेष्टाओं से प्रत्येक संकल्प से केवल भगवान् को ही प्रसन्न करना चाहतीं थीं।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिता:।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्य: स्वगृहान् भगवत्प्रिया:।।[9]

श्रीमद्भागवतमहापुराण में स्पष्ट किया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण की यह रासलीला कामवासना से युक्त नहीं थी यह वस्तुत: उनकी आनन्दमयी लीला केवल आनंद के लिए थी क्योंकि वे सच्चिदानंद परमात्मा हैं। अतएव यहाँ सामान्य रूप से किसी को भी इसे लौकिक काम क्रिया के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

सन्दर्भ सूची -

1. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/1,2
2. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/3-9
3. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/10-14
4. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/15-20
5. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/34
6. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/25-26
7. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/27-36
8. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/37-38
9. श्रीमद्भागवत महापुराण-10/33/39

ISSN 2278 - 0327

सुबन्धु कालीन सामाजिक स्थिति

प्रीति भेलकर
शोधच्छात्रा
संस्कृत, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

डॉ. अच्छेलाल
सह आचार्य, तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

प्राचीन काल से ही यह प्रमाणित है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' मनुष्य और समाज दोनों एक – दूसरे के पूरक हैं। किसी भी मनुष्य के विकास में जहाँ एक ओर मनुष्य ने समाज के साथ संबंध स्थापित कर उसके विकास में सहायता प्रदान की है वहीं समाज ने मनुष्य का सामाजीकरण कर उसके व्यक्तित्व के विकास में योगदान दिया। समाज से ही मनुष्य के अस्तित्व का निर्माण होता है। समाज में रहने के कारण मनुष्य को सामाजिक नीति-नियमों का पालन करना आवयक होता है। सामाजिक जीवन मूल्यों में समाज ही केन्द्र बिन्दु है। विश्व के प्रत्येक प्राणी का जीवन किसी न किसी प्रकार सामाजिकता के सूत्र में बंधा हुआ है।

वासवदत्ता में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का विवेचन प्राप्त होता है। शूद्र जाति के लिए 'चाण्डाल' शब्द का उपयोग किया गया है।

सुबन्धु ने वासवदत्ता में 'ब्राह्मणों' को सम्मानीय स्थान प्रदान किया है। ब्राह्मण पूज्यनीय समझे जाते थे –

''द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्''।[1]

ब्राह्मणों का समाज में आदर था। ब्राह्मणों का वध नहीं किया जाता था।

''द्विजाघात: सुरतेषु न प्रजासु''[2]

राजकुमार कन्दर्पकेतु जिस समय वासवदत्ता को ढूंढता है तब सन्तप्त होकर विलाप करते हुए अपने भाग्य को दोष देते हुए कहता है- क्या ब्राह्मण लोगों पर मैंने आक्षेप किया है जो मुझे ये दु:ख मिला है –

''किं नामधिक्षिप्ता भूदेवा:।''[3]

ब्राह्मणों के अनुकूल कर्म न करने पर चक्रवर्ती सम्राटों को हानि भी उठानी पड़ती थी।

''पुरूरवा ब्राह्मणधनतृष्णया विननाश.....
ययाति र्विहितब्राह्मणीपणिग्रहण: पपात।।[4]
'' कार्तवीर्यो गोब्राह्मणपीडया पंचत्वमयासीत्।[5]

शाप के भय से तीनों वर्णों के लोग ब्राह्मणों के सामने झुकते थे।

ब्राह्मण कुल, उत्तम वंश माना जाता था –

''द्विजकुलभूषितामप्यकुलीनवंशाम्''[6]

ब्राह्मण के प्रति समाज में श्रद्धा तथा आदर था। उनके चारित्रिक, पवित्रता, व्यक्तित्व, नैतिक गुण, स्त्रियों के प्रति सम्मान, धन के प्रति वितृष्णा इत्यादि के कारण ब्राह्मणों का श्रेष्ठ स्तर था।

वर्णचतुष्टय में दूसरा स्थान क्षत्रिय वर्ण का आता है। प्रजा की रक्षा करना, पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना इन सभी कार्यों को क्षत्रिय करते थे। क्षत्रियों के लिए मनुस्मृति में कहा गया है –

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेश्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत:।।[7]

देश और समाज की रक्षा करने का दायित्व क्षत्रिय वर्ण द्वारा वहन किया जाता था।

वासवदत्ता में नायक, नायिका दोनों का संबंध राजकुल से है। राजा चिन्तामणि कंदर्पकेतु के पिता जो दिक्पर्यन्त रक्षा करने वाले वरुण के समान शान्तिपूर्वक रक्षा करने वाले, उनके चरणों की नखरूपी मणियाँ समस्त राजाओं के मस्तक के मुकुट पर लगी हुई चूड़ामणि रूपी कसौटी के कोने घिसने के कारण निर्मल हो गयी थी।[8]

वैश्यवर्ण तीसरे स्थान पर है। सुबन्धु के वासवदत्ता में स्थान-स्थान पर वैश्यों का वर्णन मिलता है। मनुस्मृति में वैश्यों के कर्तव्य के बारे में कहा गया है –

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वाणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च।।[9]

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना एवं कृषि कार्य करना। इस प्रकार वैश्यों के कर्तव्य बताये गए हैं।

वासवदत्ता में भी वैश्य वर्ण का कार्य व्यापार करना ही बताया

गाय है –

''ततो वणिजीव प्रसारिताम्बरे''[10]

तत्कालीन समाज में कुछ वैश्य व्यापार जो गणना सम्बन्धी कारिका का निर्माण करने वाली शूलपाल नामक वैश्य का वर्णन प्राप्त होता है।

''शूलपालचित्तवृत्तिमिव फलितगणिकारिकाम्''।[11]

वर्णचतुष्टय में शूद्र वर्ण को अन्तिम वर्ण में रखा गया है। समाज के तीनों वर्णों की सेवा करने का कार्य शूद्र वर्ण करता था। मनुस्मृति में कहा है –

''एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।''[12]

सुबन्धु के वासवदत्ता में शूद्र का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त नहीं होता, परन्तु कुछ शब्दों से उनके कार्यों का उल्लेख मिलता है –

''कैवर्त इव बद्धराजीवोत्पलसालः''[13]

''पथिकजनहृदयमत्स्यं ग्रहीतुं मकरकेतोः पलाव पाटलिपुष्पमदृश्यत्।''[14]

इसमें धीवर जाति जो मछली पकड़ने वाली है उसका उल्लेख प्राप्त होता है। वासवदत्ता में भी शूद्र जाति के लिए ''चाण्डालकन्या'' शब्द का प्रयोग मिलता है।

''जलदकाललक्ष्मीमातङ्ग कन्यानर्तनरज्जुरिव''[15]

वासवदत्ता में भी चारों आश्रमों का अलग–अलग उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु आश्रम का चलन तो उस समय भी था यह वासवदत्ता के कई स्थलों में निर्दिष्ट है।

आश्रम व्यवस्था के प्रथम सोपान पर ब्रह्मचर्याश्रम है। मानव जीवन के षोडश संस्कारों में उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन – ये तीन संस्कार इसी आश्रम में आते हैं। तत्कालीन समाज में छात्रों के अध्ययन के लिए विद्यालयों तथा मठों की व्यवस्था थी। जहाँ विद्यार्थी अध्ययन करने जाते थे।

''प्रबुद्धाध्ययनकर्मठेषु मठेषु''[16]

''गृहस्थ आश्रम चारों आश्रमों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह सभी आश्रमों का मूल एवं आधार है।''[17] गृहस्थ शब्द से यह ज्ञात होता है कि ये वो आश्रम है जहाँ व्यक्ति गृहस्थ होकर जीवन व्यतीत करता है। विद्याध्ययन के पश्चात् मनुष्य विवाह संस्कार सम्पन्न करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। इस आश्रम में व्यक्ति धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करने की ओर आगे बढ़ता है। मनुस्मृति में कहा है –

''यथावायुं समाश्रिता वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथागृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः।।[18]

सुबन्धु कालीन समाज में भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज के प्रति अपने दायित्व का सम्यक् निर्वाह करना आवश्यक था। वासवदत्ता में राजकुमार कन्दर्पकेतु के पिता राजा चिंतामणि का ही केवल हमें उल्लेख मिलता है।[19] परिवार की जानकारी प्राप्त नहीं होती किन्तु राजा शृंगारशेखर के गृहस्थाश्रम का वर्णन स्पष्ट है। उनके परिवार का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। सुबन्धु ने शृंगारशेखर उसकी पत्नी रानी अनंगवती तथा पुत्री वासवदत्ता का विवरण काव्य में किया है।[20]

वानप्रस्थ का अर्थ वन में सर्वोत्तम ढंग से जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करें।

वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति को केवल कुल एवं गृह का ही आश्रय नहीं छोड़ना पड़ता बल्कि जंगल में कुटिया बनाकर रहना पड़ता था। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए 50 वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।

वानप्रस्थाश्रम के सन्दर्भ में वासवदत्ता में कोई प्रसंग की जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

संन्यासाश्रम मानव जीवन का चौथा पड़ाव है जहाँ मानव सांसारिक जीवन से सम्पूर्ण विरक्त हो जाता है। मानव जीवन का यह अंतिम आश्रम कहलाता है। जिसमें जीवन के सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर संसार से पूर्ण विरक्त हो जाता हैं चौथा भाग अर्थात् 75 वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थी संसार को छोड़कर सन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। सन्यासी उसे ही माना जाता है, जो संसार का पूरी तरह त्याग कर चुका हो। अब वह सामाजिक एवं सांसारिक संबंधों से पूर्णतया अलग हो जाता था। वह एक जगह कुटिया बनाकर नहीं रहता था बल्कि एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमता फिरता था। इसलिए मनु ने कहा है कि –

''वनेषु च विहर्त्येवं तृतीयं भागम्मायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्तवांगान्परिव्रजेत्।।''[21]

वासवदत्ता में सन्यासियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

''स्फुटिककमण्डलुरिव नभोव्रतिनः''।[22]

जिसका रजोगुण शान्त हो चुका है ऐसे तपस्वी के समान जिससे धूल दबी हुई थी। सुबन्धु के अनुसार वर्षा ऋतु के वर्णन के प्रसंग में कमण्डलु को धारण किये हुए सन्यासी का वर्णन प्राप्त होता है। वर्षा ऋतु ने जल से युक्त कमण्डलु को धारण करने वाले संन्यासी के समान मेघ तथा ओलों को धारण कर रखा था–

'महातपस्वीव प्रशमितरजः प्रसरः, तापस इव धृतजलदकरकः'[23]

सुबन्धु ''वासवदत्ता'' के अनुसार तत्कालीन दैनिक जीवन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोग जीवन के विविध तत्वों से

भली-भाँति परिचित थे तथा जीवन के हर पहलू का विकास कर चुके थे। पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार के सिद्धान्त पर आधारित था। समाज में पितृसत्ता प्रधान परिवार होते थे। पिता के संरक्षण में ही परिवार के सारे कार्य संपादित किये जाते थे। परिवार में माता-पिता का स्थान बहुत ऊँचा था। माता-पिता का पद सम्माननीय माना जाता था। सुबन्धु के ''वासवदत्ता'' की नायिका वासवदत्ता जो राजा शृंगारशेखर और रानी अनंगवती की पुत्री है।[24] वह अप्रतिम सौंदर्ययुक्त है। वह पिता के अधीन है क्योंकि वह अविवाहित है। सुबन्धु ने यहाँ जिस राज्य का वर्णन किया है वहाँ राजा रानी और प्रजा सभी ही आदर्शवादी तथा श्रेष्ठ गुणों से परिपूर्ण हुआ करते थे। राजा तथा रानी प्रजा के हित हेतु सदैव तत्पर तथा उदार हृदय के थे।

तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। कुलीन समाज की स्त्रियाँ न केवल विधिवत् शिक्षा ग्रहण करती थी किन्तु अन्य कलाओं में भी प्रवीण होती थी। संगीत के प्रति रुचि दिखाई देती है। गायन, वादन होते थे। विट ''चर्चरी'' नामक ताल लगाया करते थे।

*''गीयमानगीतश्रवणोत्सुकषिङ्गजनसमारब्ध चर्चरी तालाकर्णनमुह्यदनेकपथिकः''*25

गीतों में ही स्वरों के आरोह, अवरोह, क्रम की प्राप्ति होती थी, प्रजा में मूर्च्छा-संज्ञानाश नहीं होता था। गीतों में गान्धार स्वर का विच्छेद पाया जाता था, युवतियों में सिन्दूर का अभाव नहीं था अर्थात् वे सदैव सुहागिन बनी रहती थी।[26] यहाँ काकली गायक का वर्णन भी प्राप्त होता है।

*''एकदा कतिपयमासापगमे काकलीगायन इव समृद्धनिम्नगानदः''*27

स्त्रियाँ खेतो में काम करते समय गीत गाती थी-

हृष्टकलमगोपिकागीताकर्णनसुखितमृगयूथे।''[28]

नृत्यादि कलाओं में भी स्त्रियाँ निपुण होती थी। कन्यायें चित्रकला में निपुण थी। वासवदत्ता अपनी सखी चित्रलेखा से चित्रफलक पर कन्दर्पकेतु का चित्र बनाने के लिए कहती है।

समाज में प्रेम-विवाह भी होते होंगें जिसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। जिसमें बिना माता-पिता की अनुमति से ही एक-दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। ये विवाह कन्या के फलस्वरूप और उनकी इच्छा से होता है। जैसे कि वासवदत्ता और कन्दर्पकेतु मनोजव नामक अश्व से बिना किसी की अनुमति लिए नगर से चले गये थे।[29] हालांकि वासवदत्ता में इनके विवाह हेतु कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। समाज में स्वयं को सुन्दर तथा आकर्षक दिखने के लिए सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग होता था। शरीर पर विविध लेप लगाते थे। सौंदर्य युक्त बनाने के लिए जितनी स्त्रियाँ उत्सुक रहती थी, उतने ही पुरुष भी रहते थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण तथा सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग करते थे। सुहागिन स्त्रियाँ सिन्दूर लगाती थी।[30] पैरों में लाक्षारस लगाया जाता था।[31]

समाज में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुक स्त्रियाँ भी रहते थे। बौद्ध भिक्षु गेरुए रंग अथवा लाल रंग के वस्त्र धारण करते थे।

''सन्ध्यारक्तांशुके विषमप्ररूढबिसलताशरयन्त्रानुगतशत-पत्रपुस्तकसनाथे''[32]

भिक्षुक स्त्रियाँ लाल वर्ण के वस्त्र धारण करती थी-

''भिक्षुकीव तारानुरक्ता, रक्ताम्बरधारिणी''[33]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके स्वभाव से समाज में अच्छाई और बुराई का समावेश होता है। सुबन्धु काल में भी जहाँ लोग तप, वेदाध्ययन करते थे तो कुछ लोग मद्यपान भी करते थे। कुछ आस्थाएँ थी तो कुछ कुरीतियाँ भी थी। लोग समूह रूप में मद्यमान करते थे।

''विदग्धमधुगोष्ठ्येव नाविटपीतासवया''[34]

समाज में शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के भोजन का प्रचलन था। शाकाहारी आहार के अन्तर्गत विविध अनाज, फल-मूल का समावेश होता था। गेहूँ, चावल का वर्णन कथा में प्राप्त होता है। गेहूँ को ''गौरगोधूम''[35] नाम से पुकारा गया है। गेहूँ लोगों का मुख्य आहार था। चावल के लिए 'तण्डुल' तथा 'शाली' नाम प्राप्त होते हैं।

''चन्द्रमण्डले कण्डनविकीर्णेषु तण्डुलेष्विव तारागणेषु उन्मीलत्सु''।[36]

धान के खेतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। लोग अपने खेतों में विविध प्रकार के अनाज उगाते थे-

''प्रशस्तकेदार इव बहुधान्यकार्यसम्पादकः।''[37]

फलों का समावेश भी आहर में होता था। जब राजकुमार कंदर्पकेतु मित्र मरकन्द के साथ घर त्याग देता है तब मकरन्द उसे फल लाकर खाने को देता हैं।

''ततो मकरन्दः फलमूलान्यादाय कथं कथमपि तमभि-नन्दिताहारमकार्षीत्।
स्वयमपि तदुपभुक्तशेषमकरोदशनम्''।[38]

वासवदत्ता भी जब कन्दर्पकेतु सोते रहता है तब उसके खाने के लिए फल लेने जाती है।[39]

दूध, दही, घृत का भी खाने में समावेश होता था।[40]

मांसाहारी भोजन का भी प्रचलन था। समाज के धीवर जाति के लोग मछली पकड़ते थे और इसका व्यापार होता होगा। लोग

इसे खाने के लिए खरीदते होंगे।

''पथिकजनहृदयमत्स्यं ग्रहीतुं मकरकेतो: पलाव पाटलिपुण्यमदृष्यत्''[41]

सुबन्धुकालीन समाज में लोग अन्धविश्वास शुभाशुभ, शकुन अंधविश्वासों पर विश्वास करने वाले थे। हर समाज में कुछ ना कुछ मान्यताएँ रहती हैं। वासवदत्ता में भी कुछ मान्यताएँ थी जिस पर लोग विश्वास करते थे। राजपरिवार में भी शुभ काम करने से पहले अनेक मंगलमय विधायें की जाती थी जैसे जब वासवदत्ता स्वयंवर के लिए राजभवन की ओर प्रस्थान करती है तब उसकी पालकी पर खिलों को बिखेरा जा रहा था। [42]

किसी भी शुभकार्य को करने से पहले खिलों को बिखेरना शुभ माना जाता था।

राजा यात्रा करने निकलते तो उससे पहले पूर्ण कलश देखने से यात्रा मंगल होती है। इसलिए नगर के पूर्व द्वार पर जल से भरा कलश रखते थे।

''नभोनगरप्राग्द्वार कनकपूर्णकुम्भे''[43]

उसी प्रकार खंजरीट पक्षी को देखना तथा गरुड़ पक्षी की ध्वनि को सुनना शुभ संकेत माने जाते थे। [44]

तत्कालीन समाज भाग्य पर भी विश्वास रखते थे। सुबन्धु कालीन समाज में लोग धार्मिक थे। लोग यज्ञ, दान, तप में विश्वास रखते थे। वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत का पाठन करते थे।

जैन तथा बौद्ध धर्म का उल्लेख प्राप्त होता है। पुनर्जन्म, भाग्य, दुर्भाग्य, ग्रह, आशीर्वाद, दु:स्वप्न के प्रति आस्था रहती थी। कन्दर्पकेतु के निम्न कथनों से यह स्पष्ट होता है।

''किं पूर्व मया हृतमनवदांत कर्म।
अहो दुर्विणका..... फलम्''[45]

सुबन्धु ज्ञान, विज्ञान का यथेष्ट ज्ञान रखते थे। वासवदत्ता में उन्होंने मनुष्य, पशुओं और पक्षियों का स्वाभाविक वर्णन किया है। संध्याकाल के समय सुनने के लिए उत्सुक जनो द्वारा शिशुओं के कलरव निवारण में लोरिया गाकर बच्चों को थपकियाँ लगाती हुई, महिलाओं का वर्णन दृष्टांत होता है। धूल में लोटकर उठी हुई बसेरा के लिए कलह, कलविको का कलरव वर्णन, गाँव के वृक्षों पर बसेरा लेते हुए पक्षियों का वर्णन सामाजिक जीवन का निकट प्रमाण प्रस्तुत होता है। [46]

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वासवदत्ता – जमुना पाठक, पृ.क्र. 244
2. वासवदत्ता – जमुना पाठक, पृ.क्र. 130
3. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 274
4. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 292
5. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 293
6. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 261
7. मनुस्मृति – 1/89
8. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 15
9. मनुस्मृति – 1/90
10. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 274
11. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 257
12. मनुस्मृति –1/91
13. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 140
14. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 144
15. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 302
16. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 45
17. गौतम धर्मसूत्र – 3/3
18. मनुस्मृति – 3/77
19. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 13
20. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 135
21. मनुस्मृति – 6/33
22. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 203
23. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 300
24. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 135
25. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 137
26. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 130
27. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 300
28. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 307
29. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 252 ''मनोजवनाम्ना तुरगेण तया सह नगरान्निजेगाम''।
30. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 257
31. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 244
32. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 263
33. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 182
34. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 101
35. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 307
36. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 265
37. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 123
38. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 104
39. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 312 ''उपवासादिना तृषातुरे भवति निद्राश्रान्तेप्रथमप्रबुद्धोऽहं भवत: फलमूलादिक महरिष्यामीति विचिन्त्य फलाद्यन्वेषणाय वने नल्वमात्रमगच्छम्''।
40. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 43, ''दधिधवलकालक्षपणकग्रासपिण्ड इव''
41. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 144
42. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 150
43. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 268
44. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 150
45. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 274
46. वासवदत्ता, जमुना पाठक, पृ.क्र. 178–179

ISSN 2278 - 0327

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व निर्माण में प्राणायाम की भूमिका

सुनील कुमार शर्मा
शोध छात्र
सिंघानिया विश्वविद्यालय
पचेरीकला, झुंझनू, राजस्थान, भारत

शोध सार– आधुनिक समय में बदलती जीवन शैली, निष्क्रियता व्यायाम न करने व अधिक प्रतिस्पर्धा के कारण किशोरों व युवाओं में अनेकानेक समस्यायें आने से वे अपने लक्ष्य से दूर हटने लगे हैं। जिसके कारण वे मानसिक तनाव, दबाव आदि के शिकार भी हो रहे हैं। विद्यार्थियों की इन समस्याओं के समाधान में प्राणायाम विशेष रूप से प्रभावी है। विद्यार्थियों में चाहे वह परीक्षा का भय हो या एकाग्रता की कमी, भविष्य की चिंता या फिर कैरियर की चिंता सभी का समाधान प्राणायाम के द्वारा संभव है।

जीवन की अधिकांश समस्याओं का कारण प्राण शक्ति की कमी है। यदि व्यक्ति की प्राण शक्ति का विकास किया जा सके तो विद्यार्थी जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है।

मुख्य शब्द (कठिन) – प्राण, अपान, समान, नाड़ी शोधन प्राणायाम, कपालभाति, भ्रामरी प्रणायाम, भस्त्रिका प्रणायाम आदि।

परिचय –

जीवन में किसी भी कार्य को श्रेष्ठ तरीके से करने के लिए प्राण शक्ति मजबूत होनी चाहिए। सामान्यत: प्राण का अर्थ होता है– जीवनी शक्ति और आयाम का तात्पर्य – नियमन। इस प्रकार प्राणायाम का तात्पर्य हुआ जीवनी शक्ति का नियमन।[1]

प्रत्येक प्राणी श्वास लेता है और श्वास के माध्यम से ही उसके शरीर में प्राण तथा जीवन का संचार होता है। अगर श्वास लेना बंद कर दें तो शरीर में प्राण की कमी महसूस होगी। शरीर नीला या काला पड़ जायेगा। यदि कोई व्यक्ति श्वास को जबरदस्ती रोके रहे तो अन्त में उसकी मृत्यु भी हो सकती है।

इसलिए विद्यार्थियों को चाहिए कि प्राणायाम करते समय श्वास को ज्यादा देर तक न रोकें तथा किसी योग्य योग शिक्षक से सीखकर ही प्राणायाम का अभ्यास करें।

प्राणायाम को परिभाषित करते हुए योग दर्शन में कहा गया है –

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:।

(योग दर्शन– 2/49)

अर्थात् आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास प्रश्वास की गति को यथाशक्ति नियंत्रित करना प्राणायाम कहलाता है।[2]

इस प्रकार देखते हैं कि प्राणायाम श्वास का विज्ञान है। यह धुरी है, जिसके चारों ओर जीवन चक्र घूमता है।

स्वामी रामदेव जी महाराज के अनुसार– जिस प्रकार वायु के द्वारा राख हटाये जाने पर अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से वासनाओं के मिट जाने पर शरीर के अन्दर की दिव्य ज्योति अपनी पूर्ण महिमा के साथ प्रकाशमान हो उठती है। मन को उसके समस्त भ्रम से रिक्त करना ही वास्तव में शुद्ध रेचक है। 'मैं आत्मा हूं' की अनुभूति करना ही सही पूरक है और इस दृढ़ विश्वास पर मन का स्थिरीकरण सही अर्थों में कुंभक है।[3]

स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि श्वास प्रश्वास की गतियों के प्रवाह को रेचक, पूरक और कुंभक के माध्यम से बाहर और भीतर दोनों स्थानों में रोकना (विराम देना) ही प्राणायाम है।

प्राण के पांच भेद हैं– जिन्हें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान कहते हैं। प्राणायाम की प्रक्रिया में प्राण और अपान का मिलन होता है। यही कारण है कि प्राण और अपान का मिलन ही प्राणायाम का लक्षण बतलाया गया है।

योगी याज्ञवलक्य नामक ग्रंथ में कहा गया है –

प्राणापान सम्पयोग: प्राणायाम इतीरित।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचक पूरक कुम्भकै:।।

(योगि याज्ञ – 6.2) 4

स्वामी रामदेव महाराज प्राणायाम के बारे में कहते हैं कि –

जीवात्मा के शरीर में प्राण परमात्मा के जागतिक श्वास का अंश है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा व्यक्ति के श्वास (पिण्ड) प्राण को जागतिक श्वास (ब्रह्माण्ड प्राण) से समस्वरता में लाने का प्रयास किया जाता है। यह व्यक्ति को समष्टि से एवं समष्टि को व्यष्टि में आत्मसात करने की साधना है।[5]

प्राणायाम के विषय में सत्रहवीं शताब्दी के रहस्यवादी एक्केन ने कहा है – यदि तुम अपनी शांत प्रकृति (आत्मा) को प्रबुद्ध या प्रोत्साहित करना चाहते हो तो पहले अपनी श्वास क्रिया को व्यवस्थित करो। कारण, जब श्वास प्रक्रिया नियंत्रण (वश) में होगी तभी हृदय को शांति प्राप्त होगी। परन्तु जब श्वास क्रिया अव्यवस्थित है तो उससे हानि पहुँचेगी। इसलिए किसी प्रकार का कार्य करने से पहले श्वास को नियंत्रित करो, जिससे तुम्हारे स्वभाव में कोमलता आयेगी और प्रकृति शांत होगी। [6]

मुख्यत: प्राणायाम शरीर में प्राणिक ऊर्जा को बढ़ाने व मन को शांत कर एकाग्रता के स्तर को बढ़ाने का एक सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। प्राणायाम अभ्यास शरीर में प्राणिक ऊर्जा का सर्जन, विस्तार व नियंत्रण करने की एक महान कला है। प्राणायाम के अभ्यास से जहाँ शारीरिक दोष दूर होते हैं, वहीं मानसिक अवस्था भी अच्छी बनती है। प्राणायाम के अभ्यास से श्वास गहरे लम्बे आनुपातिक लयबद्ध व सूक्ष्म होता है। मन शांत होता है और एकाग्रता का स्तर बढ़ने लगता है जो कि विद्यार्थियों के शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ होने में विशेष लाभकारी सिद्ध होंगे। [7]

योग शिक्षक देशराज जी के अनुसार – प्राणायाम के अभ्यास से रक्त का शोधन होता है, मस्तिष्क को अधिक मात्रा में आक्सीजन युक्त रक्त प्राप्त होने लगता है, शरीर का तंत्रिक तंत्र स्वस्थ बनता है। सभी ग्रंथियों के हार्मोन्स संतुलित होने लगते हैं और मन शांत होता है। [8]

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व विकास में निम्न प्राणायाम लाभकारी है –

(1) लम्बे गहरे श्वास –

स्वामी शिवानन्द जी के अनुसार – प्रत्येक गहरी श्वास लेने में नासिका द्वारा अधिक से अधिक मात्रा में वायु पेट में भरी जाती है और नासिका द्वारा ही गहरे तथा स्थित प्रश्वास से वायु निकाल दी जाती है। जितना हो सके, धीरे–धीरे श्वासें अन्दर खीचिए, धीरे–धीरे जितना हो सके प्रश्वास बाहर छोड़ दीजिए।[9] लम्बे गहरे श्वास से मन शांत होता है, एकाग्रता का स्तर बढ़ता है। अत: पढ़ाई शुरू करने से पहले व परीक्षा देने पहले दो से पांच मिनट के गहरे लम्बे श्वास का अभ्यास बहुत लाभकारी है।[10]

(2) कपाल भाति प्राणायाम –

कपाल का अर्थ है – ललाट। भाति का अर्थ है – चमकना। कपालभाति उस अभ्यास को कहते हैं जिससे कपाल चमकने लगे। इस प्राणायाम में कुम्भक नहीं किया जाता। इसमें रेचक प्रमुख है। रेचक क्रिया उदर की मांस पेशियों को पीछे की तरफ खींचते हुए शीघ्रता तथा बलपूर्वक करना चाहिए। पूरक करते समय उदर की मांस पेशियों को ढीला छोड़ दें। सिर तथा धड़ एक सीध में हो।[11]

यह क्रिया श्वास प्रणाली तथा नासिका छिद्रों को शुद्ध करती है। श्वास नली का संकुचन दूर होता है। श्वास की बीमारी में विशेष लाभकारी है। बच्चों की स्मरण शक्ति की वृद्धि में विशेष लाभकारी है। धारणा एवं एकाग्रता शक्ति की वृद्धि होती है।

(3) नाड़ी शोधन प्राणायाम –

यह क्रिया पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर मूलबंध लगाकर थोड़ा बायीं नासिका से रेचक करके पूरक करना चाहिए। उसके पश्चात् जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करना चाहिए। फिर जालन्धर बन्ध खोलकर और उड्डीयान बन्ध लगाकर दाहिनीं नासिका से धीरे–धीरे रेचक करना चाहिए। फिर कुछ क्षण कुम्भक करके दायीं नासिका से पूरक करे। पुन: कुछ क्षण तक कुम्भक करके बायीं नासिका से रेचक करना चाहिए।[12] इस प्रकार कम से कम 10 बार दोहरायें। नेत्र बंद रहें। शरीर को शिथिल रखें।

जिन विद्यार्थियों का मन अशांत रहता है उनके लिए विशेष लाभकारी है। इस प्राणायाम से अध्ययनरत विद्यार्थियों की मन की अशांति दूर होकर एकाग्रता की वृद्धि होती है।

(4) भ्रामरी प्रणायाम –

सिद्धासन लगाकर नेत्र बंद कर लें और भ्रू में लक्ष्य रखें तथा जालन्धर बंध लगा लें। इस प्रणायाम के समय जालन्धर बंध हमेशा लगा रहना चाहिए। फिर दोनों नासापुट से भ्रमर के नाद के समान स्वरसहित पूरक करें। इसके पश्चात् 3–सेकण्ड कुम्भक करके धीरे–धीरे आवाज सहित रेचक करें। इस प्रकार 5 मिनट तक अभ्यास करें। [13]

स्वामी रामदेव जी महाराज के अनुसार – यह प्रणायाम अपनी चेतना, ब्राही चेतना, ईश्वरीय चेतना के साथ तन्मय एवं तदरूप करते हुए करना चाहिए। मन में यह दिव्य संकल्प या विचार होना चाहिए कि मुझ पर भगवान् की कृपा, शांति तथा आनन्द बरस रहा है। मेरे आज्ञा चक्र पर भगवान् दिव्य ज्योति के रूप में प्रकट होकर मेरे समस्त अज्ञान को दूर कर मुझे ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्पन्न बना रहे हैं। इस प्रकार शुद्ध भाव से यह प्राणायाम करने से एक दिव्य ज्योति पुञ्ज आज्ञा चक्र में प्रकट होता है और ध्यान स्वत: होने लगता है। [14]

इस प्राणायाम के अभ्यास से विद्यार्थियों के मन की चंचलता दूर होती है। मानसिक तनाव, उत्तेजना, आदि में लाभप्रद है। ध्यान के लिए अच्छा अभ्यास है। एकाग्रता में भी बृद्धि होती है।

अध्ययन शील विद्यार्थियों के लिए यह एक अति उत्तम प्रणायाम है।

(5) भस्त्रिका प्रणायाम –

'भस्त्रिका' शब्द का अर्थ है – लुहार की भट्टी। अर्थात् जिस प्रकार लुहार चमड़े की धौकनी में वायु को भरता है तथा उसे बन्द करके भट्टी से निकालता है, उसी प्रकार अपने फेफड़े में श्वास को भरना एवं निकालना।[15]

स्वामी रामदेव जी के अनुसार – भस्त्रिका प्राणायाम में श्वास को अन्दर भरते हए मन में विचार (संकल्प) करना चाहिए कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान दिव्य शक्ति, ऊर्जा, पवित्रता, शांति और आनन्द जो भी शुभ है, वह प्राण के साथ मेरे देह में प्रविष्ट हो रहा है। मैं दिव्य शक्तियों से ओत-प्रोत हो रहा हूँ। इस प्रकार दिव्य संकल्प के साथ किया हुआ प्राणायाम विशेष लाभप्रद होता है।[16] ढाई सेकण्ड में श्वास अंदर लेना एवं ढाई सेकण्ड में श्वास बाहर छोड़ना। इस प्रकार बिना रूके एक मिनट में 12 बार भस्त्रिका प्राणायाम होता है। एक आवृत्ति में कम से कम 5 मिनट करें।

इस प्राणायाम से सर्दी, जुकाम, श्वास रोग, दमा, साइनस आदि समस्त कफ रोग दूर होते हैं। फेफड़े सबल बनते हैं तथा हृदय व मस्तिष्क को शुद्ध प्राणायाम मिलने से आरोग्य लाभ होता है। प्राण एवं मन स्थिर होता है।[17]

निष्कर्ष –

अत: हम देखते हैं कि प्राणायाम के माध्यम से बच्चों के अन्दर परीक्षा के दौरान होने वाले डर, भय दूर होता है, एकाग्रता में वृद्धि होती है, उसकी विषयों के प्रति समझ बढ़ती है। याददास्त में वृद्धि होती है, तथा वह परीक्षाओं में अच्छा प्रदर्शन करता है।

संदर्भ सूची –

1- पृष्ठ – 287 सरस्वती स्वामी निरंजना नन्द : घेरण्ड संहिता : संस्करण 2011 ई0: योग पब्लिकेशन ट्रस्ट मुंगेर
2- पृष्ठ – 48 स्वामी रामदेव : विज्ञान की कसौटी पर योग 1 संस्क. 2007 ई0 य दिव्य प्रकाशन य दिव्य योग मंदिर ट्रस्ट पतंजली योगपीठ, हरिद्वार
3- पृष्ठ – 49 तथैव
4- पृष्ठ 378 शर्मा पं. श्री राम : 108 उपनिषद (ब्रह्म विद्या खण्ड) संस्करण-2010 ई0; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तदोभूमि, मथुरा
5- पृष्ठ-50 स्वामी रामदेव : विज्ञान की कसौटी पर योग; 1 संस्क. 2007 ई0 ; दिव्य प्रकाशन; दिव्य योग मंदिर ट्रस्ट पतंजली योगपीठ, हरिद्वार.
6- पृष्ठ-50 तथैव
7- पृष्ठ-3 – 1 योग मन्जरी (त्रैमासिक) सं0 डा0 मीनू गुप्ता अप्रैल-जून 2021
8- पृष्ठ-4 – तथैव
9- पृष्ठ-77 स्वामी शिवानन्द : प्राणायाम साधना : द डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्द टिहरी, गढ़वाल, उत्तराखण्ड, भारत
10- पृष्ठ-4 योग मंजरी अप्रैल-जून 2021
11- पृष्ठ-79, 80 स्वामी शिवानन्द : प्राणायाम साधना; द डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्द नगर, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड
12- पृष्ठ-51, राधा कृष्ण नेवटिया : प्राणायाम सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी
13- पृष्ठ-617 कल्याण-योगांक, गीताप्रेस, गोरखपुर
14- पृष्ठ-97, स्वामी रामदेव : प्राणायाम रहस्य दिव्य प्रकाशन, दिव्य योग मंदिर (ट्रस्ट) पतंजली योगपीठ, हरिद्वार
15- पृष्ठ-73 डा. वेद प्रकाश : प्राणायाम; वैदिक धर्म संस्थान, वेद मंदिर, पल्लवपुरम, मेरठ।
16- पृष्ठ-89 स्वामी रामदेव- प्राणायाम रहस्य दिव्य प्रकाशन, दिव्य योग मंदिर (ट्रस्ट) पतंजली योगपीठ, हरिद्वार
17- पृष्ठ-90 तथैव

ISSN 2278 - 0327

नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान का अध्ययन

(कुरूक्षेत्र लोकसभा क्षेत्र के संदर्भ में)

हिमांशु छावड़ा

पी–एच.डी शोधार्थी, संचार प्रबंधन एवं तकनीकी विभाग,

गुरू जम्भेश्वर विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार

सारांश–

आज के आधुनिक युग संचार की क्रांति से एक जगह से दूसरी जगह पर बातचीत करना बेहद आसान हो गया है। पूरा विश्व संचार के आधुनिक तकनीक के कारण एक गांव में बदल गया है। इस संचार की आधुनिक तकनीक का स्थान आज इंटरनेट ने ले लिया है। प्रस्तुत शोध पत्र 'नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान का अध्ययन' को लेकर हरियाणा राज्य की कुल 10 लोकसभा सीटों में से कुरूक्षेत्र लोकसभा सीट को शामिल किया गया। इस लोकसभा क्षेत्र से कुल 60 नागरिकों को प्रमुखता से लिया गया। इन नागरिकों से सर्वेक्षण विधि से प्रश्नावली अनुसूची के द्वारा विभिन्न प्रश्न पूछे गए थे। इन प्रश्नों के उत्तर व निष्कर्ष का वर्णन संक्षिप्त रूप से शोध पत्र में किया जा रहा है।

प्रस्तावना–

प्रस्तुत शोध पत्र में नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान के अध्ययन पर प्रकाश डाला गया है। इस शोध पत्र में नागरिकों से संचार के माध्यमों का अधिकता से प्रयोग करना, पहली बार किस चुनाव में वोट डालने की जानकारी, किस माध्यम से वोट डालने की जानकारी प्राप्त होना, भारत के प्रधानमंत्री के नाम का ज्ञान, हरियाणा राज्य की कुल लोकसभा सीटों का ज्ञान व भारत की राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी को पसंद करने का विवरण आदि को शामिल किया गया है।

संचार माध्यमों का प्रभाव –

आधुनिक विश्व के राजनीतिक परिवेश में संचार की भूमिका मूल नियामक बन गई है। राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक–सांस्कृतिक धार्मिक, एवं शिक्षा व्यवस्था को संचार आधुनिक व विकसित करता है। भू–भाग में किसी भी तरह के परिवर्तन की सूचना संचार प्रक्रिया से ही प्राप्त होती है। विगत में फिलिपिंस व फिनलैण्ड, अन्य देशों में सत्ता परिवर्तन में जनसंचार माध्यमों की भूमिका अहम रही हैं। देश में कर्फ्यू, धारा 144 व आपातकाल आदि घोषणाएं जनसंचार माध्यमों द्वारा ही प्रचारित व प्रसारित होती है। नागरिकों व सरकार के मध्य संचार प्रक्रिया जनसंचार माध्यमों द्वारा सम्पन्न होती है।

राजनीतिक संचार

किसी भी राजनीतिक प्रणाली की क्रियाशीलता की संकल्पना उसके विभिन्न भागों में होने वाले संचार के बिना नहीं की जा सकती। राजनीतिक प्रक्रिया को जो राजनेता अपने भाषणों द्वारा प्रभावित करने की कोशिश कर रहे हैं उनका विश्लेषण करना राजनीतिक संचार में मीडिया का यह अध्ययन शामिल है। राजनीतिक संचार को राजनीति विज्ञान का उपक्षेत्र माना जाता है। जहाँ संचार, सूचना का फैलाव, प्रभाव, निर्माण गतिशीलता आदि अवयव, राजनीतिक संदर्भ में मीडिया के द्वारा उसका प्रचार हो या फैलाव या अंतवैयक्तिक रूप में हो।

साहित्य समीक्षा–

1. 'चुनाव अभियान में सूचना बेहद संवेदनशील भूमिका अदा करती है '। 2014 में आयरलैड में चुनावों में ईओम ओली,रोडी फलैन, लैन मेकैमिनामिन 'आयरलैंड के आम चुनाव में चुनावी क्रियाकलापों के बारे' में एक लेख में लिखा कि सूचना पर आधारित शक्ति का प्रवाह होता है तब वोटर अपने मत व फैसले बदलता है। ऐसे में सूचना के अनुसार वोटर अपना मत संबंधी फैसला करने मे सक्षम होता है।

2. '82 प्रतिशत युवा जो कॉलेज में विद्यार्थी है, ने 2004 आम चुनावों में वोट करने का फैसला लिया है '। राजनीतिक सहभागिता में 2004 में 'अमेरिका के राष्ट्रपति चुनावों में राजनीतिक सहभागिता व युवा वोटर को लेकर' हारवर्ड विश्वविद्यालय के राजनीतिक

संस्थान में लोंगो निकरसन व रोस.पी.मयर ने 2003 में एक अध्ययन किया, जिसमें पाया गया कि 81 प्रतिशत ने कहा कि उनका वोट असर करेगा, फिर 45 प्रतिशत युवा बेहद करीब से चुनाव को देखेंगे। 21 प्रतिशत से भी ज्यादा युवा उन्होंने राजनीतिक संगठनों में काम किया था और 35 प्रतिशत युवाओं ने रैली में भी भाग लिया। इसी रिपोर्ट से मिलती जुलती रिपोर्ट जो सूचना केन्द्र शोध ने की जो चुनाव से पहले आंकड़ों पर आधारित थी, पाया गया कि 2004 के चुनावों में एक बहुत बड़ी कॉलेज विद्यार्थियों की संख्या शामिल थी। शोधकर्त्ताओं ने पाया 85 प्रतिशत युवाओं ने प्रचार को अनुसरित किया। 75 प्रतिशत विद्यार्थियों ने साप्ताहिक राजनीति पर चर्चा की। 90 प्रतिशत युवाओं ने कहा कि वे वोट के लिए पंजीकृत थे और 77 प्रतिशत ने कहा उन्होंने वोट किया। 62 प्रतिशत विद्यार्थियों को दूसरे युवाओं की सूची द्वारा वोट पंजीकरण के लिए उत्साहित किया गया।

शोध के उद्देश्य-

1. नागरिकों द्वारा अधिक प्रयोग किए गए संचार माध्यम को जानना।
2. नागरिकों द्वारा किस चुनाव में पहली बार वोट के प्रयोग को जानना।
3. नागरिकों द्वारा किस राष्ट्रीय मुद्दें को लेकर वोट के प्रयोग को जानना।
4. नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम के ज्ञान को जानना।
5. नागरिकों को हरियाणा की लोकसभा सीटों के ज्ञान को जानना।
6. नागरिकों को भारत की राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी के पसंद होने के बारें में जानना।

शोध विधि-

प्रस्तुत शोध नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान का अध्ययन को लेकर हरियाणा राज्य की कुल 10 लोकसभा सीटों में कुरूक्षेत्र लोकसभा सीट को प्रमुखता से अध्ययन के लिए शामिल किया गया। इस अध्ययन में निदर्शन विधि का प्रयोग किया गया है। वही अप्रैल 2021 में कुरूक्षेत्र लोकसभा सीट के कुल 60 नागरिकों को शामिल किया गया। वहीं अध्ययन में 18 से 60 वर्ष के नागरिकों को शामिल किया गया। इस अध्ययन में सर्वेक्षण विधि द्वारा प्रश्नावली अनुसूची से नागरिकों का विभिन्न प्रश्नों के बारें में अध्ययन किया गया। कुरूक्षेत्र लोकसभा सीट में कुल 60 नागरिकों में 27 ग्रामीण व 33 शहरी नागरिक थे। वही 47 पुरूष व 13 महिलाएं थी।

आंकडों का विश्लेषण

तालिका-1

नागरिकों द्वारा अधिक प्रयोग किया गया संचार माध्यम

लोकसभा सीट	संचार माध्यम				कुल
	सभी	समाचार पत्र	रेडियों और टेलीविजन	इंटरनेट और मोबाईल	
कुरूक्षेत्र	6	5	4	45	60
कुल	6	5	4	45	60

तालिका-1

'नागरिकों द्वारा अधिक प्रयोग किए गए संचार माध्यम' को लेकर कुल 60 नागरिकों में 6 नागरिक संचार के सभी माध्यम अधिक प्रयोग करते हैं। 5 नागरिक समाचार पत्र का अधिक प्रयोग करते है। 4 नागरिक रेडियो व टेलीविजन माध्यम का अधिक प्रयोग करते है। इसके अलावा 45 नागरिक इंटरनेट व मोबाईल माध्यम का अधिक प्रयोग करते है।

तालिका-2

नागरिकों द्वारा पहली बार चुनाव में मत के प्रयोग का विवरण

लोकसभा सीट कुरुक्षेत्र	चुनाव का विवरण						
	पंचायत	नगरपालिका	नगर परिषद	नगरनिगम	विधानसभा	संसदीय	कुल
कुल	21	4	4	1	16	6	52
	21	4	4	1	16	6	52

तालिका-2

'नागरिकों द्वारा पहली बार किस चुनाव में मत के प्रयोग का विवरण' के अनुसार कुल 52 नागरिकों में 21 नागरिकों ने पहली बार पंचायत के चुनाव में अपने मत का प्रयोग किया है। 4 नागरिकों ने नगरपालिका के चुनाव में अपने मत का प्रयोग किया है। 4 नागरिकों ने नगर परिषद के चुनाव में मत का प्रयोग किया है। 1 नागरिक ने नगर निगम के चुनाव में मत का प्रयोग किया है। 16 नागरिकों ने विधानसभा के चुनाव में मत का प्रयोग किया है। इसके अलावा 6 नागरिकों ने संसदीय चुनावों में अपने मत का प्रयोग किया है। वही 8 नागरिकों ने इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया है।

तालिका-3

नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय मुद्दों को लेकर वोट का प्रयोग

लोकसभा सीट कुरूक्षेत्र	राष्ट्रीय मुद्दा		कुल
	आंतकवाद 2	इस मुद्दें को लेकर नहीं 58	60
	कृषि 4	इस मुद्दें को लेकर नहीं 56	60
	शिक्षा 19	इस मुद्दें को लेकर नहीं 41	60
	सुरक्षा 2	इस मुद्दें को लेकर नहीं 58	60
	रोजगार 14	इस मुद्दें को लेकर नहीं 46	60
	स्वास्थ्य 3	इस मुद्दें को लेकर नहीं 57	60

तालिका-3 'नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय मुद्दों को लेकर वोट के प्रयोग' के अनुसार कुल 60 नागरिकों में 2 नागरिकों ने आंतकवाद के मुद्दें पर वोट का प्रयोग किया है। 58 नागरिकों ने इस मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग नहीं किया है। 4 नागरिकों ने कृषि के मुद्दें पर वोट का प्रयोग किया है। 56 नागरिकों ने इस मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग नहीं किया है। 19 नागरिकों ने शिक्षा के मुद्दें पर वोट का प्रयोग किया है। 41 नागरिकों ने इस मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग नहीं किया है। 2 नागरिकों ने सुरक्षा के मुद्दें पर वोट का प्रयोग किया है। 58 नागरिकों ने इस मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग नहीं किया है। 14 नागरिकों ने रोजगार के मुद्दें पर वोट का प्रयोग किया है। 46 नागरिकों ने इस मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग नहीं किया है। 3 नागरिकों ने स्वास्थ्य के मुद्दें पर वोट का प्रयोग किया है। 57 नागरिकों ने इस मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग नहीं किया है।

तालिका-4

नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम के ज्ञान का विवरण

लोकसभा सीट कुरूक्षेत्र	नाम के ज्ञान का विवरण		कुल
	पता है	पता है	
	58	2	60
कुल	58	2	60

तालिका-4 'नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम के ज्ञान के विवरण' के अनुसार कुल 60 नागरिकों में 58 नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम का ज्ञान है। केवल 2 नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम का ज्ञान नही है।

तालिका-5

नागरिकों को हरियाणा की लोकसभा सीटों के ज्ञान का विवरण

लोकसभा सीट कुरूक्षेत्र	सीटों के ज्ञान का विवरण		कुल
	पता है	पता नहीं है	
	46	14	60
कुल	46	14	60

तालिका-5 'नागरिकों को हरियाणा की लोकसभा सीटों के ज्ञान के विवरण' के अनुसार कुल 60 नागरिकों में 46 नागरिकों को हरियाणा की लोकसभा सीटों का ज्ञान है। वही 14 नागरिकों को हरियाणा राज्य की लोकसभा सीटों का ज्ञान नही है।

तालिका-6

नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी को पसंद करने का विवरण

लोकसभा सीट	राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी	कुल
कुरूक्षेत्र	भारतीय जनता पार्टी	23
	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	10
	बहुजन समाज पार्टी	1
	भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी	1
	मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी	1
	इनमें से कोई भी नहीं	24
	कुल	60

तालिका-6 'नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी को पसंद करने के विवरण' के अनुसार कुल 60 नागरिकों मे 23 नागरिक भारतीय जनता पार्टी को पसंद करते है। 10 नागरिक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को पसंद करते है। 1 नागरिक बहुजन समाज पार्टी को पसंद करता है। 1 नागरिक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को पसंद करता है। 1 मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को पसंद करते है। इसके अलावा 24 नागरिक किसी भी पार्टी को पसंद नहीं करते है।

परिणाम-

1. नागरिकों द्वारा प्रयोग किए गए संचार माध्यमों को लेकर

कुल 60 नागरिकों मे 45 नागरिक इंटरनेट व मोबाईल माध्यम का अधिक प्रयोग करते है।

2. नागरिकों द्वारा पहली बार चुनाव में वोट के प्रयोग को लेकर कुल 60 नागरिकों में 21 नागरिकों ने पंचायत के चुनाव में पहली बार वोट का प्रयोग किया है। वही 16 नागरिकों ने विधानसभा के चुनाव मे पहली बार वोट का प्रयोग किया है।
3. नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय मुद्दें को लेकर वोट के प्रयोग में कुल 60 नागरिकों में 19 नागरिकों ने शिक्षा के मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग किया है। वही 14 नागरिकों ने रोजगार के मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग किया है।
4. नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम के ज्ञान को लेकर कुल 60 नागरिकों में 58 नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम का ज्ञान है। वही 2 नागरिकों को भारत के प्रधानमंत्री के नाम का ज्ञान नहीं है।
5. नागरिकों को हरियाणा की कुल लोकसभा सीटों के ज्ञान को लेकर कुल 46 नागरिकों को हरियाणाा की लोकसभा सीटों का ज्ञान है। वही 14 नागरिकों को हरियाणा की कुल लोकसभा सीटों का ज्ञान नहीं है।
6. नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी को पसंद करने को लेकर कुल 60 नागरिकों में 23 नागरिक भारतीय जनता पार्टी को पसंद करते है। 24 नागरिक किसी भी राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी को पसंद नहीं करते है।

सार–

प्रस्तुत शोध पत्र नागरिकों की मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार व राजनीतिक ज्ञान के अध्ययन के अंर्तगत शोध मीडिया आदतें, वोटिंग व्यवहार और राजनीतिक ज्ञान पर आधारित रहा। नागरिकों द्वारा अधिक प्रयोग किए गए संचार माध्यमों में इंटरनेट और मोबाईल माध्यम को नागरिक अधिक प्रयोग करते हैं। नागरिकों ने पंचायत व विधानसभा के चुनाव में पहली बार वोट का प्रयोग किया है। नागरिकों ने शिक्षा व रोजगार के मुद्दें को लेकर वोट का प्रयोग किया है। नागरिकों को प्रधानमंत्री के नाम का ज्ञान है। अधिकतर नागरिकों को लोकसभा सीटों का ज्ञान है। नागरिक को राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टी के रूप में भारतीय जनता पार्टी को पसंद करते है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी प्रकाशन–

1. भनोट, के. एम.–
(2005–06) तुलनात्मक राजनीति, लक्ष्मी बुक डिपो, हाँसी गेट, भिवानी, हरियाणा।
2. सिंह,ओम प्रकाश–
(1992) संचार माध्यमों का प्रभाव,क्लासिकल पब्लिकेशन कपंनी, नई दिल्ली।

अंग्रेजी प्रकाशन–

1. McNair.B -
(2003) An introduction to Political Communciation, London: Routledge, 2003.
2. Malley O' Eoin-
(2014) Flynnroddy, mcmenamin Meditating elections in elections in Ireland : evidence from the 2011 general Lain elections. pp- 217-236, copyright 2014, edition- Liverpool university, London.
3. Nickersonw.david -
(2004) The impact of Email campaign on voterMobilization.evidence from a fieldExperiment.vol.1,pp141-151.Sage publication, London.

ऑनलाईन वेबसाइटस–

- http://www.sapandssrp.com
- http://www.shodhganga.ininflibnet.ac.in
- http://www.jstor.org
- http://www.wiki/political communication

ISSN 2278 - 0327

वेदों के अनुशीलन में शिक्षा वेदाङ्ग की उपादेयता

कुमुद कुमार पाण्डेय
शोधार्थी
संस्कृत महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी, उ.प्र.

वेदों के सम्यक अनुशीलन के लिए और उनका वास्तविक अर्थ जानने के लिए जो ग्रन्थ उपयोगी व सहायक है उन्हें वेदांग कहते है। वेदांग का अर्थ है 'वेदस्य अंगानि'। अंग का अर्थ है अङ्ग्यते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि'।[1] अर्थात् वे उपकारक तत्त्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध होता है अंग कहलाते हैं। वेदांगों के द्वारा वेद मन्त्रों का अर्थ, उनकी व्याख्या एवं यज्ञीय कर्म काण्ड में उनके विनियोग का बोध होता है।

प्रारम्भ में वेदांग स्वतन्त्र विषय न होकर वेदाध्ययन के विशिष्ट प्रकार थे बाद में ये स्वतन्त्र रूप में विकसित हुए।[2] सर्वप्रथम वेदांग के भेदों का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या के अन्तर्गत चार वेदों के नामोल्लेख के बाद हुआ है।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो,
व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।[3]

छः वेदांग इस प्रकार हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें प्रत्येक का अपना निजी वैशिष्ट्य है। यथापि उक्त वेदांग का विभाजन प्राचीन है और उचित व युक्ति युक्त है। तथापि वेदांग के विभाजन में मतभेद दिखाई देता है। जैसा कि कहा गया है-

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरण छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेङ्गानि षऽवतु।।[4]

किन्तु अन्य स्मृति में इस प्रकार कहा गया है

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्त ज्योतिष तथा।
कल्पश्चेति षङ्गानि वेदस्याहुमनीषिणः।।[5]

ये वेदांग सामान्यतः सूत्र शैली में लिखे गए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड, विनियोग एवं यज्ञ विधि आदि के नियम बहुत विस्तृत और व्यापक थे तथा संक्षेप में स्मरणार्थ सूत्र शैली को अपनाया गया है।[6]

पाणिनीय शिक्षा में वेद-पुरूष के छः अंगों के रूप में 6 वेदांगों का वर्णन है। छन्द वेद पुरूष के पैर है। कल्प हाथ है। ज्योतिष नेत्र है। निरुक्त कान है। शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्त श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुख व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[7]

छः वेदांगों में से प्रथम वेदांग शिक्षा है। शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कारण कि इसको वेद रूपी पुरुष की नासिका कहा गया है। शिक्षा का अर्थ है-वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा।[8] आचार्य सायण ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है-

स्वरः वर्णाधुच्चारण प्रकारों यत्र
शिक्ष्यतेः उपदिश्यते सा शिक्षा[9]

अर्थात् जिस शास्त्र में वर्ण स्वर आदि के उच्चारण करने के प्रकार का उपदेश दिया जाता है उसे शिक्षा कहते है।

जर्मन विद्वान् **डॉ. विण्टनित्ज**[10] के अनुसार वेद मन्त्रों का संहिता पाठ तथा पद पाठ शिक्षा वेदाङ्ग के नियमों के अनुसार हुआ है उदाहरण के लिए वेद मन्त्र के 'त्वं हि अग्ने' इस उच्चारित रूप का 'त्वं ह्यग्ने' इस सम्पादित एवं लिखित रूप शिक्षा नियमों के अनुसार है इसी प्रकार संहिता पाठ के पद पाठ भी शिक्षा ग्रन्थों के नियमों के अनुसार किया गया है।

उदाहरणार्थ - संहितापाठ-

अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीऽयोः नू नूतनैरुटा।
स देवां एह वक्षति।।[11]

पदपाठ -

अग्निः! पूर्वेभिः! ऋषिऽभिः! ईऽयः! नूतनैः! उतः!
सः! देवान्! आ! इह! वक्षति।। ऋग्वेद 1112

शिक्षा वेदांग का वैदिक संहिताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इनमें शुद्ध उच्चारण और स्वर संचार के नियम दिये गये हैं। इस विषय

का विशेष वर्णन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में है। वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बन्ध होने के कारण प्रातिशाख्य कहते है। [12]

मुख्य प्रातिशाख्य ये हैं- ऋग्वेद की शाकल शाखा का शौनक रचित एक प्रातिशाख्य, शुक्ल यजुर्वेद की माध्यनन्दिन शाखा का कात्ययन रचित शुक्ल यजु: प्रातिशाख्य कृष्ण यजुर्वेद भी तैत्तिरीय शाखा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। सामवेद के तीन प्रातिशाख्य है सामप्रातिशाख्य, पुष्पसूत्र और पंचम विधि सूत्र अर्थव प्रातिशाख्य हैं जिसे चातुरध्यात्मिक भी कहते है।[13]

इसके अतिरिक्त छोटे प्रकार कुछ अन्य शिक्ष ग्रन्थ भी है-

ऋग्वेदीय शिक्षायें -

शैशिरीय शिक्षा पाणिनीय शिक्षा, शौनिकी शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञावल्क्य शिक्षा, कृष्ण यजुर्वेद की व्यास-शिक्षा सामवेद की नारद शिक्षा और अर्थवेद की माण्डूकी शिक्षा। इनके अतिरिक्त भारद्वाज शिक्षा, वशिष्ठ शिक्षा पराशर शिक्षा आदि ग्रन्थ भी हैं।[14]

उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों की संख्या 34 है। इनमें पाणिनीय शिक्षा और व्यास शिक्षा विशेष महत्वपूर्ण है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा के स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है।

शीक्षां व्याख्यास्याम । वर्ण: स्वर: मात्रा बलं साम, सन्तान, इत्युक्त: शीक्षाध्याय:।[15]

अर्थात् वर्ण स्वर, मात्रा, बल, साम, और सन्तान को शिक्षा कहते है।

वर्ण -

संस्कृत वर्णमाला में 63 वर्ण संवृत्त अ को विवृत अ से पृथक् मानने पर 64 वर्ण है। अ, इ, उ आदि। लिषष्टिक्षुत: श्रतु: पष्टिर्वा वर्णा: सम्भुमते मता:।

प्रकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता: स्वयम्भुवा[16]। इस प्रकार पाणिनी ने 63 या 64 वर्ण स्वीकार किये हैं। 21 स्वर वर्ण, 25 स्पर्श वर्ण, 4 अन्त: स्था वर्ण, 4 ऊष्म, 4 यम, अनुसार, विर्सजनीया, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, लकार-63 वर्ण।

प्लुतलंकार ग्रहण करने पर यह संख्या 64 हो जाती है।

स्वर -

उत्तरदाताश्चानुदात्तश्च स्वरितस्वरास्द्रम:।।[17]

उदात्त अनुदात्त स्वरित-ये तीन स्वर है, इनका स्वरूप इस प्रकार है।

उदात्त -

उच्चैरुदात्त: कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारित स्वर उदात्त होता है।

अनुदात्त-

नीचैरनुदात्त: (पाणिनीय शिक्षा) 1/2/30

कण्ठ तालु आदि सखण्ड स्थानों के निम्न भाग से उच्चारित स्वर की अनुदात्व कहते है।

स्वरित -

समाहार: स्वरित: (पाणिनीय शिक्षा) 1/2/3

उदात्तत्व और अनुदात्त दोनों धर्मों के मेल जिस स्वर में होता है। वह स्वरित कहलाता है। इसी प्रकार वेद में स्वर तीन है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित वेद पाठ सस्वर होना चाहिए। क्योंकि वेदों में स्वर परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन हो जाता है।[18] अपशिला सूत्र में उदात्ति स्वरों के लक्षण इस प्रकार बताये गये है।[19]

उदात्त -

जब सर्वांङ्गानुसारी तीव्र प्रयत्न हो शरीर का निग्रह हो, कण्ठ-विवर थोड़ा खुला रहे तथा वायु की तीव्रगति के कारण स्वर की रूक्षता, हो, तो स्वर उदात्त होता है।

अनुदात्त -

जब मन्द प्रयत्न हो शरीर का संसन (शैथिल्य) हो कण्ठ-विवर अधिक खुले और वायु की मन्दगति के कारण स्वर की स्निग्धता हो तब अनुदात्त स्वर होता है।

स्वरित-

उदात्त और अनुदात्त स्वरों के सन्निपात से स्वरित स्वर होता है।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरात्रय:।
आयाम विश्रम्भा क्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रया:।।[20]

नाट्यशास्त्र में उदात्त, अनुदात्त स्वरित तथा कम्पित ये चार स्वर माने गये है। नाट्य शास्त्रे कम्पितेन सहचत्वार: स्व: उक्ता:[21]।

मात्रा - *ह्रस्व दीर्घ: प्लुत इति कालतो नियमा अचि।*[22]

ह्रस्व भी मात्रा दीर्घ की 2 मात्रा और प्लुत की 3 मात्रा होती है। स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय को मात्रा कहते है। ये तीन मात्राएं काल के नियम के अनुसूत्र अच (स्वर वर्णों) में होती है।[23]

ह्रस्व - ह्रस्व शब्द हस् धातु से निष्पन्न है। यह धातु, न्यूनार्थक है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय में निरुक्त में कहा गया है।

ह्रस्वो हस्वते:।[24]

व्याकरण शास्त्र में अ इ उ ऋ और ल को ह्रस्व कहते है।

दीर्घ - दीर्घ शब्द आयामार्थक द्वाघ धातु से निष्पन्न है।

दीर्घ द्राघते:।[25]

इसके दीर्घ होने का मुख्य कारण उसका विस्तार होता है। इसमें अप प्रत्यय (पा. 3/3/57) लगकर दाघृ धातु से द्राघ आदेश होता है। आ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, के दीर्घ कहे जाने का यही कारण है।

प्लुत – यह शब्द गति करना अथवा लम्बा करना अर्थ वाली प्लुत धातु से निष्पन्न है।

तै0 प्रा0 में इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वाण की तरह दूरगामी होने के कारण यह प्लुत है।

ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार–*तिम्र: प्लुत उच्यते।*[26]

बल –बल का तात्पर्य है वर्गों में उच्चारण स्थान और प्रयत्न।

बलं स्थान प्रयत्नौ[27] स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्णों का उच्चारण किया जाता है। *स्थान अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्।* [28] वर्णों के आठ उच्चारण स्थान हैं। *प्रयत्न आभ्यन्तरो बाह्यश्च।* प्रयत्न मुख्यत: दो प्रकार के होते है। आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न।

आभ्यान्तर प्रयत्न –

आभ्यान्तर प्रयत्न में 'अच्' के प्रयत्न अस्पृष्ट होते है और 'यण' प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होते है। अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्।[29]

बाह्य प्रयत्न – बाह्य प्रयत्न एकादश होते है। श्वास, नाद, घोष, अघोष, विववार, संवाद, अल्प्राण, महाप्राण उदात्त अनुदात्त और स्वरित।

ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि बाह्य प्रयत्न के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले श्वास और नाद को अनुप्रदान कहा जाता है। पाणिनीय शिक्षा के अनुप्रदान के चार उपविभाग हैं–

1– श्वास , 2– नाद, 3– घोष, 4– अघोष

श्वास – ऋक्प्रातिशाख्य में श्वास के विषय में कहा गया है कि वक्ता जब बोलने की चेष्टा करता है। तो फेफड़े से निष्कासित वायु कण्ठ के छिद्र से खुले या बन्द होने के अनुसार श्वास में परिवर्तित हो जाती है।[30]

नाद– नाद के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य में कहा गया है कि वक्ता के द्वारा बोलने की चेष्टा किये जाने पर वायु कण्ठ छिद्र में संकुचित हो जाने पर नाद रूप में परिवर्तित हो जाती है।[31]

नाद शब्द की व्युत्पत्ति नद धातु से हुई है।

घोष और अघोष –

ऋग्वेद प्रातिशाख्य में घोष के लिए सघोष शब्द का संयोग किया है। इस विषय में स्व0 प्रो0वी0 के वर्मा का कथन है–

अघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियां एक दूसरे से दूर रहती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप स्वर तन्त्रियों से प्रश्वास का घर्षण नहीं होता उसमें कम्पन्न नहीं होती।

साम:– श्रुति मधुर पाठ को साम कहते हैं। उच्चारण स्पष्ट और सस्वर होना चाहिए। किसी वर्ण को न तो बहुत धीरे और न ही अस्पष्ट रूप से बोलना चाहिए। उसे उचित और स्पष्ट रूप से बोलना चाहिए।

साम्य। आदि दुत: अतिविलम्बिता तथा गीति आदि दोषों से रहित और माधुर्य आदि गुणों से युक्त उच्चारण को साम कहते है।[32]

गीती शीघ्री शिर: कम्पी (पा.शिक्षा 32) एवं उपांशु द्रष्टं त्वरितं (पा.शि. 35) के द्वारा उच्चारण के दोषों को बताया गया है। इन दोषों से रहित उच्चारण करना चाहिए।

माधुर्यमक्षर व्यक्ति: (पाणिनी शिक्षा 33) इत्यादि द्वारा उच्चारण के गुणों को बताया गया है। इन गुणों से युक्त उच्चारण करना चाहिए।

संतान – संहिता पाठ अर्थात् पद पाठ में प्रयुक्त शब्दों में सन्धि नियमों का लगाना। सन्धि नियमों का ज्ञान और उनका यथा स्थान प्रयोग करना ही संतान है।

पाणिनीय शिक्षा में प्रतिपादित दो कारिकाओं में सन्तान स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। उनमें से एक में विसर्ग की आठ स्थितियों का वर्णन किया गया है तथा दूसरी में 'ओ' के सन्धि स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

पाणिनि शिक्षा में विसर्ग की आठ स्थितियों का वर्णन करते हुए कहा गया है–

अभावाश्च विवृतिश्च शषसा रेफ एवं च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरिष्टविधोष्मण:।।[33]

अर्थात् ऊष्म विसर्ग की गति आठ प्रकार की होती है। उसमें नौवी गति विसर्ग ही है। जो उसकी स्वरूप स्थिति होने के कारण गिनी नहीं जाती है।

शिक्षा के उपरोक्त छ: अंगों में से यदि किसी एक में भी दोष आ जाता है। तो वेद मंत्र का अनिष्ठकारी फल होना सर्वथा सम्भावित है।

प्रयोजन –

वेद के पाठों में उच्चारण के महत्त्व को स्वीकार करके ही शिक्षा वेदांग का अविर्भाव हुआ है। शिक्षा ग्रन्थों में भी वेद पाठ के उच्चारण की शुद्धता के महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

मंत्रहीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वजो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रु: स्वरतोऽपरधात्।।[34]

यथा– जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है। वह मिथ्या

प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ठ अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है। वह तो वागवज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है। जिस प्रकार स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु शब्द यजमान का ही विनाशक बन गया।

यथा–इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व[35] इस मन्त्र में स्वर के अशुद्ध उच्चारण के अपराध, से इन्द्रशत्रु (वृत्त) मारा गया। 'इन्द्रशत्रु' पद का उच्चारण अन्तोदात्त करना चाहिए था। किन्तु ऋत्विजो ने त्रुटिवश आद्युदात्त उच्चारण कर दिया। ऐसा न हो अत: शिक्षा वेदांग का अध्ययन अवश्य करना चाहिए इसलिए शिक्षा वेदांग को वेद पुरूष का घ्राण कहा गया है–

'शिक्षा घ्राण तु वेदस्य'[36]

निष्कर्ष –

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है। कि छ: वेदांगों में से प्रथम वेदांग शिक्षा है। शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कारण यह है कि इसको वेद रूपी पुरूष की नासिका कहा गया है। जिस प्रकार किसी प्राणी के सभी अंग पुष्ट व सुन्दर होने पर भी नासिका (नाक) के बिना उसका शरीर नितान्त गर्हणीय व अशोभनीय होता है। अथवा नाकटा कहा जाता है उसी प्रकार से विरहित होने पर वेद पुरूष का स्वरूप असुन्दर व वीभत्स दिखाई देता है। शिक्षा वह है जो स्वर वर्ण आदि के उच्चारण के प्रकार की शिक्षा देती है।

संदर्भ सूची –

1. सामणाचार्यकृता ऋग्वेद भाष्य भूमिका पेज 52
2. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास पेज 84
3. मुण्डकोनिषद 1–1–5
4. पाणिनीय शिक्षा 12
5. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास पेज नं0 85
6. वहीं
7. पाणिनीय शिक्षा 41–42
8. भाषा विज्ञान (डॉ. कवि सिंह) पृ0 265
9. सायणचार्यकृता ऋग्वेदं भाष्य भूमिका पृ0 52
10. एम0विटनिट्ज प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी रूपान्तर) प्रथम खण्ड पृ.–220–221
11. ऋग्वेद 1/1/2
12. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास पृ0 86
13. वही
14. वही
15. तैत्तिरीय उपनिषद 1/1
16. पाणिनीय शिक्षा–3
17. पाणिनीय शिक्षा– 11
18. पाणिनीय शिक्षा 1/2/29
19. आ0शि0सू0 8/20–22
20. ऋक्0प्रा0 3/84
21. नाट्यशास्त्र 17/108
22. पा0शि0 11
23. सायणाचार्य कृता ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ0 33
24. निरुक्त 3/3
25. निरुक्त 2/5
26. ऋग्वेद प्रातिशाख्य
27. सायणाचार्य कृता ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ0 53
28. पाणिनीय शिक्षा–13
29. वही पृ0 38
30. ऋक्प्रातिशाख्य 13/1
31. वहीं
32. सायणाचार्य कृता ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ0 54
33. पाणिनीय शिक्षा 14
34. वहीं पृ0 52
35. तै0सं0 2/4/12/1
36. पाणिनीय शिक्षा 42

ISSN 2278 - 0327

'णंदिणंद सुत्तं' के आधार पर सज्जन का कृत्याकृत्य विवेचन

सचिन कुमार जैन
शोध छात्र
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर
भोपाल, मध्यप्रदेश

प्राकृतभाषा हमारी आन-बान और शान है। प्राचीन भारतीय भाषाओं में प्राकृत भाषा अनेक शताब्दियों तक भारतीय जनमानस की प्रमुख जनभाषा रही है। सम्पूर्ण भारतीय भाषायें इनका साहित्य, इतिहास, संस्कृति, परंपरायें , लोक-जीवन और जन-गण-मन इससे प्रभावित एवं ओत-प्रोत है। यही कारण है कि प्राकृत भाषा को अनेक भारतीय भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। विशाल प्राचीन प्राकृत साहित्य को देखकर लगता है कि उस समय बोलचाल की लोक भाषा के रूप में प्राकृत जैसी कोई जन भाषा निश्चित ही प्रचलन में रही होगी। इसी जन-भाषा को अपने उपदेशों और धर्म प्रचार का माध्यम बनाकर तीर्थंकर महावीर और भगवान् बुद्ध भाषायी क्रांति के पुरोधा कहलाये।

किन्तु आश्चर्य है कि जो प्राकृत भाषा स्वयं अनेक वर्तमान भाषाओं की जननी है और लंबे काल तक जनभाषा के रूप में राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही तथा जिसका विशाल वाङ्मय विद्यमान है, राष्ट्र की वह बहुमूल्य धरोहर प्राकृत भाषा आज इतनी उपेक्षित क्यों है कि इसे आज अपनी अस्मिता एवं पहचान बनाने और मूलधारा से जुड़ने हेतु संघर्ष करना पड़ रहा है? आज जरूरत है उसके संरक्षण और संवर्द्धन की।

प्राकृत में ग्रंथों का प्रणयन जैनाचार्यों की परंपरा रही है। आज सुखद है कि हमारे पूज्य मुनिराजों द्वारा प्राकृतभाषा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए प्राकृतभाषा में ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। उसी क्रम में परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी महाराज ने 'णंदिणंद सुत्तं' प्राकृत भाषा में लिखकर बहुत बड़ा उपकार किया है। इस कृति का प्रणयन कर आपने प्राकृतवाङ्मय की श्रीवृद्धि में महनीय योगदान किया है।

नीति परक साहित्य का हमारे जीवन में बड़ा ही महत्व होता है। नीति सूत्र हमारे देश, समाज को सदैव मार्गदर्शक, प्रेरणादायी सिद्ध हुए हैं। परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदि जी महाराज ने इस ग्रंथ में मानवीय जीवन स्तर को ऊंची उठाने वाली नीतियों का बड़ा ही सरस, सरल और सुंदर विवेचन किया है, जो सभी के लिए हृदयग्राही, अनुकरणीय है। आचार्यश्री ने इस अनुपम कृति में नीतिपरक संदेशों को *'गागर में सागर'* जैसा भर दिया है। इस नीतिशास्त्र को जो भी अध्ययन कर हृदय में धारण करने का प्रयास करेगा उसके जीवन को विशुद्ध बनाकर मोक्ष पाथेय का कार्य करेगा।

आचार्यश्री ने प्रस्तुत नीतिपरक अपनी कृति में सज्जन का कृत्याकृत्य का विवेचन बड़े ही सुंदर ढंग से किया है। प्रत्येक नीति काव्य की प्रत्येक लाइन एक-एक लाख रूपये की कीमत से भी ज्यादा मूल्यवान है।

सज्जन की परिभाषा: - जो चित्त को आह्लादित करने वाले, व्यसनरहित, शोक तथा संताप को हरने वाले, बुद्धि को उत्पन्न करने वाले, कर्णप्रिय, न्यायमार्ग का अनुसरण करने वाले, हितकारी, निर्मल, सार्थक, निर्बाध और निर्दोष वचन बोलता है, विद्वज्जन उसे सज्जन कहते हैं।[1]

जो किसी पर आक्षेप कर कथा नहीं करता, ईर्ष्या नहीं करता, अपनी स्तुति नहीं करता, दूसरे का उपहास नहीं करता, शांति को स्थिर रखता है, प्रीति से पीछे नहीं हटता तथा मदरहित होता है, वे पुरुष ही सत्पुरुषों के द्वारा सज्जन कहे गए हैं।[2]

सज्जन व्यक्ति वह होता है जो हंस की तरह से गुणग्राहक हो और दुर्जन वह होता है जो जौं की तरह से पय त्याग कर रक्तपान करता है अर्थात् अच्छाई को छोड़कर बुराई ग्रहण करता है। सज्जनों द्वारा किया गया कार्य लोगों को सुख प्रदान करने वाला होता है। कहा भी है-

यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः।
सौजन्य तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा।।

जिसके समस्त कार्यों से सब लोग हर्षित होते हैं उसका वही सौजन्य जानना चाहिए। इससे अन्यथा दौर्जन्य जानना चाहिए।

नीतिसंग्रह में भी कहा है कि-

'सज्जन लोग नारियल के समान होते बाहर से कठोर तथा रूक्ष और भीतर से कोमल तथा मधुर होते हैं, किन्तु दुर्जन लोग बेर के फल के समान बाहर से ही स्निग्ध और भीतर से कठोर हुआ करते हैं।'[3]

सज्जन (विवेकी) व्यक्ति के कर्त्तव्यः- विवेकी (सज्जन) व्यक्ति के कर्तव्य बताते हुए आचार्यश्री ने गाथा नं. 33 में बड़ा ही प्रेरणादायी विवेचन किया है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्रहण करने योग्य है-

अत्थं णासं मणो तावं कयाचारं गिहे गदं।
कवडेणं अधम्मेणं विण्णाणी णेव भासदे।।33।।[4]

अर्थात् धन के नाश को, मन के संताप को, घर में घुसे कदाचार को, कपट से अधर्म से सिद्ध किये कार्य को, विज्ञानी (विवेकी) पुरुष सबके सामने प्रकट नहीं करते।

आचार्यश्री उक्त नीति काव्य के माध्यम से संदेश दे रहे हैं कि-सज्जन पुरुष सरल हृदयी, हित-मित-प्रिय भाषी एवं सहज स्वभावी होते हैं। वे अनावश्यक रूप से किसी से कोई बात नहीं करते। कभी किसी की चुगली निंदा और बुराई नहीं करते। अपने हृदय में किसी के प्रति बैर की गांठ बांधकर कषाय का भाव नहीं रखते। किसी को भी शुभ प्रेरणा देने के लिए हितकारी शिक्षा देने का प्रयास तो करते हैं किन्तु अहितकारक, अनर्थकारक या कष्टकारक वार्ता नहीं करते।

विवेकी (सज्जन) व्यक्ति को अपने अंतरंग के गूढ़ रहस्य सभी को नहीं बताना चाहिए। धन नाश के संबंध में किसका धन किस प्रकार से नष्ट हुआ व्यापार में या अग्नि से या चोर के द्वारा राजा के द्वारा अपहरण करने से, विवेकी व्यक्ति अपने धन नाश की कथा दूसरों को सुना करके अपना समय व्यर्थ नहीं गंवाते। सुविवेकी व्यक्ति अपने अंत: संताप को भी हर किसी को नहीं बता सकते, क्योंकि संसारी प्राणी किसी के मन: संताप को सुनकर के उसके दु:ख को बढ़ाने में निमित्त तो बन जाते हैं किन्तु उसके कष्ट को कम करने में सहायक नहीं बनते। सज्जन पुरुष अपने घर में हुई ऊँच-नीच बात को, कदाचार, कपट व्यवहार, अपमान और निंदाजनक हुई किसी भी बात को हर किसी को नहीं बताते तथा यदि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी के साथ छल-कपट किया है, धोखा दिया है या अधर्म का सहारा ले करके स्वार्थ सिद्ध किया हो या धर्म का लिबास पहनकर अधर्म का पोषण किया हो तो विवेकी व्यक्ति को ये सब बातें किसी के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए। ये बस बातें सिर्फ सच्चे मित्र के सामने ही कहीं जा सकती हैं और संसार में सच्चे मित्र बहुत कम मिलते हैं। सच्चा मित्र तो केवल सच्चा गुरु ही हो सकता है।

सज्जन, सबका हितैषी: - सज्जन पुरुष सबका हितैषी होता है, ऐसे पुरुष के सभी दु:ख नष्ट हो जाते हैं। आचार्यश्री ने इस संबंध में लिखा है -

सव्वस्स हिद-अट्ठत्थे, सयाकाले हि तत्परो।
विणस्संति दुहं तेसिं, सुह संति पगे-पगे।।[5]

अर्थात् सबका हित करने के लिये जो सदा काल निश्चिय संकल्प के साथ तत्पर रहता है उसके सभी दु:ख नष्ट हो जाते और उसे पढ़-पढ़ कर सुख शांति मिलती है।

आचार्यश्री उक्त नीति काव्य के माध्यम से हमें बता रहे हैं कि-अधम पुरुष वे कहलाते हैं जो दूसरों को कष्ट देने में निरंतर तत्पर रहते हैं। जो स्वयं को मात्र कष्ट देने में तत्पर रहते हैं उनको भी हम अच्छा व्यक्ति नहीं कह सकते। जो व्यक्ति दूसरे को न दु:ख देता है, न सुख दे पाता है वह सामान्य कहलाता है किन्तु सज्जन पुरुष वह होता है जो दूसरों का हित करने के लिए सदैव कृत संकल्पित और तत्पर रहता है। धर्मात्मा वह कहलाता है जो अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए अन्य भव्य जीवों का कल्याण करने में दक्ष है।

परोपकार तो सज्जनों की प्रवृत्ति होती है, कहा भी है-

पिबन्ति नद्य: स्वयमेव नाम्भ:, खादन्ति न स्वादुफलानि वृक्षा:।
अम्भोधरो वर्षति नात्मेतो:, परोपकाराय सतां विभूति:।।

नदियां स्वयं अपना पानी नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं अपने स्वादिष्ट फल नहीं खाते, मेघ अपने लिए नहीं बरसते। इसी प्रकार सज्जनों की विभूति परोपकार के लिए होती है।

सूर्य चन्द्रो घनो वृक्षो नदीधेनुश्च सज्जन:।
एते परोपकाराय विधात्रैव विनिर्मिता:।।

सूर्य, चंद्र, मेघ, वृक्ष, नदी, गाय और सज्जन ये परोपकार के लिए विधाता के द्वारा बनाये गये हैं।

नीतिसंग्रह में 38 वे श्लोक की इस उक्ति से हम सभी सुपरिचित हैं-*'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'*[6] अर्थात् जो लोग उदार चित्त वाले होते हैं उनके लिए सारा संसार ही परिवार है।

आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में भी कहा है-*'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'*, प्रत्येक जीव एक-दूसरे का उपकार करता है। जो व्यक्ति परहित में संलग्न है ऐसे व्यक्तियों को दु:खों से समन्वित मेघों का सामना नहीं करना पड़ता। अपितु उनके सभी दु:ख नष्ट हो जाते हैं और उन्हें कदम-कदम पर

अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है, सुख-शांति मिलती है, यश-कीर्ति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है।

दुष्ट व्यक्ति की संगति न करें: - आचार्यश्री लिखते हैं कि -

विसो दंति हु सप्पम्मि, मत्थम्मि मक्खियासु य।
मसगम्मि विंदंसे, सव्वंगे दुट्ठ-दंसदे।।[7]

अर्थात् सर्प के दांत में विष होता है मक्खियों के मस्तक में, मच्छर के दंस में विष है किन्तु दुष्ट के सर्व अंग में ही विष माना जाता है।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं एक शिष्ट और दूसरे दुष्ट। हमें शिष्ट व्यक्ति की संगत करना चाहिए, दुष्ट की संगति से बचना चाहिए। तुलसीदास जी ने लिखा है -

दुष्ट संग नहीं देय विधाता, या से भलो नरक का वासा।

अन्य कवि ने भी कहा है -

जो जैसी संगत गहे, तैसे हों परिणाम।
तीर गहे ताके मृगया, माला गहे प्रभु नाम।।

अर्थात् जो जैसी संगत करता है उसके परिणाम भी वैसे ही होते हैं। तीर कमान हाथ में लेकर शिकार करने के परिणाम एवं जप माला ग्रहण करते ही मंत्र जाप करने के परिणाम होते हैं। कहा भी है-

कदली सीप भुजंग मुख, स्वाती एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिये, वैसो ही फल दीन।।

दुष्टों की संगति से शिष्टता हासिल कर पाना दुर्लभ ही नहीं असंभव जैसा प्रतीत होता है इसीलिए सज्जन व्यक्ति यदि दुष्टता से बचना चाहते हैं तो उन्हें दुष्टों की संगति छोड़ देनी चाहिए।

कुसंगति छोड़ें: - आचार्यश्री लिखते हैं - *'कुसंगेण गुणं णट्ठे'*[8]- गुण कुसंगति में नष्ट होते हैं।

कहा भी गया है-

संगत से गुण ऊपजे, संगत से गुण जाये।
बांस खांड़ सुत मीसरी, एक ही भाव बिकाये।।

अर्थात् मिश्री की संगति करने वाली खांड, धागा व बांस की लकड़ी मिश्री के भाव में ही बिकती है। अथवा वस्तु को जिस थैली, पैकेट या डिब्बे में पैक किया जाता है वह भी उसी भाव बिक जाता है। हां आचार्यश्री संगति के संबंध में दिशा निर्देश देते हुए कह रहे हैं, अच्छी संगति से सद्गुणों का विकास और दोषों का विनाश होता है। संगति के संबंध में और भी कहा है-

नींबू मिर्ची आंवला, द्राक्षा लवण व आम।
जल जैसी संगत गहे, देता तस परिणाम।।

जब नींबू के साथ मिलता है तो खट्टा हो जाता है, मिर्ची के साथ चरपरा, आंवला के साथ कसायला हो जाता है अर्थात् जल जिस प्रकार की संगति करता है उसी प्रकार का हो जाता है। इसीलिए आचार्यश्री सज्जन को सत्संगति की प्रेरणा दे रहे हैं।

'श्री समाधि भक्ति' में कहा है-*'संगतिः सर्वदार्यैः'*, आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी भी हमेशा आर्य पुरुषों की संगति चाहते हैं। महानीतिकार चाणक्य ने भी लिखा है-*'सत्सगः! स्वर्गवासः'* अर्थात् सत्संग में स्वर्ग जैसा आनंद प्राप्त होता है।

कबीरदास जी ने लिखा है-

कबिरा संगत साधु की, जौ की भूसी खाय।
खीर खांड भोजन मिले, दुर्जन संग न जाय।।

सज्जन दुष्ट के साथ भी दुष्टता न करें: - आचार्यश्री ने लिखा है कि सज्जन पुरुष दुष्ट के साथ भी दुष्टता नहीं करता है। आज जब एक-दूसरे के प्रति दुर्भावना बढ़ रही है ऐसे में यह नीति काव्य अत्यधिक प्रासंगिक और प्रेरणादायी है।

आचार्यश्री लिखते हैं-

किदं पडिकदं कज्जं, हिंस पीडं ण हिंसगो।
सव्वेसिं हिद कादव्वं, दुट्ठो दुट्ठस्सणो हवे।।15।।[9]

अर्थात् सुकार्य के प्रति सुकार्य करना चाहिये, उपकार का बदला उपकार से चुकाना चाहिये, किंतु हिंसा के प्रति हिंसक नहीं बनना चाहिये, सबका ही हित करना चाहिये, दुष्ट के साथ दुष्ट नहीं होना चाहिये।

उक्त नीति काव्य के माध्यम से कृतिकार सज्जन पुरुष की विशेषता बता रहे हैं। संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने उपकारी का उपकार करते हैं और अपकारी का भी। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो उपकारी का उपकार करते हैं और अपकारी का अपकार। तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो उपकारी का भी अपकार करते हैं किंतु सज्जन पुरुषों की विशेषता होती है कि वे उपकारी और अपकारी में भेद न करते हुए प्राणी मात्र के उपकार में संलग्न रहते हैं।

कहा भी है -

जो तोकूं कांटा बोय, ताहि बोए तू फूल।
तोए फूल के फूल हैं, वा को होए त्रिशूल।।

जो तेरा बुरा करने वाला है उसका भी तू भला कर। क्योंकि बुरा करने वाले को उसका फल बुरा मिलता है और भलाई करने वाले को उसका फल भला। परन्तु उसने मेरे साथ बुरा किया है ऐसा सोचकर कभी भी उसका बुरा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि सज्जन भी दुर्जन बन जाएं तो दोनों में अंतर ही क्या रहेगा। जब व्यक्ति प्रतिकूलताओं में भी अपने गुणों को न त्यागे तब ही

वह वास्तव में महान् है, ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है। कहा भी है–

ज्येष्ठत्वं जन्मना नैव गुणैर्ज्येष्ठत्व-मुच्यते।
गुणाद् गुरूत्वमायाति दुग्धं दधि घृतं क्रमात्।।

ज्येष्ठत्व जन्म से नहीं होता, गुणों से कहा जाता है। गुणों से ही मनुष्य गौरव को प्राप्त होता है, जैसे दूध, दही और घृत क्रम से गौरव को प्राप्त हैं।

जो पुरुष अहर्निश दूसरों का उपकार करने में संलग्न हैं वे नियम से स्व और पर का कल्याण करने में समर्थ होते हैं।

अज्ञानी व्यक्ति के साथ वचनालाप का फल :-

'अज्ञानी व्यक्तियों के साथ वचनालाप करने से चार फल प्राप्त होते हैं–1. वचनव्यय, 2. मनो संताप, 3. लोकनिंदा, 4. ताड़ना।'[10]

ऐसे लोगों से हमें वचना चाहिए। श्रेष्ठ पुरुषों को सदैव सज्जन व्यक्तियों की संगति करना चाहिए। कहा भी है–

शीतांशु रश्मि-संपर्काद् विसर्पति यथाम्बुधिः।
तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञा पयोनिधिः।।

चंद्रकिरणों के संपर्क से जिस प्रकार समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार सदाचारी मनुष्यों की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञारूपी समुद्र बढ़ता है।

जिस प्रकार का (सज्जन या दुर्जन) व्यक्ति बनना चाहते हो उसी प्रकार के लोगों का अनुशरण करें, उसी प्रकार के लोगों के साथ वार्तालाप करें। अतः हमें सदैव सज्जनों, विद्वत्जनों की संगति करना चाहिए।

और भी कहा है–

अनुसर्तव्याः सुधियो यद्यपि कथयंति नैकमुपदेशम्।
यास्तासां स्वैर-कथास्ता एव भवंति शास्त्राणि।।

विद्वज्जनों का अनुसरण करना चाहिये, उनके साथ रहना चाहिये, यद्यपि वे उपदेश नहीं देते तथापि उनकी स्वतंत्र कथाएं ही शास्त्र बन जाती हैं।

दुर्जन के साथ तो खड़ा भी नहीं होना चाहिए, इस सम्बंध में कहा गया है कि–

न स्थातव्यं न वक्तव्यं क्षणमप्यसता सह।
पयोऽपि शौण्डिनी हस्ते वारूणीत्यभिधीयते।।

दुर्जन के साथ न खड़ा होना चाहिए और न बोलना चाहिए, क्योंकि कलारन के हाथ में स्थित दूध भी मदिरा है, ऐसा कहा जाता है।

ऐसे व्यक्तियों के स्वभाव का चिंतन कदाचित् हेय रूप में कर सकते हैं किन्तु उपादेय रूप में कभी नहीं, क्योंकि उपरोक्त प्रकार के व्यक्ति के साथ वार्तालाप करने से चार कुफल प्राप्त होते हैं।

सज्जन पुरुष राजहंस और दुर्जन पुरुष कौआ की तरहः -

आचार्यश्री ने सज्जन को 'राजहंस' बताया है तो दुष्ट को 'कौआ' की तरह बताया है। उन्होंने लिखा है कि -

काको आलावदे जत्थ, जत्थ दुट्ठाण आसदे।
तत्थ सुराय हंसस, कदावि भासिदं हि णो।।41।।[11]

अर्थात् जहां काक अपना आलाप अलाप रहा हो, जहां दुष्टों को समाश्रय दिया हो वहां राजहंस को कदापि नहीं बोलना चाहिए।

वड्ढमाण चरिउ में भी लिखा है कि -'मह मयवंतु अकज्जें ण जंपइ' अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति बिना प्रयोजन के नहीं बोलते।[12]

कविवर रहीमदास जी ने लिखा है -

पावस देख रहीम अब, कोयल साधी मौन।
अब दादुर वक्ता भए, हमको पूछे कौन।।

जहां सज्जन पुरुष अपना धर्मोपदेश कर रहे हों वहां दुर्जनों को अलाप करके धर्म का उपहास नहीं करना और कराना चाहिए तथा जहां पर जो लोग धर्म का उपहास कर रहे हों वहां पर धर्म का उपदेश असमर्थ होने पर नहीं देना चाहिए। जहां दुष्ट पुरुषों को आश्रय दिया जाता है वहां पर शिष्ट पुरुषों को नहीं ठहरना चाहिए। जहां पर दुष्टों का बोलबाला हो या साम्राज्य हो असमर्थ शिष्ट पुरुषों को वहां नहीं जाना चाहिए। क्योंकि दुष्ट पुरुषों की संगति अहितकारक है। कहा भी है -

स्पृष्टा-नामहिभिर्नश्येद् गात्रं खलजनेन तु।
वंशवैभव वैदुष्य-क्षान्ति-कीर्त्यादिकं क्षणात्।।

सर्पों के द्वारा डसे हुए मनुष्यों का शरीर ही नष्ट होता है परंतु दुर्जन के द्वारा संपृक्त मनुष्यों का वंश, वैभव, पांडित्य, क्षमा व कीर्ति आदि क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।

परम पूज्य आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी जी ने भी संयमी साधकों के विहार करने के लिए कुछ क्षेत्र वर्जित बताएं हैं। जो क्षेत्र आचार्य भगवंतों द्वारा वर्जित या निषिद्ध माने गए हैं उन क्षेत्रों में कोई साधक हठपूर्वक यदि विहार, निवास या प्रवास करता है तो वह अपने संयम में दोष लगाता है और कदाचित् संक्लेशता को प्राप्त करता हुआ संयम से च्युत भी हो जाता है।

क्योंकि कहा है–

अणु-रप्य-सतां संगः सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुणरूपान्तरं याति तक्रयोगाद् यथा पयः।।

दुर्जनों का थोड़ा भी संसर्ग विस्तृत सद्गुण को नष्ट कर देता है जैसे कि तक्र-छाछ के योग से दूध अन्य गुण और अन्य रूप

को प्राप्त हो जाता है।

राजहंस पक्षी वहां निवास नहीं करते जहां मेंढकों की गोष्ठियां होती हैं, बगुलों का साम्राज्य हो या जोंक अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति कर रही हों, कश्यप अपनी इंन्द्रियों को उच्छृंखल करते हुए दुरूपयोग करने में संलग्न है, काक पक्षी जहां उच्च स्वर में कर्कश वाणी में बोलता हुआ सबके चित्त को दुखी कर रहा हो। इसी तरह स्वाभिमानी, धर्मात्मा, शिष्ट, सदाचारी, सुसंस्कारी, विद्वानों को कदापि अनुचित स्थानों पर नहीं ठहरना चाहिए।

प्रिय वचन बोलना चाहिए: - सज्जन पुरुष को हमेशा प्रिय वचन ही बोलना चाहिए। आचार्यश्री ने इस संबंध में लिखा है कि-

प्रिय वयण वाएण, सव्वे तुट्ठे -जणा-जगे।
तम्हा तहेव वत्तत्वं वयणे किं दरिद्दगं।। 18 ।।[13]

अर्थात् प्रिय वचन बोलने से सभी भूत जीव समूह/प्राणी समूह संतुष्ठ होते हैं, इसलिये प्रिय वचन ही बोलना चाहिये, वचनों में क्या दरिद्रता ?

आचार्य कुलभद्र स्वामी ने भी कहा है-

प्रिय वाक्य प्रदानेन, सर्वे तुष्यंति जंतवः।
तस्मात् तदेव व्यक्तव्यं, वचने का दरिद्रता।।

और भी कहा है-

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोए।
औरन को शीत करे, आपहु शीतल होय।।

और भी कहा है कि -

कोयल काको देत है, कागो काको लेत।
मीठी वाणी बोलकर, जग अपनो कर लेत ।।

अत: सभी प्राणियों को शिष्ट-मिष्ट, प्रिय व हितकारी वच नही बोलना चाहिए।

सारभूत विद्या ग्रहण करना चाहिए:- 'सज्जन पुरुषों को आत्म कल्याण में सुसमर्थ सारभूत, स्व-पर हितकारी विद्या को अर्जित करना चाहिए। बुद्धि के प्रभाव को बढ़ाना चाहिए। ज्ञान को चेतना में प्रकट करके निरंतर सवंर्द्धित करते रहना चाहिए।' [14]

सज्जन के द्वारा करणीय कार्य: - आचार्यश्री लिखते हैं कि- 'मित्रों के साथ संगोष्ठी करना चाहिए, पुत्रों के साथ भोजन करना चाहिए, ज्ञान के साथ आत्मा, प्रत्येक कर्म को धर्म के साथ करना चाहिए।' [15]

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार ही मित्रों की खोज करता है, विषम स्वभाव वाले के साथ मित्रता को दीर्घकाल तक जीवित नहीं रखा जा सकता है। इस संबंध में रहीम दास जी ने भी लिखा है-

कह रहीम कैसे निभे, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाड़त अंग।।

दुष्ट पुरुषों के साथ न कभी मित्रता करनी चाहिए और न ही कभी विचार गोष्ठी। सज्जन पुरुष को चाहिए कि वह दिन में कम से कम एक बार का भोजन या यथासंभव सप्ताह में एक बार का भोजन अपने पुत्रों के साथ बैठकर करे। क्योंकि जो माता-पिता अपने पुत्रों के साथ बैठकर भोजन करते हैं उन बच्चों में कभी अभक्ष्य भक्षण के कुसंस्कार नहीं आते और उनके मन में अपने माता-पिता के प्रति सदैव त्याग समर्पण की भावना रहती है।

इस काव्य के माध्यम से आचार्यश्री चार बातों पर विशेष जोर देना चाहते हैं। प्रथम सच्चे मित्रों के साथ ही विचार-विमर्श, संवाद एवं हितोपदेश लेना-देना चाहिए। द्वितीय बात यह कहना चाहते हैं गृह-परिवार में सुख शांति के लिए व सुसंस्कारों का संवर्द्धन करने के लिए शिष्टाचार, सदाचार का पालन करने के लिए, सभ्यता संस्कृति के संरक्षण के लिए अपने घर में अपने पुत्रादि के साथ बैठकर शुद्ध शाकाहारी एवं सात्विक भोजन ही ग्रहण करना चाहिए। अन्य प्रकार का नहीं, अन्यत्र नहीं, अन्य के साथ नहीं। तृतीय बात ज्ञान पर जोर देते हुए स्वाध्याय की प्रेरणा दे रहे हैं, जो आत्मा को सदैव ज्ञान से भावित होती है वही आत्मा अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होती है, पूर्व भवों में सुचिरकाल से अर्जित पाप कर्मों को नष्ट करने में समर्थ होती है एवं अंतिम बात यही है धर्म को कभी भी नहीं भूलना चाहिए, क्योंकि धर्म का फल शाश्वत सुख एवं चेतना की शुद्ध व स्वाभाविक दशा की प्राप्ति है।

सज्जन (ज्ञानी) और दुर्जन (अज्ञानी) व्यक्ति द्वारा समय व्यतीत करने में अंतर: - आचार्यश्री लिखते हैं कि -'ज्ञानी पुरुषों का समय ज्ञान गोष्ठी, दया धर्म में व्यतीत होता है, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति अपना समय विषयों की आसक्ति में, निंदा में, निद्रा में तथा कलह में व्यतीत करता है।'

जैसा आचार्यश्री ने अपनी कृति में लिखा है, वैसा ही लगभग नीतिसंग्रह में हम सभी पढ़ते हैं-

काव्य शास्त्र विनोदेन कालो -गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।[17]

अर्थात् बुद्धिमान मनुष्यों का समय काव्यों और शास्त्रों के अध्ययन -अध्यापन द्वारा आनंद पूर्वक व्यतीत होता है किन्तु मूर्खों का समय नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में , निद्रा में या लड़ाई में व्यतीत होता है।

आचार्यश्री उक्त नीति काव्य के माध्यम से यह कह रहे हैं कि-सज्जन व्यक्ति अपना समय अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि व्रतों के पालन करने में, सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करने में, उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करने में, द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करने में, दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावना भाने में, पंच अणुव्रत, 3 गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों के पालन करने में, षडावश्यक कर्तव्यों का पालन करने में, सप्त तत्वों के चिंतन आदि में व्यतीत होता है।

अज्ञानी व्यक्तियों का समय पांच पापों में संलग्न रहने में, पंचेन्द्रिय के विषयों में संलग्न रहने में, प्रमाद में लीन रहने में, पांच प्रकार के मिथ्यात्व में प्रवृत्ति करने आदि में व्यतीत होता है। आप और हम सबको समीक्षा कर लेना चाहिए कि हमारी गिनती अच्छे व्यक्तियों में आती है या बुरे व्यक्तियों में। यदि हमारी गिनती बुरे व्यक्तियों में आती है तो हमें बुराई को छोड़कर के अच्छाई को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि अच्छे व्यक्तियों में हमारी गिनती आती है तो अपनी अच्छाईयों को स्थिर व वृद्धिंगत कर लेना चाहिए।

संसार में लोगों की अच्छाईयां देखो, गुणों को देखने का प्रयास करें।

उपसंहार:-

पूज्य आचार्यश्री ने प्राकृतभाषा में सूक्ति काव्य की रचना कर हमें एक अनमोल कृति से रूबरू कराया है। इसको पढ़ने से जो आनंद आता है वह वचनातीत है। उक्त कृति के सम्बंध में मेरा एक निवेदन है कि कृति में जो अन्य ग्रंथों के श्लोकादि शामिल किये गये हैं, उनका यदि संदर्भ भी दिया जाय तो बहुत ही अच्छा होगा।

प्राकृत काव्य के महत्व के बारे में 'वज्जालग' में लिखा है-

पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह य छेयभणिएहिं।
उययस्स य वासियसीलस्स तित्तिं न वच्चामो।।[18]

अर्थात् प्राकृत-काव्य, विदग्ध -भणिति (द्वयर्थक व्यंग्योक्ति) तथा सुवासित शीतल जल से जो आनंद उत्पन्न होता है, उससे हमें पूर्णतया तृप्ति नहीं होती है।

सन्दर्भ सूची -

1. चित्ताल्हादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि।
   प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्याय मार्गानुयायि।।
   तथ्यं पथ्यं व्यपगतमलं सार्थकं मुक्तबोधं।
   यो निर्दोष रवयति वचस्तं बुधा: सन्तमाहु:।।
   -णंदिणंद सुत्तं, पृष्ठ 121।
2. यो नाक्षिप्य प्रवदति कथां नाभ्यसूयां विधत्ते।
   न स्तौति स्वं हसति न परं वक्ति नान्यस्य मर्म।।
   हन्ति क्रोधं स्थिरयति शमं प्रीतितो न व्यपैति,
   सन्त: सन्तंव्यपगत मदं तं सदा वर्णयन्ति।।
   -णंदिणंद सुत्तं, पृष्ठ 127।
3. किंच नारिकेल समाकारा, दृश्यन्ते हि सुह्रज्जना:।
   अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहरा:।।
   -नीतिसंग्रह श्लोक 54, पृष्ठ 54।
4. णंदिणंद सुत्त, गाथा 33, पृष्ठ 126।
5. णंदिणंद सुत्तं, गाथा 05, पृष्ठ 25।
6. नीतिसंग्रह, श्लोक 38, पृष्ठ 45।
7. णंदिणंद सुत्तं, गाथा 12, पृष्ठ 53।
8. णंदिणंद सुत्तं, काव्य 54, पृष्ठ, 203।
9. णंदिणंद सुत्तं, गाथा 15, पृष्ठ 64।
10. अण्णाणीहिं सहालावा लहदि हि चदुप्फ्लं।
    वचो वओ मणोतावं लोयणिंदा वि ताडणं।।40।।
    -णांदिणंद सुत्त, पृष्ठ 147।
11. णंदिणंद सुत्तं, गाथा सूत्र 41, पृष्ठ 151।
12. वड्ढमाण चरिउ, 4.10.4।
13. णंदिणंद सुत्त, पृष्ठ 74।
14. णंदिणंद सुत्तं, गाथा 42, भावार्थ, पृष्ठ 155।
15. मित्तेहिं सह संगोट्ठी, पुत्तेहिं सह भोयणं।
    णाणेण सहिया अप्पा, कम्मं हु धम्मेण सह।।66।।
    -णंदिणंद सुत्तं, पृष्ठ 236।
16. णाण-गोट्ठी दया धम्मे णाणीण समयो गए।
    अण्णे तु विसयासत्तो, णिंदाए कलहेण वा।।55।।
    -णंदिणंद सुत्तं, पृष्ठ 206।
17. नीतसंग्रह, श्लोक, मित्रलाभ, 01, पृष्ठ 17।
18. प्राकृतभाषा विमर्श, पृष्ठ 135।

ISSN 2278 - 0327

भारत में पंचायतीराज व्यवस्था का उद्भव एवं विकास : एक अध्ययन

मोनिका भाटी
शोधार्थी, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाड़नूँ (राज.)

भूमिका :-

हमारे देश को आजादी मिलने के बाद मुख्यत: लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की जो भावना थी, उसी लोकतंत्र की भावना को साकार करने के उदेश्य को ध्यान में रखते हुए इस पंचायतीराज व्यवस्था को अपनाया गया। इस पंचायतीराज व्यवस्था की जड़े पहले से ही हमारे भारतीय इतिहास में मौजूद थी। भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करें तो हम पाएंगे कि वैदिक समय में भी इन पंचायतीराज संस्थाओं का अस्तित्व विराजमान था। उस समय में राजा जो था, वो इन्ही पंचायतों के माध्यम से अपना शासन संचालित करता था। इसके अतिरिक्त बौद्धकालीन समय में भी ग्राम परिषदें होने का वर्णन प्राप्त होता हैं। इन पंचायतों का स्मृति ग्रन्थों में भी उल्लेख मिलता हैं। इस तरह यह पंचायतीराज संस्थाएँ वैदिक और बौद्ध काल में भी ग्रामीण जनता की भलाई के कार्यों में भी अपनी प्रभावी भूमिका निभाती थीं। इस पंचायतीराज व्यवस्था से अभिप्राय 'उस शासन व्यवस्था से है जो मुख्यत: ग्रामीण स्तर पर संचालित की जाती हैं। इस पंचायतीराज व्यवस्था को हम 'स्थानीय स्वशासन' कहकर भी बुला सकते हैं।' इस शासन व्यवस्था के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में अत्यन्त सहायता मिली है। राज्य और केन्द्र सरकार के अधिनियम के द्वारा जिस स्थानीय स्वशासन को निर्मित किया जाता है, वह एक ऐसी शासकीय इकाई होती है जिसके अन्तर्गत जिला, नगर व ग्राम जैसे एक क्षेत्र की जनता के माध्यम से चयनित प्रतिनिधि होते हैं, जो अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं के अन्दर ही प्राप्त अधिकारों का उपयोग मुख्यत: जनता के कल्याण के लिए करते हैं। यह स्थानीय शासन व्यवस्था ही एक ऐसा तरीका हैं जिसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में किए जाने वाले विकास से सम्बंधित कार्यों की देख-रेख व आवश्यक सुविधाओं को उपलब्ध करवाया जा सकता है।

पंचायतीराज व्यवस्था का उद्भव एवं विकास : -

पंचायतीराज की जो अवधारणा है वो हमारे ग्रामीण भारत की जो परम्परा व संस्कृति है उस में रची-बसी है। ग्रामीण जो क्षेत्र हैं वहाँ आदिकाल से ही समस्याओं को पंच प्रणाली के माध्यम सें सुलझाया जा रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक बार कहाँ था 'यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वतंत्रता निचले स्तर से आरम्भ हो। इसलिए हर गांव को आत्मनिर्भर होना चाहिए और उसे अपना काम-काज स्वयं सम्भालने में समर्थ होना चाहिए।' महात्मा गांधी के ग्रामस्वराज के स्वप्न को संविधान के 73वें संशोधन के अर्न्तगत पंचायतीराज अधिनियम 1993 के द्वारा संवैधानिक मान्यता प्रदान कर मूर्त रूप दिया गया।

पंचायतीराज से अभिप्राय है- 'लोकतंत्र के सिद्धांतों के आधार पर विभिन्न स्तरों पर स्थानीय संस्थाओं का निर्माण करना व उनमें प्रशासनिक सत्ता का इस प्रकार से विभाजन करना कि जन साधारण को प्रत्येक स्तर पर उसकी अनुभूति हो सके एवं वह अपने उत्तरदायित्व को भी महसूस कर सके।'

बलवन्त राय मेहता के अनुसार-'लोकतन्त्र की परिकल्पना यह है कि केवल ऊपर से ही शासन नहीं चलाया जाये, बल्कि स्थानीय प्रतिभाओं का भी विकास किया जाये। यह तभी संभव है जबकि वे सक्रियता से सरकार के कार्यों में भाग ले सकें। इसे ही लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण या पंचायतीराज कहा जाता है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण लोगों की सहभागिता प्राप्त करने का एक सशक्त उपाय है। महात्मा गांधी के सिद्धांतों के आधार पर इस पंचायतीराज व्यवस्था की कल्पना की गई है। गांधी जी के सपनों को साकार करने की दिशा में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयास है। गांधी जी की सोच के अनुसार हमारा भारत देश एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ की 80 प्रतिशत जनता प्रमुख रूप से गांवों में निवास करती है, इसलिए उन्हें राजनीतिक सूत्र में बांधने व सत्ता

में भागीदार बनाने के उदेश्य सें इस पंचायतीराज व्यवस्था की स्थापना की गई ताकि इससे सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ स्थानीय स्तर की जो समस्याएँ हैं उन्हें भी स्थानीय जनता के माध्यम से हल किया जा सकें।

प्राचीनकाल में पंचायतीराज :- प्राचीन समय में ग्राम शासन की मुख्य धुरी माने जाते थे। वैदिक समय में जब नगरों का स्थान नगण्य था, उस समय ग्राम शासन का महत्व अत्यन्त था। प्रत्येक गाँव एक छोटे से प्रजातन्त्र की भांति था। गाँवों में पंचायतें ग्रामवासियों द्वारा संगठित होती थीं और साथ ही प्रशासकीय व न्याय से संबंधित कार्यों का भी सम्पादन करती थीं। राजा व प्रजा के बीच प्रत्यक्ष संबंध की चर्चा 'मनु-संहिता' में मिलती हैं एवं कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से इस बात का पता चलता है कि राज्य ग्रामीण जीवन में अत्यन्त कम हस्तक्षेप करता था। इनका उल्लेख रामायण एवं महाभारत काव्य में भी मिलता है। मौर्यकाल के समय की पंचायत राज व्यवस्था का वर्णन भी 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' में विस्तारित रूप से मिलता है। कौटिल्य के अनुसार '10 ग्रामों के मध्य' संग्रहरण '200 ग्रामों के मध्य' स्थानीय नामक स्थानों की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय से ही भारत के गाँवों में पंचायतीराज व्यवस्था संचालित होती थी और इस समय में भी जनता ने स्वायत्तता का उपभोग किया। महान मौर्य सम्राटों ने भी शासन के छोटे से छोटे मामलों में अत्यन्त कम हस्तक्षेप किया व ग्राम समुदायों कों उसी रूप में रहने दिया।

मध्यकाल में पंचायतीराज :- मध्यकाल में समस्त राज्य मुख्यत: प्रान्तों में बंटा हुआ था। 'प्रान्त' इस समय में शासन की सबसे विशाल एवं सर्वोच्च इकाई थी। आरम्भ में इसे 'इक्ता ' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था पर जब अलाउद्दीन का शासन काल आया तो इसे 'सूबा' कहाँ जाने लगा। प्रशासनिक दृष्टि से प्रान्तों को भी परगनों में विभाजित कर दिया था। परगनों को पुन: गाँवों में वर्गीकृत कर दिया था। इस समय गाँव ही राज्य की सबसे छोटी प्रशासकीय इकाई थी। 'सूबेदार' प्रान्त का प्रमुख अधिकारी होता था। इस समय में गाँवों की अपेक्षा नगरों पर अत्यन्त ध्यान केन्द्रित किया गया जिससे इन ग्रामीण संस्थाओं की शक्तियों में भी धीरे-धीरे गिरावट आनी आरम्भ हो गई। ये जो स्थानीय शासन व्यवस्था थी वो मुख्य रूप से उन्हीं ग्रामीण क्षेत्रों में आगे बढ़ पाया जिन ग्रामीण क्षेत्रों को हिन्दु राजाओं का सरंक्षण प्राप्त था। बाबर ने अपने समय में प्रशासनिक व्यवस्था को 'जागीरो' में विभाजित किया। अकबर के शासन काल में एकरूप प्रान्तों का निर्माण किया गया इन्होनें अपने साम्राज्य को बारह प्रमुख प्रान्तों में विभाजित किया। मौर्यकाल और गुप्तकाल की जो स्थानीय स्वशासी निकायें थी वो मध्यकाल में भी अत्यन्त क्रियाशील थी। इनके साम्राज्यों के उत्थान और पत्तन के बाद भी जो परम्परागत अधिकारी मुख्यत: मुखिया, लेखाकार, चौकीदार इस समय में भी अत्यधिक सक्रिय थे।

एस-वी-सामंत ने जटिल शासन काल में पंचायतों के न्यायिक पहलू पर विचार कर यह कहाँ है कि- गाँव की सभाएँ मुस्लिम शासकों के काल में राज्य की समर्थक थीं क्योंकि-'हम यह देखते हैं कि मुस्लिम शासकों के काल में, जब मुस्लिम हित अन्तर्व्याप्त रहते थे, शासकों के द्वारा पंचायतों के निर्णयों को लागू किया जाता था। यह एक ऐसा प्रमाण है जो यह सिद्ध करता है कि राज्य की शक्ति हमेशा गाँव की सभा में निहित रहती थी।'

ब्रिटिश काल में पंचायतीराज :- प्राचीन भारत में हमारे भारतीय ग्राम अत्यन्त स्वावलम्बी व आत्मनिर्भर थे। पंचायतों ने प्रेम व सद्भाव के वातावरण में काफी प्रगति प्राप्त कर ली थी परन्तु अंग्रेजी शासनकाल में इन पंचायतों की स्थिति अत्यन्त कमजोर हो गई। इस समय में इन स्थानीय संस्थाओं को तोड़ने के अत्यन्त सुनियोजित प्रयास किए गए। इस समय में प्रत्येक जाति और वर्ग की अलग पंचायत बन गई जो मुख्यत: उनके सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करती थी। बाद में 1907 में इन पंचायतों का महत्व अंग्रेजों ने समझा एवं 1920 में सभी प्रान्तों में ग्राम पंचायत अधिनियम निर्मित किए गए। इस अधिनियम के अधीन पंचायतों का गठन तो किया गया परन्तु उन्हें बहुत सीमित अधिकार प्रदान किए गए। प्रारम्भ में जो पंच चयनित होते थे वो जनता के द्वारा न चुने जाकर सरकार के द्वारा मनोनीत किए जाते थे। न्यायिक अधिकार तो केवल नाम मात्र को ही प्रदान किए गए थे। प्रान्तीय स्वायत्त शासन व्यवस्था का श्रीगणेश 1935 में भारत सरकार अधिनियम के लागू होने के बाद हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप हमारे देश में स्वतंत्रता की दिशा में एक अत्यन्त शक्तिशाली पहल हुई, इसका इन स्थानीय संस्थाओं पर सकारात्मक प्रभाव देखने को मिला। सन् 1935 में भारत शासन अधिनियम के अन्तर्गत सन् 1937 में लोकप्रिय मंत्रिमंडलों का निर्माण किया गया।

स्वतंत्र भारत में पंचायतीराज - 15 अगस्त 1947 को जब हमारा देश आजाद हो गया तो उसके बाद भारत में 26 जनवरी 1950 को हमारे नवनिर्मित संविधान में इस स्थानीय स्वशासन को मुख्यत: राज्यों की कार्यसूची के अर्न्तगत रखा गया। भारत के संविधान के अनुच्छेद 40 में यह प्रावधान किया गया था कि,

'राज्य ग्राम पंचायतों के गठन की दिशा में कदम उठाएगा तथा उन्हें ऐसी शक्तियाँ प्रदान करेगा जो उन्हें स्वतंत्र शासन इकाई बनाने में सहायक हो।' इसके साथ ही संविधान की 7वीं अनुसूची की प्रविष्टि 5 में ग्राम पंचायतों को शामिल करके इसके सम्बन्ध में कानून निर्मित करने का अधिकार राज्य को प्रदान कर दिया गया। 1993 में संविधान में 73वां संशोधन करके इस पंचायतीराज व्यवस्था को संवैधानिक मान्यता दी गई है और संविधान में भाग 9 को पुन: जोड़कर तथा इस भाग में 16 नवीन अनुच्छेदों (243 से 243-ण तक) एवं संविधान में 11वीं अनुसूची जोड़कर पंचायत के गठन, पंचायतों के सदस्यों के चुनाव, सदस्यों के लिए आरक्षण व पंचायत के कार्यों के सम्बंध में व्यापक प्रावधान में मुख्यत: 11वीं अनुसूची जोड़कर पंचायत के गठन, पंचायत के सदस्यों के चुनाव, सदस्यों के लिए आरक्षण व पंचायत के कार्यों के सम्बन्ध में भी अत्यन्त व्यापक प्रावधान किए गए।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम :- आजादी प्राप्त होने के बाद लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र में सबसे पहले प्रयास यह किया गया कि 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' का शुभारम्भ था। यह कार्यक्रम 2 अक्टूबर, 1952 को प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य प्रयोजन अधिक से अधिक जनता का कल्याण करना था। इस कार्यक्रम के प्रशासन की जिम्मेदारी नियमित नौकरशाही को प्रदान की गई। इसमें जनता की सहभागिता का अभाव रहा। जिससें यह कार्यक्रम पूर्णत: असफल रहा है।

पंचायतीराज व्यवस्था की प्रमुख सहायक समितियाँ :-

बलवन्तराय मेहता समिति (1957) :- सामुदायिक विकास कार्यक्रम के असफल होने के बाद 1957 में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति का अध्यक्ष बलवन्तराय मेहता को नियुक्त किया गया। दिसम्बर, 1957 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में इस सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता की वजह मुख्यत: लोकप्रिय नेतृत्व की कमी को माना। इस समिति के अनुसार गाँवों में लोकतंत्र की स्थापना के लिए सच्चे अर्थों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। इसके लिए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण पर आधारित त्रि-स्तरीय पंचायतीराज को स्थापित करने की इच्छा रखी।

अशोक मेहता समिति (1977) :- अशोक मेहता की अध्यक्षता में दिसम्बर 1977 में इस समिति का गठन किया गया। इस समिति ने इस पंचायतीराज व्यवस्था को द्वि-स्तरीय पद्धति बनाने पर जोर दिया। विकेन्द्रीकरण का पहला बिन्दु राज्य स्तर से नीचे जिला हैं एवं जिला परिषद् के नीचे एक 'मण्डल पंचायत' बनाने का सुझाव प्रस्तुत किया। साथ ही इन पंचायतीराज संस्थाओं को कर लगााने के आवश्यक अधिकार प्रदान करने पर भी बल दिया।

जी.वी.के. राव समिति (1985) :- जी.वी.के. राव समिति ने योजना आयोग से अनुमति लेकर एक रिपोर्ट तैयार की इस समिति ने प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की एक साहसी योजना की सिफारिश की। इस योजना में जिला स्तर का निकाय केन्द्रीय महत्व पर किया गया। इस समिति के अनुसार इन पंचायतीराज संस्थाओं को सक्रिय बनाया जाएँ एवं इन्हें सभी आवश्यक सहायता प्रदान भी की जाएँ। जिससे वे जन समस्याओं के निराकरण की प्रभावी संस्थाएँ बन सकें।

एल. एम. सिंघवी समिति (1986):- इस समिति ने इस पंचायतीराज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने की मांग रखी। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि भारत के संविधान में हमारे देश के संविधान में एक अलग अध्याय पंचायत राज संस्थाओं को तार्किक एंव आधारगत रूप में अनतिक्रमणीय बनाया जा सके। इसके अतिरिक्त समिति ने न्याय पंचायत की स्थापना के लिए भी सलाह दी।

भारत में पंचायतीराज व्यवस्था प्राचीन समय से लेकर आधुनिक समय तक किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास से सम्बंधित कार्यों को पंचायतीराज संस्थाएँ ही सम्भालती थी और वर्तमान समय में भी संम्भाल रही हैं। यह पंचायतीराज व्यवस्था देश को सुदृढ़ता प्रदान करती है और इसके अतिरिक्त ये संस्थाएँ न्यायिक प्रणाली पर आधारित होती हैं। 73वें संविधान संशोधन के द्वारा इन पंचायतीराज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1 यादव, धर्मेन्द्र सिंह, पंचायतीराज एवं ग्रामीण विकास, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2006

2 उकानी, चन्द्रिका, पंचायती राज व्यवस्था एवं ग्राम विकास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

3 मांडोत, मिश्रीलाल, पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास, श्रीमती शशि जैन पोईन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, प्रथम सं., 2014

4 यादव, रामजी, भारत में ग्रामीण विकास, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005

5 सिंह, रतन, ग्रामीण समाजशास्त्र, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009

6 गांधी, एम.के., हरिजन, साबरमती आश्रम प्रकाशन, 1946

ISSN 2278 - 0327

हरिशंकर 'आदेश' के काव्य में राष्ट्र-प्रेम

ओमवीर
(शोधार्थी), हिन्दी-विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक (हरियाणा)

'राष्ट्र' शब्द सर्वधातुभ्य शब्द, इस उणादि प्रत्यय के योग से राष्ट्र शब्दे अथवा 'राज्य शोभने' धातु से निर्मित हुआ है। 'राष्ट्र शब्द का देश, राज्य मण्डल, प्रान्त, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक, आत्मीयता से पूर्ण जनसमुदाय, अनेक लोग, राज, कारोबार आदि अनेक रूपों में प्रयोग प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में राष्ट्र शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा गया है -

इहैबेधि मापच्योष्ठा पर्वत इवाविचाचलि।
इन्द्रा इवेह ध्रुवस्तिष्ठह राष्ट्रमधुधारय।।

अर्थात् - प्रजा राजा से पर्वत की भाँति अचंचल होकर राज करने तथा इन्द्र समाजन निश्चल होकर राष्ट्र की रक्षा करने की कामना करती है।

यजुर्वेद में 'राष्ट्र' में देहि और राष्ट्र दा राष्ट्रभ्ये दत्त का कथन करके 'र' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है।

व्यक्ति अपने राष्ट्र के लिए बलिदानी बनता है। 'वस्तुत: राष्ट्रीयता का सम्बन्ध बाह्य शरीर अथवा जड़भूमि भाग से न होकर आन्तरिक होता है। अपने देश के अगाध प्रेम में, अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म के प्रति गौरव में, अपने देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक दशाओं में सुधार के प्रयत्न आदि में यह राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित होती है। राष्ट्रीयता का कार्य व्यापक समाज में चलता है, जिसकी अपेक्षा अथवा महत्ता अमान्य नहीं की जा सकती।

आज की दुनिया विशेषकर बीसवीं शताब्दी में दो शक्तियों राजनीति और विज्ञान का जबरदस्त दबाव है कि कोई इनसे ऊबर नहीं सकता है। साहित्य तो युग और जीवन की अभिव्यक्ति होता है। इसीलिए साहित्य को राजनीति निरपेक्ष कहना उसको साहित्य न मानने के समान है। इसी परिप्रेक्ष्य पर विचार-विमर्श करते हुए राजेन्द्र प्रसाद तिवारी जी लिखते हैं- जब जब कवियों या लेखकों ने आमजन की जिन्दगी को बेहतर एवं सुखद बनाने की कोशिश की है, तब तब साहित्य में राजनीतिक सवाल उठे हैं और उनका अपनी तरह से जवाब भी ढूंढा गया है। भक्त कवि तुलसीदास ने भी जब आम जनता की चिंता की तो उनको भी समय की सीमा में समाज के राजनीतिक स्वरूप की परिकल्पना करनी पड़ी, जिसे उन्होंने 'राम राज्य' कहा।

राजनीति और राष्ट्रीयता परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। राजनीति एक व्यापक शब्द है जो राज्य, राजा, प्रजा एवं शासकों से सम्बन्धित नियमों, सिद्धान्तों और तात्कालिक आवश्यकताओं के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण एवं प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। इस तरह प्रत्येक जागरुक व्यक्ति में अपने देश और शासन के सम्बन्ध में राजनीति चेतना अवश्य वर्तमान रहती है। जिस व्यक्ति में यह चेतना नहीं होती वह या तो पशुओं के समान मूढ़ होता है अथवा निराशा की भावना से ग्रस्त होकर राज्य और शासन के प्रति उदासीन हो जाता है।

राजनीति चेतना किस देश अथवा राज्य विशेष के मानव समाज की सुख-सुविधाओं की चिन्ता का ही पर्याय है। किसी देश के प्रत्येक नागरिक का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपने देश की शासन-पद्धति, सामाजिक और आर्थिक उन्नति आदि के विषय में सोच-विचार करे और तत्कालीन समस्याओं के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करे। जो व्यक्ति इस दिशा में अधक सक्रिय रूप से चिन्तन-मनन एवं मत प्रकाशन करता है, उन्हें राजनीतिक कहा जाता है और जो व्यावहारिक रूप से राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में आन्दोलनात्मक मार्ग अपनाते हैं उन्हें नेता कहा जाता है।

राजनीति के मूल में राष्ट्रीयता की भावना ही निहित है। जो भी राजनीति के क्षेत्र में अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है अथवा सक्रिय भाग लेता है।

वर्तमान समय में धर्म तथा धार्मिक संस्थाएँ, रूढ़ियों, अनाचारों, स्वार्थों एवं अन्धविश्वासों का केन्द्र बने हुए हैं। जिसके कारण अलग-अलग सम्प्रदाय के पृथक्-पृथक् हित आपस में टकराते

हैं और संघर्ष होता है। धर्म के तथाकथित ठेकेदार धर्म की आड़ में साम्प्रदायिकता का विष फैलाते हैं और अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं। साम्प्रदायिकता की यह भावना देश की एकता एवं प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है। कविवर 'आदेश' ने राष्ट्रीय एकता के लिए साम्प्रदायिक विष को कम करने का प्रयास अपने काव्य के माध्यम से किया है। कवि ने गौरवमयी अतीत को सामने लाकर एकता के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला हैं कवि ईर्ष्या-द्वेष, अपने-परायेपन की दीवार को तोड़ने लिए हमें अतीत के संदर्भों से प्रेरित करते हैं -

''सतयुग में
दुष्यन्त नरपति ने
शकुन्तला अपनायी।
हरिश्चन्द्र ने
नीच डोम के
घर रोटी खायी।''

कवि भारतीय राष्ट्रीय प्रेम के महाकवि हैं। उनका मन-कमल भारतीय राष्ट्रीयता रूपी भगवान् भास्कर की आभा से खिल उठता है -

भारत माँ के पूत हम
सच्चे संस्कृति दूत हम
भारतीय भाव से
सदैव अविर्भूत हम।

समन्वयवादी कवि की दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नरेश मिश्र जी लिखत हैं -

''कवि विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय और मत मतान्तरों को मानवता के सूत्र में एकाकार करना चाहता है। वह विधाता की मनमोहिनी सृष्टि में सौहार्द और स्नेहिल परिवेश की कामना से आपसी मतभेद दूर करने के लिए तत्पर दिखाई देता है।''

प्रो. आदर्श ने वेद को विश्व की प्राचीनतम धरोहर मानकर घोषणा की है कि सृष्टि का रचयिता एक ही है। उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है -

''अंग्रेजी में गॉड हैं, हिन्दी में भगवान।
अरबी-उर्दू फारसी, खुद कहे विद्वान।''

कवि सम्पूर्ण विश्व में भारत को एक महाशक्ति के रूप में देखना चाहता है। इसलिए वह भारत गौरव-गरिमा के लिए बिखरी भक्ति को जोड़ने का आह्वान करता है-

''गिरने दो न विश्व में भारत माँ की अनुपम छवि को,
अस्त न होने दो भारत के गौरव-गरिमा रवि को,
तुम सक्षम हो, तुम सशक्त हो, तुम हर विधि समर्थ हा
दुख होता है देख-रेख दु:सहय प्रवासी कवि को,
बिखरी शक्ति को जोड़कर जग में महाशक्ति बन जाओ।''

कवि भारतवासियों की बहादुरी का वर्णन करते हुए कहता है कि राष्ट्रीय आघात की स्थिति में प्रत्येक भारतीय चाहे वह प्रवासी क्यों न हो? सीना तानकर देश की रक्षा करने के लिए तैयार रहता है -

''हो वासी या कि प्रवासी,
भारत की सब सन्तानें
संगीनों के आगे हम,
चलते हैं सीना ताने।
मंजुल वदनी! जय हो!''

राष्ट्र का विकास तब तक सम्भव नहीं जब तक संकीर्ण विचारधारा को त्याग कर राष्ट्रीय एकता को पल्लवित और पोषित करने वाली विचारधारा को न अपनाया जाए। महाकवि 'आदेश' ने इसीलिए अपने काव्य संसार में स्थान-स्थान पर देश की अखण्डता, एकता, शक्ति और गौरव गाथा के लिए राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्त्वों को रेखांकित किया है।

इन्हीं जननायकों का त्याग एवं बलिदान लेकर आया है। कवि इन्हीं महापुरुषों की पतित भूमि को याद करके अभिभूत हो गया है -

''धर्म-भूमि है कर्म भूमि है
राम-कृष्ण की पुण्य भूमि है।
दयानन्द गांधी नेहरू की
प्राणधिक प्रिय जन्म भूमि है।
यही वेद की बढ़ती सुरसरि,
तीनों ही जग तारनी।''

भारत को परतन्त्रता की बेड़ियों से आजान कराने के लिए महापुरुषों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी, भारत के भाग्यपटल को अंधेरे से उजालें में बदल दिया था, उन्हीं महापुरुषों के आदर्श नेतृत्व को कवि बार-बार नमन करता है। महर्षि दयानन्द को सामाजिक नेतृत्व को कवि बार-बार नमन करता है। महर्षि दयानन्द के सामाजिक नेतृत्व को याद करते हुए कवि कहता है -

''जब भारत के भाग्य पटल पर, घोर अंधेरी छाई थी
क्रूर विदेशी शासन से भारत जननी घबराई थी।
स्वतन्त्रता का नाम स्वप्न था, अत्याचारों की क्या बात
टंकारों में तभी सूर्य सम, चमका एक सुनहरा प्रांत।
आजादी की टेर लगा, खण्डन करके भ्रष्टाचार।

विष प्याला पी चला था, आजादी का पहला सरदार।
भारत माँ का अमर पुत्र ऋषि दयानन्द सा ज्ञानी।

देश-प्रेमी कवि ने अपने देश में सुख-समृद्धि का आदर्श 'राम राज्य' स्थापित करने के लिए उन जननायक महापुरुषों को बार-बार नमन किया है जिन्होंने व्यक्तिक प्रलोभनों, स्वार्थों को त्याग कर मानवीय कर्त्तव्यों का पालन किया है। कवि राजा दुष्यंत, राम, कृष्ण, गाँधी, दयानन्द, विवेकानन्द, जवाहर लाल नेहरू जैसे जन-नायक नेताओं, त्यागी, तपस्वी और दृढ़ संकल्प वाली छवि को भारत वर्ष के विकास की प्रेरक शक्ति माना है।

प्रेमपूर्ण व्यवहार करना ही विश्वबन्धुत्व की भावना का मूलाधार है। युगों से भारतवर्ष में इस भावना की पूजा होती चली आ रही है। हमारे पूर्वजों, मनीषियों, ऋषि-मुनियों की वाणी के माध्यम से विश्वबन्धुत्व का नारा सदैव हमारे देश में गूँजता रहा है। हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में भी 'सर्वजन हिताय' की मंगल कामना विश्व प्रेम की उद्घोषणा करती रही है।

ISSN 2278 - 0327

शंकर शेष के मूर्तिकार नाटक का परिचयात्मक मूल्यांकन

नीलम कुमारी
बाबामस्तनाथ विश्वविद्यालय
अस्थल बोहर, रोहतक

सारांश –

नाट्य साहित्य मूर्तिकार (1955) शंकर शेष की प्रथम नाट्य रचना 'मूर्तिकार' में जीवन की विडम्बना तथा यथार्थ को प्रस्तुत किया है। शंकर शेष का यह नाट्य स्त्री-पुरूष के मध्य लगाव और तनाव का दस्तावेज है तथा पारिवारिक समस्याओं की गाथा है यह नाट्य कृति मध्यवर्गीय परिवार के जीवन की है। इस नाट्यकृति में पारिवारिक जीवन की आकांक्षा और निराशा में जूझते हुए पति-पत्नी की दुखद कहानी पूरे परिवार के जीवन को दुखद और दिशाहीन बना देती है। किन्तु इस परिवार से सम्बन्ध रखने वाला हितैषी नित्य धक्के खाकर, अपने आपको आदर्शवाद से गिराकर इस परिवार की रक्षा करता है। साथ ही वह कुमारी माता नीकू को बच्चे के साथ अपनाता है। इस प्रकार उसके समर्पित प्रेम को दर्शाता है। सामान्यत: मनुष्य आदर्शों के मार्ग पर टिक नहीं पाता मनुष्य स्वयं को आदर्शों में बांधने वाला पतित हुआ दिखायी देता है। व्यवस्था के सामने मानवीय भावनाओं पर अंकुश लगाया जा रहा है। अनादि एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार है। वह बार-बार कोशिश कर अपनी माता को सुख नहीं दे सका। इस स्थिति में आदर्शवादी ढंग से सोचकर अपने आपको धोखा क्यों देगा। अनादि की मां ने दूसरों के घरों में बर्तन साफ, करके आटा पीसकर उसको पढ़ा -लिखाकर बड़ा किया लेकिन जब माँ को उसकी जरूरत थी वह उन जरूरतों को पूरा नहीं कर सका अपनी मां के लिए दवा की दो खुराकें भी नहीं ला सका यदि उसकी मां को अच्छा सुख मिलता और अच्छा खाना मिलता तो वह और भी जी पाती पर उसको गरीबी ने निगल लिया इस प्रकार वह मौत से नहीं मरती वह तो गरीबी से मर जाती है।

यह महान प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थक कर गरीबी के सामने झुक जाता है। इस तरह वह शांतनु कुमार बनकर अपने आदर्शों से गिर जाता है। वह अपने आप को बेच देता है। 'व्यभिचार', 'वासना' और 'जलती-जवानी' जैसे अश्लील उपन्यास लिखकर हजारों रूपये प्राप्त करता है। उस समय समाज उसकी कद्र करता है। अंत में समझौते की जरूरत होती है। जो अपनी जिन्दगी से समझौता नहीं करता वह समाज द्वारा उखाड़कर बाहर कर दिया जाता है।

परिचय –

डॉ शकंर शेष ने अपनी नाटय् कृति 'मूर्तिकार' में मध्यमवर्गीय परिवार की संघर्षपूर्ण कहानी नाटकीय तरीके से प्रस्तुत की है नाटक का प्रमुख पात्र शेखर है। उसकी आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय है वह परेशानी सह लेता है परन्तु कभी समझौता नहीं करता। वह कला के आदर्शों से नहीं गिरेगा वह मर सकता है। वह कला एवं साधना का उपासक है। मूर्ति बनाने में है निपुण है। परन्तु समाज कला उपासक कलाकार की उपेक्षा करता है। कलाकार के *''जीवित रहते उसकी आन्तरिक संवेदना के चांद-सितारों से कोई रोशनी की शीतल किरणें नहीं लेता।''* [1] इस प्रकार यह भारतवर्ष है। यहां पर लोग साहित्यकार तथा कलाकार को पहले भूखा मारते हैं इसके पश्चात् उसकी मूर्ति बनवाने के लिए हजारों रूपये चंदा एकत्रित करते हैं। ''मिट्टी को आकार सौन्दर्य देने वाला, मिट्टी में कला से प्राण फूंकने वाला, मूर्तिकार अपने परिवार के लिए दो समय का भोजन जुटाने में भी असमर्थ है। ''भारतीय कला रचना का कैसा दुर्भाग्य है। मरने के बाद साहित्यकारों तथा कलाकारों की दरगाह पर घी के दीये जलाये जा सकते हैं। परन्तु जीवित रहते उनके परिवारों पर जो दुख होता है उसको समाज व सत्ता दूर करने का कोई प्रयास नहीं करता।''[2] गरीबी की वजह से शेखर और उसके परिवार वालों को भूखा रहना पड़ता है। गरीबी का नाजायज फायदा उठाकर शेखर की पत्नी ललिता को पतन की ओर ले जाने का काम मुंशी करता है। इस तरह से उनकी पत्नी ललिता पर परिस्थिति के कारण कैसे कैसे प्रसंग आ जाते है। शेखर की पत्नी पति के दुख को बांटने वाली तथा भारतीय आदर्श वात्सल्यमयी माता के रूप प्रभावशाली दिखाई

पड़ती है। इस प्रकार ललिता का आदर्श भारतीय पत्नी के रूप में हमारे सामने आता है।

इस प्रकार से नाटककार ने पूरे भारतवर्ष के साहित्यकारों एवं कलाकारों की उदासीनता तथा तिल-तिल क्षार करने वाली उनकी मर्मभेदी पीड़ा को आकारयुक्त करने का प्रयास किया है। परन्तु कलाकार को भी कला के नाम पर जिन्दगी की वास्तविकता और कठोरता से भागना नहीं चाहिए। इस प्रकार आज का कलाकार भी अन्य लोगों की तरह जीवन संघर्ष करने वाला प्राणी है। जब वह दूसरों के मन में आनन्द की लहरें उत्पन्न करने के लिए मेहनत करता है। इसमें कलाकार को भी अपनी आजीविका प्राप्त करने का हक है। उसी प्रकार जैसे एक मजदूर को अपनी मेहनत की कीमत लेने का हक है।''[3] शेखर अपने मार्ग पर चलने की कोशिश करता है। पुराने समय की तरह आज वे दरबार नहीं रहे जहां पर राजा महाराजा और शहजादे .... कलाकारों व कवियों को अपने मन बहलाने के लिए रखते थे। लेकिन इस बात को शेखर भूल जाता है। वह कला के नाम पर जिन्दगी की सच्चाई और उसकी कठोरता से भागता है। इस प्रकार से मामूली इंसान भी उसका अपमान करने पर उतारू है। जिस प्रकार शेखर का अपना आदर्श है। तो ललिता का भी स्वाभिमान है। इस प्रकार लगता है ललिता को शेखर का यह खोखला आदर्शवाद है, इसलिए वह शेखर से कहती है - ''इस दुनिया में कौन सी चीज बिका नहीं है। कवि अपने गीत बेच रहा है। संगीतकार अपना संगीत बेच रहा है। विद्वान् अपनी विद्वता बेच रहा है। लोग बेच रहे है। लोग खरीद रहे है।''[4]

इस प्रकार से नाटककार ने नाटक में जिस दर्शन संघर्ष को प्रस्तुत कर नाटक को रचा गया। 'खजुराहों का शिल्पी' में उस 'मोह के क्षण' को भी उठाया है। नाटक में सतीश नामक एक पात्र है जो अमीर है तथा खूबसूरत व समझदार डकैत है। नाटक में नीलू नाम की एक महिला है जो सच्चे दिल से प्रेम कर अपने आपको सतीश के हवाले कर देती है। युवास्वस्था में 'क्षण के मोह' द्वारा होने वाले मानवीय पतन की पीड़ा को सहन करती है। परन्तु उसने जो अपराध किया है वह उससे भागना नहीं चाहती न ही अन्य कमजोर महिलाओं की तरह गर्भ में जो बच्चा पल रहा है उसे मारना चाहती है। और न ही आत्महत्या करके, छुटकारा पाना चाहती। इस तरह कुमारी मातृत्व को साहस के साथ स्वीकार करने की तैयारी करती है। औरतों के प्रति व्यापारिक दृष्टि रखने वाले सतीश के जैसे बहुत से लोग इस समाज में है, जो औरतों को हमेशा एक खिलौना समझकर उसकी जिन्दगी से खेलते हैं। तब तक उनकी इच्छा होती है। या उनका मन नहीं भरता उससे खेलते रहते है बाद मे उसको अपनी जिन्दगी से निकालकर फेंक देते है। ये गन्दे लोग, वासना के कीड़े, आस्तीन के सांप, धनवान भेड़िये सतीश जैसे लोग जो यह समझते है कि औरत केवल धन-दौलत से खरीदी जा सकती है। उनका इलाज नाटककार उसी तरह करना चाहता है जैसे ''जहर का इलाज करना हो तो उसके लिए जहर की खुराक चाहिए। उसी प्रकार धन की गर्दन तोड़ने के लिए चांदी का जूता ही चाहिए।''[5]

'मूर्तिकार' नाटक में नाटककार ने नारी जीवन का कदर्थना का चित्रण करते हुए उसके स्वतंत्रता का संदेश दिया है। वर्तमान युग में नारी जागरण का सवेरा है। औरत अपनी हीनता को त्यागकर अपने पारिवारिक व सामाजिक अधिकारों के लिए सावधान होकर ललकार उठी है। नीलू तथा ललिता आधुनिक युग की नारी हैं। जो समस्याओं का डटकर सामना करने वाली नारी है। वे आज की नारी हैं। नाटक में नाटककार यह बताता है कि औरत सब कुछ सह सकती जैसे गरीबी आदि परन्तु जो औरत को गलत दृष्टि से देखता तो नारी चुप नहीं रह सकती अर्थात् वासना के जलते हुए अंगारें नहीं देख सकती वह अपनी इज्जत पर आँच नहीं आने देती। इस नाटक में नाटककार कहता है हमारे देश में जो पुरस्कार आदि मिलता है वह भी पैसे वालों को ही मिलते है गरीब लोगों को नहीं। चाहे वे कलाकार हो या चित्रकार। इस प्रकार शेखर के 'मातृत्व की मौत' चित्र को चित्र प्रदर्शनी में पुरस्कार नहीं मिलता। वह पुरस्कार भी धनवान लोगों को ही मिलता है। शेखर कहता है हमारे देश में कलाकार की कलाकारी का पुरस्कार नहीं मिलता उसी कलाकारी का लंदन में पुरस्कार मिलता है। इस प्रकार शेखर को विदेशियों ने बड़ा कलाकार मान लिया तो शेखर का अपने देश में बहुत महत्व बढ़ जाता है। इस तरह हमारे में देश दूसरे देशों की नकल करने वाले लोग हैं इस प्रकार पाश्चात्य की नकल करने वाली हमारी नीतियों का भी नाटककार पर्दाफाश करता है। कर्मकांड और अंधविश्वास पर टीका करते हुए नाटककार अनादि के माध्यम से कहता है - ''मैं अपनी मां की मौत के साथ इतना डरावना मजाक नहीं करना चाहता। जब मेरी मां मर रही थी तब मैं अपनी मां के मुंह में एक बूंद पानी की नहीं डाल सका। उस मां की अस्थियों को अब गंगाजी में डालने से क्या फायदा ? .....

''मैं उन लोगों में नही हूं जो अपने मां बाप को जीवित अवस्था में तो भूखा मारते हैं और मरने पर उसका श्राद्ध कर पिण्डदान करते है।''[6]

नाटककार ने इस नाटक रचना के माध्यम से वर्तमान युग में आदर्शों की लम्बी रेखा पर टिकने वाले मध्यवर्ग के दयनीय जीवन पर प्रकाश डालने के साथ-साथ करोड़ीमल जैसे लोग के बल पर पांच-पांच शादियां करने वाले व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि, सतीश जैसे धनवान व्यापारी के पुत्र, मकान मालिक के मुंशी जैसों की भ्रष्ट नीति पर व्यंग्यर्पूण वार करता है। इस दुनिया में पहले पैसा है और बाद में सब कुछ। इस प्रकार से मूर्तिकार नाटक का कथानक विभिन्न प्रसंगों एवं सूत्रों से बना हुआ है।

इस प्रकार से मूर्तिकार नाटक को नाटककार ने मध्यम वर्ग की समस्याओं को प्रस्तुत करके उसे समकालीन संदर्भों से जोड़ दिया है। नाटक की कथा तीन अंकों में विभाजित है। इन तीनां अंकों के लिए नाटककार ने एक रंगमंच का प्रयोग किया है। इस संदर्भ में डॉ0 विनय के अनुसार ''1955-56 में उनका पहला एकांकी नाटक नागपुर मेडिकल कॉलेज में छात्रों के लिए लिखा गया।''[7] यही मूर्तिकार है।

नाटककार ने मूर्तिकार नाटक के तीनों अंकों का समय इस प्रकार से बनाया है जैसे नाटक का प्रथम अंक का समय सुबह का है इस समय रंगमंच पूरा प्रकाशमान है।

द्वितीय अंक का समय दोपहर है, इस समय भी रंगमंच पर पूरा प्रकाश है। तीसरे अंक का समय संध्या का है, अत: रंगमंच पर धुंधलाहट साफ दिखाई देती है। नाटक में नाटककार एक मध्यम वर्गीय परिवार की दशा को नाटक में निर्मित करता है। किस प्रकार एक मध्यमवर्गीय परिवार अपनी समस्याओं में उलझता है। उन समस्याओं को समसामयिक संदर्भों से जोड़ने का नाटककार का सफल प्रयास रहा है। इस प्रयोग शिल्प के कारण कथ्य अधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय एवं अन्त में जोड़ मेल के हो गए।

इस नाटक में एक वर्ष का समय विद्यमान है इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि नाटक में नाटककार कोई समय नहीं बताता। लेकिन इस समय इस काल के मध्य में पात्रों की स्थिति परिवेश, आयु आदि में सभी में एक बहुत बड़ा अंतर आ जाता है। मूर्तिकार नाटक बहुत ही कम समय में नाटक का अभिनय संभव है। इस नाटक में अपनापन गहराई, और एक दूसरे पर विश्वास दिखाई देता है। इस नाटक में नाटककार ने बहुत से पात्रों और प्रश्नों को प्रस्तुत किया है। इस नाटक का कार्य बहुत ही तेजी से हुआ है उसी प्रकार पात्र भी अपनी यात्रा तेजी से करते है। नाटक में सजावट भी बहुत साधारण तरीके से की है और यह सजावट किसी मध्यम वर्गीय परिवार के घर का सजीव चित्रण है। 'मूर्तिकार' का कथानक अत्यंत सरल, एवं रोचक है इस प्रकार नाटक के अंत तक दर्शकों की उत्सुक होने की अवस्था बनी रहती है। अत: नाटक का कम खर्च में ही मंचन हो सकता है इस नाटक में पाठक या दर्शक की कोई बात रह जाती है तो यह महसूस नहीं होती नाटक की यही विश्वसनीयता को बढ़ा देती है इस नाटक का कथानक व पात्र नाटक की समस्या में अपना समाधान ढूंढने की कोशिश करते है।

इस प्रकार नाटककार नाटक को निरतं र सरल या आसान बनाने के लिए कुछ यंत्रों की जरूरत हैं इस नाटक का कथानक है वह शेखर है शेखर एक चित्रकार तथा मूर्तिकर है। जहां पर शेखर की बैठक होती है वह एक कलाकार का स्टूडियो है। उस स्टूडियो में अधबनी उन्मुक्त यौवन की मूर्ति, पैकेट टेबल, टटूी हुई दो कुर्सिया, हार, अखबार, शाल, साडियां, चित्र रखने का स्टैंड मूर्तिकला और चित्रकला के उपकरण, जोला, चैक, रूपये, चाय की प्याली, उसके साथ एक सिगरेट, चाय की ट्रे, कांच का गिलास और छोटी थाली में एक जलता दिया आदि।

इस प्रकार से नाटक में वेशभषू ा का भी विवरण दिया गया है। इस नाटक में नाटककार को यह महसूस नहीं होता कि वेशभूषा कैसी हो। शेखर गरीबी का पहाड़ अपने सिर पर ढो लेता है लेकिन वह किसी भी प्रकार का समझौता नहीं कर सकता वह साधारण वेशभूषा में रह सकता है लेकिन अपने आदर्शों के विरूद्ध नहीं जाता। ललिता एक गरीब मूर्तिकार व चित्रकार की पत्नी है। उनकी भी वेशभूषा है वो भी साधारण है। नाटक में नीलू नामक पात्र है वह शेखर की बहन है नीलू पहले साधारण वेशभूषा में ही दिखाई देती है उसमें भी कोई शृंगार या बनावटीपन नहीं है। पर वह सतीश के सम्पर्क में आने के बाद उसकी वेशभूषा में बदलाव आ जाता है। अनादि भी शेखर का एकमित्र है। जो फुल पैंट, कमीज व पैरों में चप्पल पहनता है। जो नाटक के तीसरे अंक में कीमती वेशभूषा में दिखाई देता है। इस प्रकार उसका दिखावा अमीर लोगों की तरह है। अन्य एक पात्र सतीश एक अमीर व्यापारी का बेटा होने के कारण वह हमेशा अच्छी वेशभूषा में ही रहता है। मुंशी एक मकान मालिक, मुंशी का चश्मा मुंशीयानी ढंग का लगता है। उनकी वेशभूषा मुंशी की तरह और आवाज षडयंत्र रचने वाले लागों की तरह है। नाटक में एक करोड़ीमल है जो वनस्पति घी का व्यापारी है। उनकी वेशभूषा मारवाड़ी प्रकार की है। उनकी आवाज बहुत तजे है। इस नाटक में एक लल्लू नामक ललिता की पड़ोस का बच्चा है उस बच्चे की पोशाक भी साधारण ही है। इस नाटक में शेखर, अनादि, सतीश, मुंशी

करोड़ीमल, लल्लू आदि पुरूष पात्र तथा ललिता, नीलू दो स्त्री पात्र है।

इस प्रकार नाटककार कहता है ''भूखे पेट कला और सौन्दर्य की सब बातें फालतू हैं। इस भौतिकवादी दुनिया में पहले पैसा है, और बाद में और सब कुछ।''[8]

मूर्तिकार नाटक एक संघर्षशील समस्या प्रधान नाटक है। इस नाटक में नारी के स्वर को ऊँचा कर देता है। नाटक का अन्त मनुष्य के स्वरूप प्रदान की व्याख्या करता है।

'मूर्तिकार' नाटक की भाषा अत्यत सरल, सहज व स्वाभाविक तथा रोचक है। नाटक में नाटककार शंकर शेष जी ने नाटक में बिन्दु, चिन्हों का भरपूर मात्रा में प्रयोग करके भाषा को अत्यंत सरल व शुद्ध बनाया है। जिस प्रकार पाठक व दर्शक अच्छी तरह समझ सके। नाटककार ने पूरे नाटक में कोमलता और मन में उत्पन्न होने वाले भाव है। नाटक में सभी पात्रों को अपने स्तर की भाषा बोलने के कारण समाचारों में भाषागत समस्या बन रही है। अनादि नामक पात्र की भाषा व्यंग्यपूर्ण है। जिसमें उसके मन के सच्चे विचार प्रकट होते है। नाटककार ने नाटक में सूक्तियों का भी प्रयोग किया जैसे - गरीबी से तो मेरी लंगोटिया दोस्ती है ....

गरीबों के यहां खूबसूरती अभिशाप है। मूर्तिकार नाटककार का प्रथम नाटक होने से इसमें सूक्तियों की बहुलता दिखाई देती है जैसे समझौते से सुविधाएं तो प्राप्त की जा सकती है। ऊँचाइयां नहीं मिल सकती .... कलाकार का काम केवल दीये के तेल की तरह जलते जाना है ... हर आदमी का ठोकर रास्ता है। सोने के प्याले में जहर बिकता है। कोई भी कसाई बकरे की बलि देने से पहले अच्छे से खिलाता-पिलाता है। वह मोटा-ताजा हो जाता है उसकी बलि देता है ताकि उसको अच्छा मुनाफा मिल सके। यदि सुबह का भटका शाम को घर आ जाये तो उसे भूला नहीं कहते। ... जैसे कहते है कि चादर फट जाये तो उसको सिल सकते है किन्तु आकाश फट जाऐ तो फिर कौन सा रास्ता है। नाटक में मुहावरों एवं वाक्यों का प्रयोग किया गया है। जैसे प्रेम अंधा होता है जैसे सतीश जिस पत्तल में खाता है उसी में छेद करता है वह आस्तीन का सांप है ... नाटक में कुछ अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ जैसे माडल, नोटिस, होटल, स्टूडियो, फोटो, पेंटर, मिस्टर आदि। इसके साथ-साथ कुछ अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रयागे हुआ है जैसे, लाख, दफ्तर, गजब, एहसास, खतरा, पैगाम, खिलाफत, इंतजाम, मुकदमा लिहाज आदि। इस प्रकार से 'मूर्तिकार', नाटक में उर्दू, अरबी तथा फारसी शब्दों आदि का भी प्रयोग किया है जैसे - नकाब, चादर, उम्र, कुर्सी, लाश, प्याली, गुजरना, फुरसत, नौकरी, जबान परवाह, मौका, पैगाम, करीब, मिजाज, हराम, नतीजा, हर्ज, माहवर, लिहाज, बकवास, नीलाम, दर्जे, सबूत, जलन, कचहरी रसीद आदि।

डॉ0 शंकर शेष ने मूर्तिकार नाटक सन् 1955 में मेडिकल कॉलेज के छात्रों की मांग पर लिखा। यह उनका प्रथम एकांकी नाटक था। इस नाटक के तीन भाग थे जो इक्कठा करके एक पूर्णांक नाटक हो गया। इसका सफल मंचन कॉलेज गैदरिंग में हुआ यह नाटक सफल होने के बाद श्रीनगर में सम्पन्न प्रतियोगिता में खेला गया और इस नाटक को प्रथम स्थान मिला नाटककार को बहुत खुशी हुई। डॉ0 शंकर शेष नाट्य सरिता के आरम्भिक काल का 'मूर्तिकार' प्रथम नाटक होने पर उसका प्रकाशन 1972 में हुआ इसी नाटक से सफल मंचन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साथ-साथ लोगों का बहुत प्यार मिला अच्छे नाटककार के साथ-साथ सफल अभिनेता और दर्शक की अधिक जरूरत होती है। इन तीनों के सफल प्रयास से ही नाटक साहित्य आधुनिक ढंग का लगता है। 'मूर्तिकार' नाटक का कथानक बहुत प्रभावशाली है। इस नाटक में एक मध्यम वर्गीय परिवार की कहानी निर्मित की है। कथानक की मेहनत के कारण नाटक मंच पर सफल सिद्ध हुआ है। नाटककार नाटक के लिए जितनी अधिक मेहनत करेगा उसका नाटक उतना ही अधिक सफलता की ओर जायेगा इस प्रकार के नाटक में दर्शकों की उत्सुकता बनी रहती है।

'मूर्तिकार' नाटक के प्रमुख तीन अंक है तीनों का दृश्य का स्थान एक है। इस प्रकार से मूर्तिकार नाटक का मंचन करने के लिए रंगमंच को कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। रंगमंच को साधारण तरीके से सजाया गया है इस प्रकार से इस नाटक का मंचन कम खर्च में ही हो सकता है। रंगमंच पर बैठने और सामान रखने का तरीका अच्छी तरह से होना चाहिए।

'मूर्तिकार' नाटक में निर्देशक को किसी भी मुश्किल का सामना नहीं करना पड़ता। जैसे ''मुर्तिकार शेखर उसी अधबनी मूर्ति पर काम कर रहा है। एक क्षण तो वह व्यस्त दिखाई देता है, दूसरे क्षण वह मूर्ति से एक दो कदम पीछे हटता है। एक सिगरेट जलाता है। धुंआ छोड़ता है और मानों अपनी सफलता पर अभिमान से मुस्कराता है उतना ही प्रभावशाली है।''[9]

इस प्रकार से मूर्तिकार नाटक में आठ पात्र है, छः पुरूष पात्र तथा दो महिला पात्र हैं। अगर ज्यादा पात्र हो जाते है तो नाटक की सफलता में रूकावट उत्पन्न हो जाती इस प्राकर नाटक में अभिनय करने में बाधा नहीं होती इसलिए इसके पात्रों की

संख्या कम है। अगर पात्र ज्यादा होते तो दर्शकों का ध्यान भटकने का डर रहता है अगर नाटक में पात्र कम होंगे तो वह नाटक ज्यादा बिखरा-बिखरा नहीं लगेगा ज्यादा पात्र होने पर भी नाटक को देखने में मजा नही आता। कम संख्या में पात्र होंगे तो सभी को उचित अवसर मिलेंगे

इस नाटक की पात्र योजना अभिनय की दृष्टि से सफल है। मूर्तिकार नाटक का जो तीसरा अंक है वह संध्या के समय प्रस्तुत किया जाता है इस नाटक में सांझ की धुंधलाहट के अन्दर में स्त्री कंठ से करुण गीत का स्वर ''प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो।'' सुनायी पड़ता मालूम होता है अंत में हम कह सकते हैं कि 'मूर्तिकार' नाटक बहुत सफल सिद्ध हुआ। इस नाटक में किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं थी। यह नाटक लोगों को बहुत अच्छा लगा।

संदर्भ -

1. राजपथ से जनपथ नटशिल्पी शंकर शेष, डॉ0 सुरेश एवं डॉ0 वीणा गाते, पृ. 54
2. वहीं, पृ0 53
3. शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ0 5
4. वहीं, पृ0 32
5. वहीं
6. वहीं, पृ0 68
7. शंकर शेष, बाढ का पानी, पृ0 5
8. शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ0 60
9. वहीं, पृ0 2

ISSN 2278 - 0327

आचार्य श्रीराधावल्लभत्रिपाठी कृत नाटकों में स्त्रीचेतना

रिंकू कुमार जैन
शोधच्छात्र-साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय भोपाल परिसर

डॉ. मोहिनी अरोरा
असिस्टेंट प्रोफेसर, साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय भोपाल परिसर

प्राचीन काल में नारी की स्थिति-

प्राचीन काल में वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, मनुस्मृति में नारियों का बहुत उच्च स्थान था। जिनमें मेत्रैय, लोपामुद्रा, अहिल्या, गार्गी, सीता, कुंती, गान्धारी, द्रौपदी, मन्दोदरी, उर्वशी आदि प्रसिद्ध महिलाएं थीं। प्राचीन काल में नारी धार्मिक, पतिव्रता, सत्यवती, दानादि कार्य में निपुण होती थी। प्राचीन काल में नारी माता के रूप में सम्मानित नहीं होती थी अपितु गृहलक्ष्मी, अर्धांगिनी, देवी रूप में सुशोभित होती थी।

यथा-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया।।[1]

जिस गृह में नारियों की पूजा होती है वहाँ पर देवता निवास करते हैं जिस गृह में नारियों का सम्मान नहीं है वहाँ पर सभी कार्य असफल हो जाते हैं।

न जानकी मानववंशनाथ त्वया सनाथा सुलभा वरेण।
न चाग्निचूडा ज्वलितामुपेत्य न दृहयते वीर वरार्ह कश्चित्।।[2]

पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली सीता को लक्ष्मण ने अग्नि की ज्वाला एवं किसी भी अन्य पुरुष के लिए दुर्लभ कहा है।

संतुष्टोभार्या भर्ता, भर्ता भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेवकुले नित्यं कल्याणं तत्रैव ध्रुवं ।।[3]

जिस परिवार में पति के द्वारा पत्नी संतुष्ट रहती है तथा पत्नी के द्वारा पति संतुष्ट रहता है उस परिवार में निश्चित रूप से कल्याण होता है ।

मध्यकाल में नारी की स्थिति -

मध्यकाल में भारत पर विदेशी आक्रमण होने से नारी की स्थिति शोचनीय हो गई। विदेशी आक्रमणकारियों के कारण भारत में पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा, कन्याभ्रूण हत्या, दहेज प्रथा आदि कुरीतियों का प्रचलन हो गया। इन कुरीतियों के कारण नारी की दशा कमजोर होती चली गई।
जैसे- चितौड़ दुर्ग मे सती होने की घटना, नारीयों ने अपने आत्म सम्मान के लिए जौहर किया।

आधुनिक काल में नारी की स्थिति-

आधुनिक काल में मध्य काल की कुरीतियों ने विकराल रूप धारण कर लिया। वर्तमान काल में दहेज के बिना कन्या अधिक उम्र तक अविवाहिता ही रहती है। दहेज नहीं देने के कारण नारी पर पति, ससुर सास आदि अत्याचार करते हैं। कभी कभी महिलाएँ ज्यादा प्रताड़ित होने के कारण आत्महत्या कर लेती हैं या नारी को मार दिया जाता है।

1900 ईसवीं से 2000 ईसवीं के समय में गर्भावस्था में भ्रूण लिङ्ग परीक्षण किया जाता था। यदि कन्या गर्भ में हो तो उस नारी का गर्भपात कर दिया जाता था। इसके कारण पुरुष व महिला की संख्या का सन्तुलन विपरीत हो गया। पुरुषों की संख्या अधिक हो गई व महिलाओं की संख्या कम हो गई। सास-ससूर की पुत्रलालसा के कारण परिवार में यदि नारी पुत्र को जन्म नहीं देने पर परिवार वाले अत्याचार करते हैं और नारी के पति का दूसरा विवाह कर दिया जाता है।

इस प्रकार की समस्याओं को आधार बनाकर प्रत्येक भाषा में नारी को जागरूक करने के लिए लिखा गया। अन्य भाषाओं की तरह ही संस्कृत में आचार्य श्री राधावल्लभ त्रिपाठीजी ने अपने रूपकों में नारी की समस्याओं का वर्णन करते हुये उन समस्याओं का उपाय भी बताया गया है। आचार्य राधावल्लभत्रिपाठी जी के प्रमुख रूपक-

(1) प्रेमपीयूषम् नाटकम्
(2) तण्डुल प्रस्थीयम्प्रकरणम्
(3) सुशीला प्रेक्षणकम्
(4) सप्तप्रेक्षणम्।

प्रेमपीयूषम् में नारी चेतना–

समाज में जब नारी पर अत्याचार होता है तब सामाजिक लोग तटस्थ होकर देखते है कोई भी उसका विरोध नहीं करता है जिससे दुष्ट लोगों का उत्साह बढ़ता है और दुष्ट लोग दुराचार करते है।

जैसे– *शशिप्रभा–(कातरं) महाभाग! अलं मदर्थं स्वप्राणान् पणीकृत्य। गच्छतु भवान् दुर्भगां मामत्रैव विहाय।*

भवभूति– देवि!मा कातरा भूद् भगवती। भवत्या: रक्षायै इदं स्वदेहमुपहारी करिष्यामीत्येष एवं मे निश्चय: (शबरौ प्रति) भद्रं प्रथमं श्रूयतां मद्वचनम्। पश्चाद् यदि रोचते त्यहि देविमिमां मुक्त्वा बलिप्रदानार्थं मामङ्गीकरिष्यथ:।[4]

त्रिपाठी जी ने भवभूति के माध्यम से इस प्रकार का सन्देश दिया है कि सामाजिक लोगों को सन्तुष्ट होकर नहीं बैठना चाहिए। जिस प्रकार भवभूति ने स्वयं को शारीरिक रूप से कमजोर मानकर वाणी की कुशलता से अपने प्राणों को अर्पण करके शशिप्रभा की रक्षा की। इसी प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसार स्त्री की रक्षा करनी चाहिए।

सुशीला प्रेक्षणक में नारी चेतना –

सबलसिंह:– अहमस्मि सबलसिंहनाम राजा। परन्तु त्वं कीदृशी स्त्री? त्वं मां दृष्ट्वा न बिभेषि। सर्वं जगत् बिभ्यति मत्त:। जना: कम्पन्ते तत्समक्षम् । त्वं मामुद्दिश्य एवं ब्रवीषि यथा अहं सबलसिंह: न स्यात् यो वा को वा स्याम्। [5]

सबलसिंह:– अयि पापिष्ठे, पतिते। वेश्ये, अन्तश्चल। अन्तस्त्वां द्रक्ष्यामि। सर्वं ते साहसं निस्सारयामि तव देहात्। स्थास्यति करालकारागारे। क: को अत्र? गृह्यतामियं पिशाची। मामेव चक्षुषी दर्शयति। (सुशीला वस्त्रेषु गोपितां छुरिकां निष्कास्य सबलसिंहस्य वक्षसि प्रहरति । सबलसिंहश्चीत्करोति सुशीला पलायते ।)[6]

प्रस्तुत उदाहरण में कवि ने स्त्री बलात्कर का निराकरण बताया है कि विकट परिस्थिति में भी सुशीला सबलसिंह से नहीं डरती है और साहस पूर्वक, दृढ़ता से विरोध करती है और अन्त में सबलसिंह का वध कर देती है।

मरणं मतं समेषां प्रकृति:, जीवनमेव समस्तं विकृति:।
तथापि मृत्युं न कामये अहम्, मरणाज्जीवनं मन्ये वयम्।।
मरणं कदापि न कामये अहम्, जीवनमेव सर्वदा भजे अहम्।
प्राप्तं यत्त् तत्तु धाराये अहम्, नैव जातु प्राणान् जसे अहम्।।[7]

प्रस्तुत गीत के माध्यम से बताया गया है कि सभी की मृत्यु निश्चित है लेकिन हमेशा जीवित रहने की इच्छा रखनी चाहिए। किसी भी परिस्थिति में संघर्ष परायण होकर जीवित रहना चाहिए। कभी भी आत्महत्या करके अपनी जीवन लीला समाप्त नहीं करनी चाहिए ।

सुशीला– *आत्मदीपं ज्वालयित्वा एकाकिनी वर्तिष्ये।*
प्रभञ्जने प्रबले प्रतिरोधो करिष्ये।
प्रतारणं च प्रघर्षणं च नैव सहिष्ये नैव सहिष्ये।[8]

प्रस्तुत पद्यांश में सुशीला आत्मविश्वास से प्रबल रूप से प्रभञ्जन के अत्याचारों का प्रतिरोध प्रकट करती है और कहती है कि में अत्याचार सहन नहीं करूँगी ।

सोमप्रभा प्रेक्षणक में नारी चेतना–

श्वश्रु:– (ससरम्भं प्रविश्य) किं कृतं कुट्टनि ! त्रोटितानि भाजनानि। कस्मिन् काले अनया पिशाच्या पादक्षेपो विहित: अस्माकं गृहे। सर्वानस्मानियं खादिष्यति। मृत्युरपि नायात्यस्या। कुलनाशने क: पूरयिष्यति चायभाजनानां क्षतिम्। अवशिष्ट स्म यौतुकराशेरिदानीं यावदपि य: पूर्तिं न करोति न दर्शयति च कलुषितं मुखम् अपि। अधुना उत्तिष्ठ! भूमौ लुण्ठसि। एतस्य दुष्कृत्यस्य फलमनुभवितासि नूनम्।

केशेषु गृहीत्वा विममलामुत्थापयति विमला वेदनया चीत्करोति। चपेटाभि: मुष्टिभिश्च तां ताडयति।

विमला –मा ताडय मामम्ब। द्वित्राणि भाजनानि यदि त्रुटितानि त्यहि न महती क्षतिर्जाता। ममवेतनमपि सर्वं भवत्येव गृह्यते।[9]

प्रस्तुत गद्यांश में बताया गया है कि विमला के हाथ से चाय के पात्र गिरने पर पर उसके ससुर जी कहते है कि तुम्हारे परिवार वालो ने दहेज में जो राशि तय की थी वह राशि अभी तक नहीं दी। ऐसा कहते हुए विमला को मारने का प्रयास करते है।

क्षणे क्षणे प्रवर्धेत धनायहिंस्रता खरै,
विलोप्यते अतिनिर्दयं च जन्तुभिर्मनुष्यता।
विभाजितं जगद्विधा निहन्यते च घातकै,
रतीव दैन्यमागतास्ति साधुता मनुष्यता।।[10]

प्रस्तुत पद्यांश में बताया गया है कि संसार में धन के लिए धीरे – धीरे हिंसा बढ़ती जा रही है। जिससे संसार दो भाग में बंट गया। पहला तो साधु प्रवृत्ति, दूसरा दुष्ट प्रवृत्ति का हो गया है।

सोमप्रभा:– अम्ब मम उपानहौ स्फुटितौ पुस्तकमञ्जुषा च स्फुटितेति अध्यापिका मां कक्षाया: निष्कासितवती।[11]

प्रस्तुत गद्यांश में बताया है कि प्रथम कन्या जन्म होने पर किस प्रकार कन्या की उपेक्षा की जाती है। उसका वर्णन है–

सोमप्रभा:– अत्रागत्य मया दृष्टं यत् पितामह: पितामही च त्वां मारयत: अत: अहं धावं धावं स्थानकं गता। पुरुषनिरीक्षकाय मया निवेदितम्। विमला (सवाष्पं) त्वया अहं त्राता। महत: सङ्कटात्

त्वं माम् उद्धृतवती।[12]

प्रस्तुत गद्यांश में बताया गया है कि सोमप्रभा ने अपनी माता की रक्षा के लिए आरक्षक केन्द्र से आरक्षक को बुलाकर लाई और अपनी माता की रक्षा की। सोमप्रभा ने नारी को अपने अधिकारों के प्रति जागरुक रहनेका सन्देश दिया ।

प्रतीक्षा प्रेक्षणक में नारी चेतना-

भावेश:- पुत्रि! अतिस्नेह: पापशङ्कीति न्यायेन यदन्यथा चिन्तितं तन्न त्वां प्रत्यविश्वासात् अपितु आत्मन: दौर्बल्यादेष: तदलमन्यथा गृहीत्वा।

दुर्जनैर्जल्पितं नान्यथा कल्प्यताम्,
कल्पना स्यात् सदा मङ्गलालङ्कृता।
स्यात् प्रकाशोत्सव अक्षयो जीवने झङ्कृता,
भारती भामती चास्तु सौख्यप्रदा।।[13]

प्रस्तुत गद्यांश में बताया गया है कि अत्यधिक स्नेह करना पाप की शंका को उत्पन्न करता है। कन्या अत्यधिक वर्षा होने के कारण व अपने साथी कर्मी के कार्यक्रम होने के कारण गृह आने में विलम्ब होने पर जो भय का वातावरण उत्पन्न होता है तथा वर्तमान में कन्याओं के साथ बलात्कार व अपहरण की होने की घटनाओं को दर्शाया गया है।

तण्डुलप्रस्थीयम् प्रकरण में नारी चेतना-

प्रज्ञा:- अस्माकं महाराजे न शक्तिनगरराज उक्त:-अक्ष्णा कायं राजकुमारमस्माकं दुहित्रा छलेन परिणेतुमिच्छति। पूर्वं वरेक्षाकाले अन्यमेव सुरूपं युवानं प्रदर्श्य वञ्चिता वयम्। इदानीं यदि जीवितुमिच्छथ, तूष्णीमितो गच्छ सर्वे नो चेत् सशस्त्रै: सैनिकैर्न: परिवारित: अयं जन्यवास: एक: अपि युष्मास्वितो जीवन्न निर्गच्छेत्। यथा- मति: (निरञ्जनमवलोक्य) वरस्तु अत्रैव स्थित:।
प्रज्ञा:- (निरञ्जनं परिचीय सहर्षम्) भतृदारिके सम्प्राप्तं समस्याया: समाधानम्। शारदा:- अयं स मे प्रेयान् तासु तासु यात्रासु मे सहचर:।[14]

प्रस्तुत गद्यांश में बताया गया है कि जब कन्या के विवाह से पूर्व दूल्हे के रूप में किसी ओर को दिखाया गया और विवाह के समय कुरूप व कांणे राज कुमार को लाया गया। इस प्रकार छल किया जाता है। पहले स्वयंवर होता था कन्या अपने पति का स्वयं चयन करती थी। उसी प्रकार शारदा ने अपनी इच्छा अनुसार निरञ्जन को पति रूप में स्वीकार किया।

स्त्रियों को यह सन्देश दिया गया है कि विपत्ति के समय दृढ़ता से समस्या का सामान करना चाहिए जिससे दुष्ट पुरुष कभी भी दुष्ट कार्य न कर सकें और कभी भी आत्महत्या न करें। जिस प्रकार सोमप्रभा ने कानून की सहायता ली उसी प्रकार सभी कानून की सहायता लें सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. मनुस्मृति 3.56
2. वाल्मिकि रामायण 4.30.18
3. मनुस्मृति 3.60
4. प्रेमपीयूषम् अंक 05 पृष्ठ 33
5. सुशीलाप्रेक्षणक पृष्ठ 19
6. सुशीला प्रेक्षणक पृष्ठ 24
7. सुशीला प्रेक्षणक पृष्ठ27
8. सुशीला प्रेक्षणक पृष्ठ 36
9. सप्तप्रेक्षणम् सोमप्रभा पृष्ठ 10
10. सप्तप्रेक्षणम् सोमप्रभा पृष्ठ 11
11. सप्तप्रेक्षणम् सोमप्रभा पृष्ठ 11
12. सप्तप्रेक्षणम् सोमप्रभा पृष्ठ 11
13. सप्तप्रेक्षणम् प्रतीक्षा पृष्ठ 71
14. तण्डुलप्रस्थीयम् पृष्ठ 74

ISSN 2278 - 0327

काशीनाथ सिंह का कथा-साहित्य : आर्थिक यथार्थ

राखी
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

डॉ. कृष्णा जून
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

किसी भी समाज के अध्ययन के लिए यह देखना आवश्यक है कि उसकी सामाजिक संरचना किस प्रकार की है। अगर समाज में गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी है तो निश्चित रूप से ऐसा समाज विकास की उस प्रक्रिया में नहीं शामिल हो पायेगा जिसमें उसको शामिल होना चाहिए। किसी व्यक्ति या राष्ट्र के विकास में आर्थिक स्थिति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। कोई राष्ट्र तभी विकास कर सकता है जब उस राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का विकास हो। अन्यथा वह देश या समाज विकास नहीं कर सकता। जहाँ तक भारतीय समाज के आर्थिक विकास की बात है तो समाज का एक बड़ा समूह अपने आर्थिक विकास में लगा हुआ है फिर भी गरीबी के अभिशाप से अछूता नहीं है। जब से भूमण्डलीकरण का दौर शुरू हुआ है तब से भारतीय समाज की आर्थिक स्थिति और भी कमजोर हो गई है। इन सारे परिवर्तनों पर काशीनाथ सिंह अपनी दृष्टि रखे हुए हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में उन सारे मूल्यों को उभारा है जो कि भारतीय समाज में आर्थिक तंगी एवं भूख की पीड़ा के लिए जिम्मेदार हैं।

अर्थ ने प्रत्येक युग के लोगों को प्रभावित किया है। आधुनिक युग में भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अर्थ का अत्यधिक महत्व रहा है। देश की वर्तमान विसंगतियों के कारण मानवीय मूल्यों में बदलाव देखा जा सकता है। इससे सामाजिक संरचना का स्वरूप भी अवरूद्ध होता जा रहा है। आजादी से पूर्व भारतीय समाज की संरचना और आजादी के बाद के समाज की संरचना में काफी बदलाव देखने को मिलते हैं। सामाजिक संरचना में आर्थिक स्थिति ज्यादा महत्वपूर्ण होती जा रही है। आपसी संबंधों में बिखराव दिखाई देने लगा है। लोगों की दृष्टि सीमित होती जा रही है। आपसी रिश्तों में वह संवेदना नहीं रह गई है जिसके कारण लोग आपस में जुड़े हुए हैं। आज स्थिति यह हो गई है कि अपने आर्थिक स्वार्थ के कारण पिता-पुत्र और पति-पत्नी के संबंध विच्छेद होता जा रहा है। इतना ही नहीं सामाजिक रिश्ते के हर पहलुओं को देखा जाए तो वे रिश्ते चाहे जो भी हों जैसे - पिता-पुत्र, माता-सन्तान, पत्नी-पति, भाई-भाई, भाई-बहन था। अन्य सबके संबंधों में बदलाव दिखाई देने लगा है। इन संबंधों के बिखराव से मानवीय संवेदना खत्म होती जा रही है। काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर राजीव कुमार ने ठीक लिखा है।

''इस उपन्यास में काशीनाथ सिंह समकालीन वैश्विक आर्थिक - प्रक्रिया का प्रभाव व्यापकता को सामने लाते हैं। इस क्रम में हमें सर्वथा नवीन प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यहाँ उन्नत आर्थिक राष्ट्र द्वारा लक्षित विकासशील राष्ट्र का हर सम्भव दोहन है। उन्नत राष्ट्र अपने हर अपशिष्ट को पिछड़े विकासशील राष्ट्र पर थोप रहा है उसका आक्रमण दोहरा है। काशी का अस्सी की एक विशिष्टता उपन्यासकार की विश्व-दृष्टि है जो कार्पोरेट प्रसार को लाभ-हानि की प्रक्रिया मात्र में नहीं देखते हैं। लाभ-हानि के सरल गणित के साथ विकसित देश की आन्तरिक समस्या चाहे वह बेरोजगारी हो या भोग के नये अवसर की तलाश - भारत जैसे विकासशील देश को डॉलर के एवज में ढोना पड़ता है। जिसके साथ आयातित होती है। चरस, हेरोइन, गांजा, वियाग्रा, पेनाग्रा की भोगवादी एवं अकेलेपन की संस्कृति। पश्चिमी समाज सांस्कृति कुतुहल के साथ आता है और अपनी विकृति थोप जाता है। गुरु में दिखाई देती अनुकूलता भविष्य के खोखलेपन की भूमिका तैयार कर रही होती है।'' [1]

उपभोक्तावादी पश्चिमी संस्कृति को जो प्रचार-प्रसार फैल रहा है उससे पूरी दुनिया को वह अपना चारागाह बनाता जा रहा है। उत्पाद को बेचने के साथ स्थानीय विशिष्टताओं का भी वह उपभोग की वस्तु बनाता जा रहा है।

काशीनाथ सिंह सामाजिक संरचना के बिखराव के मूल्यों

को बड़ी सजगता एवं पैनी दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने उन सूत्रों की खोज करने की कोशिश की है जिनके कारण आपसी रिश्तों में बिखराव होने शुरू हुए हैं। काशीनाथ सिंह ने अपनी कहानी 'आखिरी रात' में पति-पत्नी के संबंधों में किस प्रकार बिखराव होता है, इस पर दृष्टि डाली है। उन्होंने दिखाया है कि आर्थिक परिस्थितियाँ किस प्रकार मानवीय संवेदना पर हावी हो जाती हैं। इस कहानी में पत्नी- अपने विवाह के उपरान्त पहली बार अगली सुबह मायके जाने वाली है। इसलिए पत्नी-पति उस रात को यादगार रात के रूप में मनाने की चाह रखते हैं लेकिन वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत गुजरती है। पति-पत्नी के बीच के प्यार में कुछ वस्तुओं के कारण तनाव आ जाता है। तनाव का कारण है कि पत्नी पति से अपने मायके के लोगों के लिए कुछ वस्त्र एवं उपहार की मांग करती है, जबकि पति आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उपहार इत्यादि देने से इन्कार कर देता है। ''सुनो, मेरे शब्दों में संयम है। कहने के ढ़ंग में समझाने का भाव, तुम्हें घर की हालत मालूम है और ये महिने के अन्तिम दिन है।''[2]

इतना ही नहीं पति के इस जवाब से पत्नी की स्थिति क्या होती है, इसे इस उद्धरण में देखा जा सकता है।

''पत्नी ने सम्भवत: इस तनाव की कल्पना नहीं की थी। वे कुछ हतप्रभ सी हो उठती हैं। उनका सिर झुक जाता है आँखें नीचे की ओर देख रही है।''[3]

थोड़ी देर पहले पत्नी-पति के बीच में जो प्यार के क्षण व्यतीत हुए थे उसको आर्थिक मूल्य ने तनाव के रूप में बदलकर रख दिया। सन्तरा कहानी में भी पारिवारिक विघटन एवं आपसी तनाव का कारण अर्थाभाव दिखाई देता है। कहानी के नायक सीताराम की आमदनी इतनी नहीं थी कि वे अपने परिवार के लिए सन्तरा खरीद सकें। एक दिन सीताराम जब दफ्तर से घर की ओर आ रहे थे। तभी फल की दुकान से किसी ने उनको आवाज दी। सीताराम जी ने देखा कि दूसरी मंजिल वाले कार्यालय के सहाय बाबू सन्तरे का रस पी रहे थे। सहाय बाबू ने सीताराम से कुछ दफ्तर संबंधी बातें जानने के लिए एक गोल पीला और खूबसूरत सन्तरा दिया। सहाय बाबू जिस समय अपने में खोए हुए कुछ विचार करके मुस्करा रहे थे और जीभ पर बर्फके टुकड़े को ढुलका रहे थे, उसी समय सीताराम ने उनकी आँख के सामने औचक में सन्तरा का छिलका दबा दिया। सहायबाबू के संभलने के पहले ही उनके हाथ से गिलास छूटा और सुकुल जी के कमीज-पतलून पर लुढ़कना हुआ नीचे गिरकर चूर-चूर हो गया। सहायबाबू फंल वाले से पैसे देने निकले। ''गली के नुक्कड़ तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें ऐसी हंसी छूटी कि साइकिल से उतर जाना पड़ा कहीं वह गिलास मेरे हाथ में रहा होता और टूट जाता...।''[4] इतना ही नहीं घर पहुँचने के बाद सीताराम की बच्चियों को उनके मुख से आने वाले सन्तरे की खुशबू से कुछ शक हुआ। इस पर उनकी पत्नी ने इनको बेशर्म कहकर उलाहना दिया। आप स्वयं बाहर फिजूल खर्च करते हैं और सन्तरे खाते है जबकि घर में गरीबी का अभिशाप घेरे हुए है। काशीनाथ सिंह ने महानगरीय जीवन की आर्थिक समस्याओं को समझा है और शिद्दत के साथ इन विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। यह बात भी सही है कि अर्थाभाव के कारण समाज में कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'अपने घर का देश' में कथानक को कई प्रकार की आर्थिक समस्याओं का सामना करते हुए दिखाया है। 'अपने घर का देश' में नायक के लिए 'मैं' सर्वनाम का प्रयोग लेखक ने किया है। नायक एक ऐसे कमरे में रहता है जिसकी तीन ही दीवार है। उसी कमरे में नायक की पत्नी, माँ और उसकी दो बच्चियाँ भी है। इस कमरे की चौथी दीवार गिर पड़ी है। दीवार किसके अधिकार क्षेत्र में हैं इसको लेकर मैं और उसके पड़ोसी पंडित के बीच विवाद उत्पन्न हो गया है। कथानायक की आर्थिक दशा बहुत कमजोर है इसी कारण वह अपने आप दीवार खड़ा करने में सक्षम नहीं है। घर की स्थिति काफी दयनीय है फिर भी वह अपने परिवार को किसी न किसी प्रकार जीवित रखे हुए है। कमरा भी सामान से भरा हुआ है।

''फर्श पर जो जगह बची है, वहाँ विवाह में मिला एक पलंग है। पलंग में एक ओर पाए हैं और दूसरी ओर ईंट, ईंटों पर सम्हला पलंग रैक के सहारे टिका है। मात्र चार कब्जों का मामला है, जिनके बगैर पलंग महीनों से चल रहा है।''[5]

काशीनाथ सिंह ने एक सामान्य नागरिक की हैसियत से जीवन की विसंगतियों पर अपनी लेखनी चलाई है। उन्होंने अपने आस-पास की घटने वाली घटनाओं को कथा-साहित्य का विषय बनाया है। समाज में प्रत्येक दल ऐसी कुछ घटनाएँ घटती रहती हैं, जिसके अभ्यस्त लोगों को ये सब कुछ मामूली लगने लगता है। ऐसी घटनाओं को काशीनाथ सिंह ने पैनी दृष्टि से देखा है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'सूचना' में प्रतिदिन किसी-न-किसी गली, चौराहे, नुक्कड़ अथवा सड़क पर घटने वाली खौंफनाक घटनाओं के प्रति मानव की तटस्थता को केन्द्र में रखा गया है। एक व्यक्ति के दिल को दहला देने वाली घटना दूसरे व्यक्ति के लिए एक

सूचना बनकर रह जाती है। आज मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि सार्वजनिक स्थल पर सामान्य व्यक्ति या आज मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया है कि सार्वजनिक स्थल पर सामान्य व्यक्ति या अनजान व्यक्ति के प्रति होने वाली घटनाओं एवं दुर्घटनाओं का कोई मतलब नहीं है। इस कहानी में काशीनाथ सिंह ने दिखाया है कि बाढ़ भूखमरी फैलने पर प्रकृति के विषम रूप धारण करने पर मौका परस्त लोगों की चाँदी हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन-साधारण परेशान हो उठता है। ''जब से बाढ़ आई है, रिक्शे मुश्किल से मिलते हैं। हालांकि यही एक सड़क है जिसे बाढ़ ने बख्शा है। रिक्शों, इक्कों, तांगों, साइकिलों और स्कूटरों का जमघट है। हार्न और घंटियों का मचता हुआ शोर है, सवारियों की लूट है - सब है, लेकिन रिक्शों के भाड़े दुगुने हो गए हैं। इसलिए सवारियाँ भी जहाँ की तहाँ है और रिक्शे भी।''[6]

काशीनाथ सिंह की अपनी कहानी 'तीन काल कथा के तीसरे दृश्य' में भूख और गरीबी से अत्यधिक परेशान होकर आत्महत्या हेतु निठोहर कुएँ में जा बैठा तब समस्त जनता उसकी भूख को मिटाने की चिन्ता न करके कुएँ की पवित्रता को बनाए रखने की चिंता करती है। ''साहेब, वह कुएँ में मर गया तो हम पानी कहाँ पियेगे ? ..... 'एक ही कुआ है। ....' उस कुएँ को छोड़ पानी के लिए हमें तीन कोस दूर दूसरे गाँव जाना पड़ेगा।''[7]

बस्तीवाले बताते है कि वह डोर पकड़ने के नहीं, मरने के इरादे से अन्दर गया है। वह भूख से तंग आ चुका है।''[8]

पुलिस व्यवस्था भी जब निठोहर को आसानी से निकालने में कामयाब नहीं होती तब निठोहर को किसी प्रकार रस्सी के फंदे में फंसाकर ऊपर खींच लिया जाता है। इस प्रकार जनता की पानी की समस्या तो दूर हो जाती है और निठोहर को जीवन से मुक्ति मिलने के कारण भूख की समस्या दूर हो जाती है।

काशीनाथ सिंह 'कविता की नई तारीख' कहानी में अपनी दृष्टि मध्यवर्ग के ऊपर ही केन्द्रित करते हैं कि किस प्रकार कथानायक को आर्थिक दबाव के चलते स्वयं तथा पत्नी के बीच तनाव से गुजरना पड़ता है।

काशीनाथ सिंह अपने समय और समाज के बदलते स्वरूप पर पूरा ध्यान रखते हैं। किस प्रकार लोगों के मन में अपनी तरक्की के चक्कर में दूसरों के सुख का बलिदान करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं है, इसे उन्होंने ठीक से देखा है। सम्पूर्ण समाज की उस आर्थिक प्रक्रिया का उन्होंने संवेदनात्मक अनुभव किया है। ऐसा अनुभव जिसे सामान्य व्यक्ति कभी कर ही नहीं सकता है। काशीनाथ सिंह ग्रामीण एवं शहरी स्वरूप के बदलाव को बड़ी तन्मयता के साथ देखते हैं। वे देखते हैं कि आर्थिक मुद्दे किस प्रकार से हावी होते जा रहे हैं और मनुष्य की संवेदना खत्म होती जा रही है। आज जब आधुनिकता का दौर गुजरा रहा है तो समस्याएँ और भी जटिल होती जा रही हैं। आज के समय में शहर ही नहीं बल्कि ग्रामीण स्वरूप में भी व्यापक बदलाव दिखाई दे रहा है।

व्यक्ति के हृदय में आर्थिक पक्ष इतना ज्यादा समा गया है कि उससे उबर पाना काफी मुश्किल लग रहा है। इतना ही नहीं, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं पर भी आर्थिक पक्ष अधिक बलशाली नजर आने लगा है जहाँ धर्म एवं संस्कृति व्यक्ति के श्रद्धा एवं भक्ति के विषय होते थे वही आज के समय में लोगों के लिए आर्थिक विषय के प्रश्न बनते जा रहे हैं। काशीनाथ सिंह इन सारे पक्षों को 'काशी का अस्सी' में बखूबी देखा जा सकता है। वे लिखते हैं -

''देखो तो क्या थे पाण्डेय धर्मनाथ शास्त्री ? घाट की कमाई खाने वाले पंडा। घाट पर छतरी के नीचे शीशा, कंघी, चन्दन, टिकुली, लुटिया में गंगाजल लेकर बैठने वाले पाँड़े जी। पुरखों ने विरासत में उन्हें दो चीजें दी थीं - जजमानी में मिला दो कोठरी का मकान और घाट पर छतरी के नीचे पत्थर की पटिया ! साथ में जीविकोपार्जन के लिए संकल्प कराने की विधि कह रहे थे।''[9]

आचार्य शास्त्री जी अपनी हैसियत का बखान करते जा रहे थे और उनकी पत्नी ध्यान से सुने जा रही थी - ''शास्त्री बोले जा रहे थे और पंडाइन सुने जा रही थीं - मुँह बाए। उन्होंने जिन्दगी में इकट्ठे न इतने रूपये देखे थे। कहाँ से मिलते हैं और इतने रूपये ? कौन देता है ? किसलिए देता है ? या इसीलिए कि अपने गंजी और सुथना पहन के घूमों सब कुछ दिखाते और झलकाते हुए और मुफ्त में लुटा दो यह दौलत ? सोचो तो, मुफ्त में कोई क्यों देगा।''[10] धन कमाने के लिए पाण्डेय जी को क्या से क्या नहीं करना पड़ता है। यहाँ प्रमुख उद्देश्य धन कमाना हो गया है न कि श्रद्धा - भक्ति का विषय। लोग एक तरफ भूख की पीड़ा से मर रहे हैं तो दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं जिनके पास पैसे की कोई कमी नहीं है। इस पूरे सामाजिक-आर्थिक अन्तर्द्वन्द्व को उभारने की कोशिश काशीनाथ सिंह ने अपने कथा-साहित्य में की है।

आज नगरीकरण से महानगरीकरण की समस्या बढ़ती जा रही है। ऐसी समय में लोगों के समक्ष अनेक आर्थिक समस्याएँ

भी आने लगी हैं। आज के इस दौर में तो दिनोंदिन अनेक परेशानियों से लोगों को गुजरना पड़ता है। समय, समाज और मनुष्य ये सभी आपस में बंधे हुए हैं। अगर इनमें असन्तुलन पैदा हुआ तो पूरी सामाजिक, आर्थिक संरचना की प्रक्रिया अवरुद्ध होने लगेगी। काशीनाथ सिंह अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में उस पूरी प्रक्रिया पर प्रकाश डालने की कोशिश की है। इस उपन्यास के नायक रघुनाथ ने तो अपने बेटे-बेटी की पढ़ाई हेतु जमीन को गिरवी रख दिया। परन्तु वे सभी रघुनाथ की आशाओं पर खरे नहीं उतर पाये। उन्होंने तो रघुनाथ की मान-मर्यादा, इज्जत, संस्कृति, संस्कार संबंध नैतिकता, रिश्ते सबको ही गिरवी रख दिया। इसकी पीड़ा रघुनाथ के अन्तर्मन में अन्त तक बनी रहती है। इस उपन्यास में काशीनाथ सिंह की दृष्टि सामाजिक-आर्थिक मूल्यों पर टिकी हुई है इसीलिए उनके मन का अन्तर्द्वन्द्व रघुनाथ के माध्यम से व्यक्त होता है। काशीनाथ सिंह ने दिखाया है कि किस प्रकार आर्थिक समस्याएं सामने आती है। 'रेहन पर रग्घू' नामक उपन्यास में नगरीकरण की समस्या को भी उभारा गया है। क्रमश: गाँव कस्बे में और कस्बे शहर में तब्दील हो रहे हैं। चिन्ता इस विषय यह नहीं है कि शहर का फैलाव हो रहा है, बल्कि चिन्तनीय यह है कि शहर के माध्यम से अनेकानेक सुख-साधनों के साथ -साथ अनेक कुप्रवृत्तियाँ गँवई जनमानस और समाज में अपने पाँव फैला रही है। फलस्वरूप गाँव का सरल स्वभाव वाला व्यक्ति छला जा रहा है। समाज में विविध दाँव-पेंच, छल-प्रपंच का आगमन होने लगा है। पढ़ा-लिखा युवा वर्ग शहर की सुख-सुविधाओं की ओर आकर्षित होकर पलायन कर रहा है। इसका शिकार लगभग हर परिवार हो रहा है। इसके कारण अनेक समस्याएँ भी समाज के सामने आ रही है। आर्थिक तंगी और भूख की पीड़ा से व्यक्ति पीड़ित हो रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि काशीनाथ सिंह ने अपने कथा-साहित्य में आर्थिक तंगी एवं भूख की पीड़ा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

सन्दर्भ सूची

1. वनास, सं. पल्लव, पृ.131
2. कहनी उपखान, काशीनाथ सिंह, पृ. 47
3. वही
4. सदी का सबसे बड़ा आदमी, काशीनाथ सिंह, पृ. 97
5. लोग बिस्तरों पर, काशीनाथ सिंह, पृ. 47
6. आदमीनामा, काशीनाथ सिंह, पृ. 10
7. प्रतिनिधि कहानियाँ, काशीनाथ सिंह, पृ. 20
8. वही, पृ. 21
9. काशी का अस्सी, काशीनाथ सिंह, पृ. 125-126
10. वही, पृ. 127

ISSN 2278 - 0327

गोस्वामी तुलसीदास और उनका युग

लक्ष्मी राठौड़
शोधार्थी, अहिंसा एवं शांति विभाग
जैन विश्व भारती डीम्ड विश्वविद्यालय (संस्थान)
लाडनू नागौर, राजस्थान

सारांशिका -

काव्य-गगन के सूर्य तुलसीदास ने अपने अमर आलोक से हिन्दी साहित्य-लोक को सर्वभावेन देदीप्यमान किया। उन्होंने काव्य के विविध स्वरूपों तथा शैलियों को विशेष प्रोत्साहन देकर भाषा को खूब संवारा और शब्द-शक्तियों, ध्वनियों एवं अलंकारों के यथोचित प्रयोगों के द्वारा अर्थ-क्षेत्र का अपूर्व विस्तार भी किया। उनका बाह्य दृश्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और चिंतन, उनकी आभ्यंतरिक वृत्तियों की अद्वितीय अनुभूति-प्रवणता आदि सभी आदर्श हैं। उनकी कृतियों में लोक-व्यवहार-निपुणता एवं सद्ग्राहिता का मणिकांचन योग भी देखते ही बनता है। उनके सौंदर्य-बोध, मात्रा-बोध प्रातिभ ज्ञान की संसृष्टि भी अनुपम है। उनकी रचनाओं में शीलता का पूर्ण परिपाक है और उनका काव्य कहीं भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। उनकी साहित्यिक देन भव्य कोटि का काव्य होते हुए भी उच्चकोटि का ऐसा शास्त्र है, जो किसी भी समाज को उन्नयन के लिए आदर्श, मानवता एवं आध्यात्मिकता की त्रिवेणी में अवगाहन करने का सुअवसर देकर उसमें सत्पथ पर चलने की उमंग भरेगा।

मुख्य शब्द - तिरोभाव, आलोच्य, वाच्छिन्न, अभिषिक्त, विरलतम, तादात्म्य, आत्मगवेषणात्मक।

महाकवि तुलसीदास की अवतारणा हमारे साहित्य के इतिहास की एक क्रांतिकारी घटना है। उनके कवि-व्यक्तित्व की सहभागिता में चलने वाले तो बहुत से, उनकी समकक्षता में आने वाले एक आध, किन्तु उनकी स्पर्धा कर सकने का सौभाग्य पाने वाला हिन्दी साहित्य में अद्यावधि कोई दूसरा नाम नहीं दृष्टिगत होता। वे न केवल हिन्दी के वरन् उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं विचारक माने जा सकते हैं। ऐसे भक्तशिरोमणि और कविकंठाभरण, जिनकी वाणी का मंजु घोष करोडों उरों से निनादित हो रहा है और जो हिन्दी साहित्य के विचक्षण समालोचकों द्वारा ही नहीं अपितु पाश्चात्य चूडांत विद्वानों से भी हिन्दी काव्यगगन के मार्तण्ड स्वीकृत किये जा चुके है, उन गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं युग-विशेष पर प्रकाश डालना प्रस्तुत लेख का लक्ष्य है। यहां 'युग' शब्द का तात्पर्य भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'युग' एक शाश्वत निखच्छिन अबाध गति से प्रवाहित होने वाले अनंत सांसारिक प्रवाह की एक सीमा-विशेष में आबद्ध काल-विस्तार है। दूसरे शब्दों में यदि काल समयरूपी वृत्त की परिधि है तो युग उनका एक चाप मात्र है। इस प्रकार आलोच्य विषय की सीमा में तुलसीदास के आविर्भाव के समय से लेकर तिरोभाव तक की अवधि का समावेश होगा।

इस सीमा के भीतर हिन्दू संस्कृति का कैसा उत्कर्षापकर्ष हुआ, कैसे सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विचारों की गूंज उठी और कैसे-कैसे उद्भव प्रचारक या सुधारक समाज के कर्णधार बनकर आए और उसे उन लोगों ने किस प्रकार की ओर बहाया, समाज उसमें कहां तक बहा और प्रवाह की प्रतिक्रिया उसका घातप्रतिघात किस रूप में अनवरत हुआ, इन विभिन्न स्थितियों को तुलसी ने किस रूप में देखा और किस अंश तक वे अपने युग के चक्रव्यूह में अवरुद्ध या अनवरूद्ध हुए इन सबका स्पष्टीकरण ही तुलसी के युग का दिग्दर्शन करना होगा। परंतु इतने विस्तृत विषय का विवेचन एक लघुविस्तारी निबंध में केवल पल्लवग्राही ही हो सकता है, तलस्पर्शी नहीं।

महाकवि अपने युग का ज्ञापक एवं निर्माता होता है, इस कथन की पुष्टि गोस्वामी जी की रचनाओं से सवा सोलह आने होती है। जहां संसार के अन्य कवियों ने साधु-महात्माओं के सिद्धांतों पर आसीन होकर अपनी कठोर साधना या तीक्ष्ण अनुभूति तथा घोर धार्मिक कट्टरता या साप्रदायिक असहिष्णुता से भरे बिखरे छंद कहे है और अखंड ज्योति की कौंध में कुछ रहस्यमय, धुंधली और अस्फुट रेखाएं अंकित की है अथवा लोक-मर्मज्ञ की है सियत से सांसारिक जीवन के तप्र या शीतल एकांत चित्र खींचे है, जो धर्म एवं अध्यात्म से सर्व या उदासीन दिखाई देते हैं

वहीं गोस्वामी जी ही ऐसे कवि है, जिन्होंने इन सभी के नानाविध भावों को एक सूत्र में गुम्फित करके अपना अनुपमेय साहित्यिक उपहार प्रदान किया है। उनकी कृतियां बहुत ऊंची है, पर उनसे भी अधिक ऊंचा है उनका भव्य व्यक्तित्व।

यह उनके साधु जीवन और व्यक्तित्व का ही प्रभाव है जो उनकी काव्य-प्रतिभा से चमतकृत चेतना-तरंगिणी एक ओर विमल भक्ति के कुल को और दूसरी ओर मानवता के सम-विषम, तट को चूमती चलती है। उनके काव्य में आत्मगवेषणात्मक वृतियों के जो उद्बोधन दिखाई पड़ते हैं, वे सब उनके उदार व्यक्तित्व के ही सहज उद्‌गार हैं। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपनी अद्वितीय कवित्व-शक्ति और अनन्य साधुता के संयोग का अपूर्व अमृतमय सुभग फल हिंदी साहित्य को देकर उसे युग युगांतर के लिए अमर कर दिया है।

यद्यपि होनहार बिखा के चिकने पत्ते आरंभ में ही उसकी श्रेष्ठता का आभास देते हैं, पर वस्तुत: उसका महत्व रूप उसकी उपयोगिता तो कालान्तर में ही प्रकट होती है। प्रकृति वह नाना प्रकार के सम-विषम वातावरण में लालित-पालित होने के बाद ही वृक्ष की संज्ञा प्राप्त करता है और शीतल छाया प्रदान करता है। महाकवि के काव्य विकास को भी ऐसा ही समझना चाहिए। वह अपनी काव्य शाक्ति तो जन्म से ही लेकर आता है, किंतु इस बीज का विकास और परिपाक समयोपरांत ही होता है। इस बीज के विकास के साधन है- अनेक शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन, जीवन का व्यापक अनुभव एवं कविता करने का सतत अभ्यास कवि की नैसर्गिक काव्य प्रतिभा ज्यों-त्यों इन साधनों का योग वाही जाती है, त्यों-त्यों वह निखरती चली जाती है। काव्य प्रतिभा के इस विकास क्रम के आधार पर उनकी कृतियों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है - प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी। प्रथम श्रेणी में उनके काव्य - जीवन के प्रभातकाल की ये कृतियां आती है जिनमें एक साधारण नवयुवक की रसिकता, सामान्य काव्यरीति का परिचय, सामान्य संसारिक अनुभव, सामान्य सहृदयता तथा गंभीर आध्यात्मिक विचारों का अभाव मिलता है। इनमें वर्ण्य विषय के साथ अपना तादात्म्य करके स्वानुभूतिमय वर्णन करने की प्रवृति अवश्य वर्तमान है, इसी से प्रारम्भिक रचनाएं भी इनके महाकवि होने का आभास देती हैं। इस श्रेणी में 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'जानकी-मंगल' परिगणनीय है। दूसरी श्रेणी में उन कृतियों को समझना चाहिए जिनमें कवि की लोक-व्यापिनी बुद्धि, उसकी सद्‌ग्राहिता, उसकी काव्य के सूक्ष्म स्वरूप की पहचान, व्यापक सहृदयता, अनन्य भक्ति और उसके गूढ आध्यात्मिक विचार विद्यमान है। इस श्रेणी की कृतियों को हम तुलसी के प्रौढ और परिपक्व काव्य काल की रचनाएं मानते हैं। इसके अंतर्गत 'रामचरितमानस' पार्वती मंगल है, 'गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' का समावेश होता है।

अंतिम श्रेणी में उनकी उत्तरकालीन रचनाएं आती हैं। इसमें कवि की प्रौढ़ प्रतिभा ज्यों की त्यों बनी हुई है और कुछ में वह आध्यात्मिक विचारों को प्राधान्य देता हुआ दिखाई पड़ता है। साथ ही वह अपनी अंतिम जरावस्था का संकेत भी करता है तथा अपने पतनोन्मुख युग की चेतावनी भी देता है। विनय-पत्रिका, कवितावली, हनुमान बाहुक, दोहावली इसी श्रेणी की कृतियां मानी जा सकती हैं।

गोस्वामी जी की साहित्यिक जीवनी के आधार पर कहा जा सकता है कि वे आजन्म वही रामगुण गायक बने रहे जो वे बाल्यकाल में थे। इस रामगुण गान को सर्वोत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त करने के लिए उन्हें संस्कृत-साहित्य का अगाध पांडित्य प्राप्त करना पड़ा। उनकी साहित्यिक जीवनी से यह भी स्पष्ट तथा परिलक्षित होता है कि उनकी काव्य प्रतिभा का विकास राम कथा के घेरे में ही उत्तरोत्तर होता रहा।

'रामललानहछू' 'वैराग्य-संदीपनी' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' आदि रचनाएं उनकी प्रतिभा के प्रभातकाल की सूचना देती है। इसके अनंतर यही प्रभात 'रामचरितमानस' के रचनाकाल तक पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर ज्योतिर्मान हो उठा है। उनके जीवन का वह व्यावहारिक ज्ञान, उनका वह कला प्रदर्शन का पांडित्य जो 'मानस', 'गीतावली', 'कवितावली', 'दोहावली' और 'विनयपत्रिका' आदि में परिलक्षित होता है, वह अविकसित काल की रचनाओं में है। रामकथा के भीतर हम तुलसीदास की जिन चारित्रिक विशेषताओं का दर्शन करते हैं, वे भी विचारणीय है। उनके चरित्र की सर्वप्रधान विशेषता है उनकी रामोपासना। उन्हें सदैव अपनी इस वृत्ति पर गर्व रहा। लोक देव की मर्यादा के प्रति अनन्य आस्था और विश्व कल्याण की कामना उनके चरित्र की अन्य विशेषताएं हैं। उनके उपास्य श्री रामचन्द्र ही जब इन लक्ष्यों की सिटी के लिए अवतरित हुए थे, तो तुलसीदास जी का व्यक्तिगत चरित्र इन गुणों से क्यों न भूषित होता ?

सहिष्णुता और तितिक्षा उनकी अन्य विशेषताएं है। काशी वासियों के नाना प्रकार के उत्पीड़न को सहते हुए भी वे अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं हुए। आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए अपनी निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता का संबल लेकर वे कालांतर में एक सिंह साधक का स्थान प्राप्त करने में सफल हुए। हदय की प्रगाढ़

कोमलता उदारता और गुणग्राहिता गोस्वामी जी की अन्य स्वभावगत विशेषताएं हैं। 'मानस' के सभी भक्त पात्रों की प्रकृति मानों इन्हीं विशेषताओं में ढली है।

गोस्वामी तुलसीदास प्रकृत्या एक कांतदर्थी कवि थे। उन्हें युग द्रष्टा की उपाधि से भी विभूषित किया जा सकता है। वे मात्र एकांत सेवी महात्मा या तपस्वी ही नही थें। उन्होनें तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश को खुली आखों से देखा था और अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उसके संबंध में अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है। उन्होनें देखा कि समकालीन समाज प्राचीन सनातन परंपराओं को भंग करके पतन की ओर बढ़ा जा रहा है। शासकों द्वारा सतत शोषित दुर्भिक्ष की ज्वाला से दग्ध प्रजा की आर्थिक और सामाजिक स्थिति की कर्त्तव्यविमूढता की स्थिति में पहुंच गई है। समाज के सभी वर्ग अपने परंपरागत व्यवसाय को छोड़कर आजीविका विहीन हो गए हैं। शासकीय शोषण और उत्पीडन तो है ही, साथ ही भीषण महामारी, अकाल, दुर्भिक्ष आदि का प्रकोप भी अत्यंत उपद्रवकारी है। जब राजा ही चोर और लुटेरा हो गया हो तो प्रजा का पथभ्रष्ट होना स्वाभाविक ही है। वर्णाश्रम व्यवस्था के भंग होने के दुष्परिणाम स्पष्ट थे। साधुओं का उत्पीडन और खलों का उत्कर्ष बड़ा ही विडंवनामूलक था।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने एक ओर इन सभी दानवीय लीलाओं की बड़ी आलोचना की और दूसरी ओर उन सबके हितार्थ जनता के समक्ष भव्य आदर्श प्रस्तुत किए। उन्होने न केवल अपनी कृतियों के माध्यम से लोकाराधन लोक रंजन और लोकसुधार का प्रयास किया बल्कि रामलीला का सूत्रपात करके इस दिशा में अपेक्षाकृत और भी ठोस कदम उठाया। उनके समय से रामलीला का जो क्रम चला वह शनैः शनैः उत्तरापथ के सभी भागों में प्रचलित हो गया। अब तो यह रामलीला विभिन्न मंडलियों के माध्यम से उन प्रांतों में भी पहुंच गई, जहां हिंदी का प्रचार नहीं है। गोस्वामी जी का सम्मान उनके जीवन काल में इतना व्यापक हुआ कि अपने समकालीन समाज में वे महर्षि वाल्मीकि के अवतार रूप में स्वीकृत हो गए।

'रामचरितमानस' के रूप में गोस्वामी जी की देन अप्रतिम है। यह ऐसा महाकाव्य है जिसमें प्रबंध पटुता की सर्वाङ्गीण कला का पूर्ण परिपाक हुआ है। क्या भाषा, क्या भाव, सभी दृष्टि से उनकी रचना दोष रहित है। पदों की भाषा में प्रांतीयता और तोड़-मरोड़ की जो गांठे थी उन्हें धुलाकर सार्वदेशीय सुसंस्कृत ब्रजभाषा का बेजोड़ प्रयोग करना भी तुलसी ने ही सिखाया। प्रबन्धकार और मुक्तककार दोनों रूप में उनकी सफलता उत्कृष्ट कोटि की है। कवि, विचारक, दार्शनिक, भाषाविद्, विद्वान्, लोक-व्यवहारज्ञाता, जन-नायक और बहुमुखी प्रतिभा के धनी गोस्वामी तुलसीदास के विषय में जितना कहा, सुना था लिखा जाय सब थोडा है।

संदर्भ -

1. विनयपत्रिका पद - 63
2. कवितावली, उत्तर, छंद - 67
3. दोहावली, दोहा - 556 4. कवितावली, उत्तर, छंद- 977
5. कवितावली, छंद - 85

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. गोस्वामी तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में, जगदीश शर्मा, राजस्थानी साहित्य संस्थान, जोधपुर प्रथम संस्करण - 1995
2. तुलसीदास कृत कवितावली, सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण - 2000
3. तुलसीदास, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1999
4. तुलसी के हिय हेरी, विष्णुकान्त शास्त्री, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1990
5. तुलसी - साहित्य के सांस्कृतिक आयाम, डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा प्रकाशन हिन्दी साहित्य संस्थान, रोहतक, प्रथम संस्करण - 1995
6. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- 2003
7. तुलसी, उदयभानु सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण - 1976
8. तुलसीदास, माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, सातवां संस्करण 2005
9. रामचरिमानस के अनुवाद, डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, भारतीय अनुवाद परिषद, प्रथम संस्करण - 1992

ISSN 2278 - 0327

चरकसंहिता में वर्णित हेतुसूत्र का स्वरूप

प्रियंका
शोधछात्रा, एम.फिल.
संस्कृत विभाग
हि० प्र० वि० वि०

समस्त प्राणी जगत् के जीवन का आयुर्वेद अभिन्न अंग है। जन्म से लेकर मृत्यु तक आयुर्वेद के औषधीय ज्ञान की आवश्यकता होती है। सभी प्रकार के रोगों का कारण, उनके उपचार, स्वस्थ रहने के विभिन्न उपाय जिनसे जीवनभर निरोग रह सकते हैं, इन सबका ज्ञान आयुर्वेद के द्वारा होता है।[1] आयुर्वेद का महत्त्वपूर्ण ज्ञान चारों वेदों में से अथर्ववेद में विस्तार से होता है। इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि मनुष्य निरोग व स्वस्थ रहते हुये दीर्घायु को प्राप्त करें।

जीवास्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्।[2]

अर्थात् जल की तरह शान्त स्वभाव वाले सज्जनों! आप मुझे दीर्घायु प्रदान करें। आयुर्वेद का मुख्य आधार उसके सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों के बिना व्यक्ति आयुर्वेद को नहीं जान सकता है। चरकऋषि द्वारा रचित कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ 'चरकसंहिता' आयुर्वेद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। इन सिद्धान्तों में सबसे प्रमुख सिद्धान्त है- त्रिसूत्र सिद्धान्त। त्रिसूत्र में हेतु, लिंग एवं औषध (द्रव्य) ये तीन सूत्र आते हैं। इनमें सर्वप्रथम व मुख्य है हेतुसूत्र। हेतु का अर्थ है- कारण। जैसे- बिना कारण के कोई कर्म नहीं होता उसी प्रकार रोग भी बिना कारण के नहीं होते है।[3] सुश्रुतसंहिता के अनुसार शरीर और मन के आश्रित शारीरिक, मानसिक रोग मनुष्य के दु:खों का कारण होते हैं।[4] जल्पकल्पतरू[5] में भी हेतु का अर्थ है कारण, बीजरूप। जो किसी उत्तम स्वास्थ्य का कारण हो सकता है तथा किसी रोग का भी कारण हो सकता है। अत: हेतु का अर्थ है जो मनुष्य के शरीर में रोगों का कारण है। जब किसी रोग के कारण को निश्चित किया जाये तो वह निदान कहलाता है। इसका अर्थ है रोग के कारण तथा लक्षणों का निश्चित रूप ज्ञात होना।[6] किसी भी रोग के बाहरी लक्षणों से प्रारम्भ करके उसके मूल कारण का पता लगाना निदान है। जब तक रोग की चिकित्सा नहीं की जा सकती है। निदान का अन्य अर्थ निमित्त कारण भी है। वात-पित्त-कफ दोषों को कुपित करने से निदान रोगों का निमित्त कारण है। रोगों की प्रकृति 2 प्रकार की होती है- निज एवं आगन्तुक।[7]

निज रोगों में पहले वात-पित्त-कफ की अधिकता होती है। उसके बाद कष्ट होता है। परन्तु आगन्तुक रोगों में पहले कष्ट होता है फिर कारण का पता चलता है। जैसे- दांत निकलना, नाखुन निकलना, चोट लगना, किसी कांटे इत्यादि का चुभना।

शरीर तथा मन के आश्रित रोगों का काल, इन्द्रिय एवं कर्म के विषयों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग होना ही मुख्य कारण है। हेतु को सर्वप्रथम तीन भागों में विभाजित किया है- (1) काल (2) इन्द्रिय (3) कर्म। इसके पश्चात् इन तीनों के क्रमश: अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग भेद से तीन-तीन उपभेद हो जाते हैं।

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रह:।।[8]

अर्थात् शरीर और मन के आश्रित रोगों की उत्पत्ति में काल, बुद्धि एवं इन्द्रियों के विषयों का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग कारण होता है। इस प्रकार हेतु में इनका संग्रह किया गया है। काल के अन्तर्गत सब प्राणियों का जन्म एवं मृत्य होती है। इसका कोई अन्त नहीं है तथा यह निरन्तर चलता रहता है।[9] सृष्टि में उत्पन्न होने वाले सभी कार्य काल नामक द्रव्य के द्वारा ही पैदा होते है। यह एक प्रकार का होने पर भी उपाधि भेद से क्षण, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष आदि भागों में विभक्त होता है।

कालजस्त्वेन पुरूष: कालजास्तस्य चामया:।
जगत् कालवंश सर्वं काल: सर्वत्र कारणम्।।[10]

तात्पर्य यह है कि मनुष्य के उत्पन्न होने में, रोगों की उत्पत्ति में काल ही कारण है। यह समस्त संसार काल के वश में है और

काल के कारण सभी कार्यों की सिद्धि होती है। काल को प्रथमत: दो भागों में विभाजित किया गया है-(1) नित्यग (2) आवस्थिक। आवस्थिक काल में रोगी की अवस्था के अनुसार भोजन दिया जाता है तथा नित्यग काल में रोगी या स्वस्थ व्यक्ति को जिस ऋतु में जो भोजन अपेक्षित हो, उसका सेवन करना चाहिये। नित्यग काल संवत्सरकाल भी कहलाता है। यह निरन्तर गमन करता रहता है। संवत्सररूप काल उत्तरायण तथा दक्षिणायन से दो भेद का, हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा के भेद से तीन प्रकार का, छ: ऋतुओं (शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त) से छ: भेद वाला, बारह मास से बारह भेद का, इस प्रकार से बांटा गया है।[11]

संशोधन और प्रयोग की दृष्टि से मुख्य रूप से शीत, उष्ण और वर्षा के लक्षणों से युक्त हेमन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा इन ऋतुओं को संवत्सर काल कहते हैं। इनके अतिरिक्त शिशिर, वसन्त तथा शरद् साधारण काल की ऋतुयें हैं। इन ऋतुओं में वमन, विरेचन आदि क्रियाएँ की जाती है तथा ये ऋतुएँ शरीर के लिये कष्टकारी नहीं होती और न ही कोई रोग प्रभावी होता है।[12] हेमन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा शरीर के लिये कष्ट देने वाली, रोगों को उत्पन्न करने वाली ऋतुएँ हैं। इनका वर्णन रोगों के कारणरूप में किया गया है। काल का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले रोगों का कारण बनता है।

हेमन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतुओं के शीतादि लक्षणों का अत्यधिक मात्रा में होना काल का अतियोग है। जैसे- हेमन्त ऋतु में सर्दी सामान्य से अधिक पड़ रही है। ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक गर्मी है, तथा वर्षा ऋतु में अधिक मात्रा में वर्षा हो रही है। यदि शीत, उष्ण और वर्षा ये ऋतुओं के लक्षण कम मात्रा में प्रकट होते हैं तो अयोग कहलाता है। यथा- हेमन्त ऋतु में सर्दी नहीं पड़ रही, ग्रीष्मकाल में सामान्य से कम गर्मी है तथा वर्षा ऋतु में कम वर्षा हो रही है।

इसी प्रकार शीतोष्णादि लक्षणों का अपनी स्वाभाविक प्रकृति के विपरीत व्यवहार करना मिथ्यायोग है। जैसे-हेमन्त ऋतु में सर्दी के स्थान पर गर्मी का मौसम है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा हो रही है तथा कभी वर्षाकाल में सर्दी का वातावरण है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा हो रही है तथा वर्षाकाल में कभी सर्दी है तो कभी गर्मी पड़ रही है। यह ज्ञान न होना कि कौन-सा ऋतुकाल है।[13] काल का अन्य भेद है- परिणाम, काल, ऋतु, सप्ताह, मास, वर्ष आदि में स्वयं परिवर्तनशील है। ऋतुओं के स्वाभाविक षीत-उष्ण-वर्षा लक्षणों का हीनयोग (अयोग) मिथ्यायोग एवं अतियोग होना भी परिणाम के कारण होता है। काल के परिवर्तित होने से ऋतुओं में अनके प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं।[14]

जिस साधन के द्वारा विषयों का ग्रहण किया जाता है वह इन्द्रिय है। इन्द्र शब्द से घ प्रत्यय करके इन्द्रिय रूप बनता है। रूप का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से, गन्ध का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय से, रस का रसनेन्द्रिय से तथा स्पर्श का ग्रहण त्वगेन्द्रिय से होता है। आयुर्वेद में भौतिक इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। क्योंकि मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से उनके निश्चित अर्थों/विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) को ही ग्रहण करता है।[15]

इन्द्रियार्थ असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग भी कहलाता है। इन्द्रियों के विषय जब शरीर के प्रति हित करने वाले न हो तब असात्म्य होता है। अहितकर इन्द्रियों के विषयों का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग मिलकर रोगों को उत्पन्न करने वाले होते है। जैसे- श्रोत्रेन्द्रिय से अधिक जोर से बोले गये शब्दों को सुनना, त्वगेन्द्रिय से वस्तुओं का बार-बार स्पर्श होना, अधिक उष्ण अथवा अधिक शीत स्पर्श का होना, चक्षुरेन्द्रिय के द्वारा अधिक चमकने वाले किसी तरह के प्रकाश को या सूर्य को देखना, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का अधिक ग्रहण करना अतियोग कहलाता है। शब्दों को बिल्कुल न सुनना, वस्तुओं का त्वचा से बिल्कुल स्पर्श न होना या कम स्पर्श होना, किसी वस्तु के स्वरूप को बिल्कुल न देखना, कम या अधिक रसों का कममात्रा में सेवन करना, घ्राणेन्द्रिय द्वारा कोमल या बिल्कुल गन्ध को न सूंघना अयोग है। इसी प्रकार कठोर, भययुक्त, मन को प्रिय न लगने वाले शब्द, विपत्ति की सूचना देने वाले शब्द, कभी अधिक गर्म और कभी शीत स्पर्श होना, अत्यधिक नजदीक, अधिक दूर, भयानक दृश्य देखना, सड़न युक्त गन्ध को सूंघना, असमय होने वाली वर्षा के जल का एक स्थान पर इकट्ठा होने से उत्पन्न गन्ध सूंघना इन्द्रियों का विषयों के प्रति मिथ्यायोग है। इन अतियोग, आयोग एवं मिथ्यायोग के कारण इन्द्रियों में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे- सुनने की शक्ति कम हो जाना, त्वचा सम्बन्धित रोग होना, नेत्रों की रोशनी कमजोर हो जाती है।[16]

प्रवृत्तिस्तुखलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया, कर्म, यत्न: कार्यसमारम्भश्च।[17]

अर्थात् कार्य करने के लिये जो प्रयत्न या चेष्टा की जाती है, वह प्रवृत्ति है। इसी का अन्य नाम कर्म, क्रिया, यत्न, कार्य है। कर्म के भी अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग रोगों के कारण हैं। जैसे- अधिक बोलना, चिन्तन करना, अधिक शारीरिक व्यायाम करना, वाणी, मन तथा शरीर का अतियोग है। कम बोलना, शारीरिक

क्रियायें करना अयोग है। मलादि स्वाभाविक क्रियाओं को रोकना, दूषित पदार्थों का सेवन, अधिक धूप में बैठना, दूसरों की बातें करना, झूठ बोलना, कठोर वाणी का प्रयोग करना मिथ्यायोग है। इसके अतिरिक्त भय होना, दु:ख, लालच, मोह, अहंकार ये मन का मिथ्यायोग है। [18]

कर्म के अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग तथा मन, वचन एवं शरीर से किये गये अहितकर कार्यों को प्रज्ञापराध कहते हैं। मन में विकृति पैदा होने से उससे सम्बन्धित ज्ञान में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि में विकृति पैदा होने से वाणी में और फिर शारीरिक कार्यों में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये बुद्धि में सम्बन्ध होने के कारण इन कर्मों को प्रज्ञापराध कहते हैं।[19] मनुष्य की बुद्धि में विकार उत्पन्न होने के बाद जो भी कार्य करते है वह मिथ्या या असत्य ज्ञान के कारण होते हैं। यह बुद्धि का अपराध शारीरिक तथा मानसिक रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरूतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्।।[20]

अर्थात् धी (बुद्धि), धृति एवं स्मृति के भ्रष्ट हो जाने से मनुष्य जब अनुचित कार्य में प्रवृत्त हो जाता है तब शारीरिक तथा मानसिक रोगों को उत्पन्न करने वाले कारण को प्रज्ञापराध कहते हैं। बुद्धि के द्वारा उचित ज्ञान प्राप्त न होना, कभी सत्य कभी असत्य ज्ञान से अनुचित कार्यों में संलग्न रहना प्रज्ञापराध के कारण होता है। यह मन का विषय है। रज और तम मन के दोष है और जब मन इनसे युक्त होता है तब इन्द्रियों द्वारा किए गये सभी कार्य प्रज्ञापराध की श्रेणी में आते हैं। [21] यह तीन प्रकार का है- (1) धीभ्रंश (2) धृतिभ्रंश (3) स्मृतिभ्रंश।

धी का अर्थ है बुद्धि। बुद्धि में विकार होने से व्यक्ति नित्य वस्तु को अनित्य देखता है, अनित्य को नित्य, हित करने वाले रूपरसादि विषय एवं कर्म को अकल्याणकारी तथा कल्याणकारी न होने वाले विषयों को हितकारी समझता है। धृति मन को नियन्त्रित करती है। धृतिभ्रंश से अभिप्राय: धैर्यहीन होना, मन में चंचलता उत्पन्न होना, अनुचित कार्यों की ओर उन्मुख होना इत्यादि। स्मरणशक्ति नष्ट हो जाना स्मृतिभ्रंश है। स्मृति से ही मनुष्य शुभ-अशुभ ज्ञान करता है जिससे शुभकार्यों को करके सुख का अनुभव करता है। क्योंकि स्मरण करने वाली सभी वस्तुयें स्मृति पर आश्रित हैं।[22] धी, धृति, स्मृतिभ्रंष हो जाने पर मनुष्य सत्य और असत्य का भेद नहीं कर पाता जिसके कारण वह सांसारिक वस्तुओं के लालच में फंस जाता है तथा सुख व दु:ख प्राप्त करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रोगों की उत्पति का मुख्य कारण हेतुसूत्र के अन्तर्गत आने वाले काल, असात्म्येन्द्रियार्थ का संयोग, कर्म की सम्प्राप्ति, बुद्धि का नाश, धृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश है। इनके अतियोग अयोग एवं मिथ्यायोग होने से विभिन्न रोग होते हैं। काल, इन्द्रिय एवं कर्म का विषयों के साथ समयोग होने से प्राणी सुख प्राप्त कर सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेददर्शन, पृष्ठ 1
2. अथर्ववेद, 19-69-1-4
3. आयुर्वेद के प्रेरणास्त्रोत, पृष्ठ 233
4. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान 1-26
5. जल्पकल्पतरू, सूत्रस्थान 1-7
6. भिषक्कर्म-सिद्धि, प्रथमखण्ड, द्वितीय अध्याय, पृष्ठ 27
7. चरकसंहिता, प्रथमभाग, निदानस्थान पृष्ठ 1-7
8. वही, सूत्रस्थान, 1-54
9. सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान 6-3
10. चरकसंहिता, प्रथमभाग, विमानस्थान पृष्ठ 1-2-6
11. चरकसंहिता की दार्षनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 215
12. चरकसंहिता, प्रथम भाग, विमानस्थान पृष्ठ 8-125-126
13. वही, 8-127
14. माधवनिदानम् पृष्ठ 25
15. सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान 1-14-15
16. चरकसंहिता, प्रथम भाग, शारीरस्थान 1-118-126
17. वही, विमानस्थान, 8-77
18. वही, सूत्रस्थान, 11-39
19. संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थों में दार्षनिक तत्त्व, पृष्ठ 269
20. चरकसंहिता, प्रथम भाग, शारीरस्थान 1-102
21. वही, 1-109
22. वही, 1-99-101

ISSN 2278 - 0327

पत्रिका प्राप्त करने के सम्बन्ध में -

इस पत्रिका का प्रकाशन मुख्य रूप से संस्कृत वाङ्मय में अन्तर्निहित ज्ञान-विज्ञान को जनसामान्य तक पहुँचाना एवं अध्ययन काल में बिना किसी योजना के अध्ययन करते-करते अध्ययन के बाद अपने को अन्धकार में स्थित महसूस करने वाले युवाओं का आज तादात्म्य अत्यधिक है। अतः विद्यार्थियों को अध्ययनकाल में ही भविष्य चिन्तन के प्रति जागरुक करना, उन्हें मार्गदर्शन देना तथा उनके संघर्ष में अक्षरों के माध्यम से साथ देना। यदि आप इस पत्रिका को एक वर्ष तक प्राप्त करना चाहते हैं तो आप **SUB JP** लिखकर 9752529724, 9826665229 पर **SMS** करें। और **bharatiyajyotisham@gmail.com** पर भी सन्देश भेज सकते है। वार्षिक सदस्यता व विज्ञानपन हेतु सम्पर्क करें - 09752529724